TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176598
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H294.4/A53B Accession No. G.H270

Author आनन्दगिरि

Title 1929

This book should be returned on or before the date last marked below.

भगवद्गीता

भाषाटीका सहित

टीकाकार

श्रीमत्परमहंस परिव्राजक श्रीस्वामी
आनन्दगिरिजी महाराज

लखनऊ

केसरीदास सेठ द्वारा

नवलकिशोर प्रेस में छपकर प्रकाशित

सातवीं बार

सन १९२८ ई०

कृष्ण भगवान्

श्रीमद्भगवद्गीता

भाषाटीका सहित

मंगलाचरण

ॐ तत्सत् १ ॐ तत्सत् २ ॐ तत्सत् ३

ॐ श्रीसच्चिदानन्दस्वरूप परमअनूप श्रीमहाराजाधिराज श्रीस्वामी श्रीकृष्णचंद्रजी महाराज के चरणकमलों में वारंवार साष्टांग दण्डवत् नमस्कार करके श्रीमहाराजजी की कृपा और आज्ञा से परमानन्द की प्राप्ति के लिये अपनी बुद्धि के अनुसार ब्रह्मविद्या योगशास्त्र श्रीभगवद्गीता उपनिषदों का तात्पर्यार्थ हरद्वार मथुराजी के मध्यस्थ नगर-निवासियों की प्राकृत देशभाषा में निरूपण करता हूँ। कैसे हैं श्रीकृष्णचंद्र महाराज कि नित्यमुक्त पूरणब्रह्म सनातन उत्तम पुरुष शुद्धआत्मा स्वयंप्रकाश एकरस स्वतंत्र श्रेष्ठ परात्पर परमपुरुष परमधाम परमगति परमपद परमपवित्र परमआत्मा निराकार निर्विकार निरवयव निरंजन निर्गुण अद्वैत अरूप अखण्ड अज अमर अचल अच्युत अक्षर अव्यक्त अगोचर अप्रमेय अचिन्त्य अनन्त हैं, और भी विष्णु शिव शक्ति चिति देवादि अनन्त विशेषण हैं। फिर कैसे हैं श्रीमहाराज कि चरण-हस्त-नेत्रादि अवयव अनुपम महासुन्दर मनोहर हैं। जिनके पीताम्बरादि वस्त्र, धनुषादि शस्त्र, वंशी चकडोर मुकुट पंखमोर मकरवत् आकृतिवाले कलकुण्डल और रविवत् आकृतिवाले बाले हैं, जो श्वेत रक्त हरित मोतियों के सहित जटित पँचरंगी मणि मोतियों की माला और अनेक रंगवाले फूलों की माला, कड़े पैंजनी जड़ाऊ तगड़ी पहुँची अँगूठी छल्ले अंगदादि आभूषण धारण किये हैं। जिन्होंने बालों में अतर, मस्तक पर केसर का प्रातिपदिक चन्द्रवत् तिलक, जिसके बीच में सूर्यवत् बिन्दा चन्दन का लगा रक्खा है। जो किसी समय धूलि भस्म भी अखंड धारण करते हैं, पान इलायची चाबते रहते हैं, बाल किशोर तरुण अवस्था हैं, अकेले वा युगलरूप होकर वा स्वामी सखा बन कर वनों में और चित्र विचित्र मन्दिरों में लीला विहार करते रहते हैं, जिनकी मन्द मुसकान सहित बोली है। इस प्रकार अचिंत्य अलौकिक

आश्चर्य अगोचर अतर्क्य अप्रमेय अनन्त प्रभाव प्रभुता शक्ति बल वीर्य विद्यावान् हैं । जैसे अपने बल के अनुसार आकाश में पक्षी की गति है इसी प्रकार वेद शास्त्र ऋषीश्वर मुनीश्वर शेष शारदा सन्त महन्त महात्मा साधु भक्त पण्डित असंख्यात कल्पों में अब तक परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णचंद्र महाराज मेरे स्वामी के गुणों को पूर्वोक्त रीति से वर्णन करते चले आते हैं, तो भी पार नहीं पाते । परमानन्दस्वरूप होने से श्रीमहाराज सबको प्यारे लगते हैं । आनन्दस्वरूप से किसी का बैर नहीं, किसी को आनन्द की असूया करता हुआ सुना भी न होगा । जो आनन्द पदार्थ को परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णचंद्र महाराज से पृथक् एकगुण विलक्षण पदार्थ समझते हैं और श्रीमहाराज को आनंदजनक और आनंदगुणस्वरूपादि मान पदार्थवत् समझते हैं तो भी परमानंदस्वरूप श्रीकृष्णचंद्र महाराज से श्रेष्ठ और कोई पदार्थ आनन्दगुणक और आनन्दजनक नहीं है । श्री कीर्ति सत्य संतोष समता शमदमादि यह सब उसी भगवत् की विभूति हैं, जो कदाचित् वेद-शास्त्र मूर्तिमान् होकर, और शेष शारदा ऋषीश्वर मुनीश्वर और वर्तमान काल में जो सन्त महन्त पण्डित हैं, वे सब मुझसे कहें कि परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णचंद्र महाराज से पृथक् श्रेष्ठ स्थावर वा जंगम, सावयव वा निरवयव, प्रमेय वा अप्रमेय, कोई और पदार्थ है, प्रत्युत प्रत्यक्ष अनुभव भी करा दें, तो भी मुझको उस पदार्थ की चाह नहीं, और न मैं जिज्ञासा करता हूँ और न कुछ इस बात के निर्णय करने में मेरा किसी से वाक्यवाद है । जो श्रीमहाराज भी यही कहें, तो उनका कहना मेरे शिर माथे पर है, परन्तु मुझमें तो यह सामर्थ्य नहीं कि परमानन्दस्वरूप श्रीमहाराज से मैं पृथक् हो जाऊँ । जो श्रीमहाराज यह जानें कि किसी प्रकार हमसे पृथक् हो सकता है, तो श्रीमहाराज में अनन्त अचिंत्य शक्ति है; श्रीमहाराज ही मुझको अपने से पृथक् कर दें । यह मेरी प्रीति नाता सम्बन्ध ऐसा है कि जो श्रीमहाराज भी इसको कदाचित् पृथक् किया चाहें, तो भी नहीं हो सकता, फिर औरों की तो क्या सामर्थ्य है, क्योंकि यह सम्बन्ध लौकिक वैदिक नहीं कि जो शाब्द अनुमानादि प्रमाणों से जाता रहे । यह अनादि तादात्म्य सम्बन्ध है । जो श्रीमहाराज में सद्गुण समझकर मेरी प्रीति हुई हो, तो असद्गुण जानकर जाती रहे । मेरी प्रीति स्वाभाविकी सनातन है, प्रमाणजन्य नहीं । जो भगवद्भक्त श्रीमहाराज की भक्तवत्सलादि सद्गुणकर

लौकिक वैदिक विद्या में नागर राजराजेश्वर सुरेश्वर ईश्वर परमेश्वर महेश्वर परात्पर दुःखदरिद्रहर श्रीमान् समर्थवान शोभा सौन्दर्य की खानि सुकुमार परमउदार दाता जगत् का कर्ता भर्ता अन्तर्यामी जगत्स्वामी हिरण्यगर्भ विराट् विश्वरूपादि कहकर प्रत्यक्ष शाब्द अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध करते हैं, ऋषीश्वर मुनीश्वर शेष शारदादि को साक्षी देते हैं, सो वे कहें, समझें, इसी प्रकार प्रीति करें, उनको इतना सावकाश है, मुझको तो चर्चा करने का वा आपसे पृथक् पदार्थ में मन लगाने का न सावकाश है, न सामर्थ्य है। मेरी प्रार्थना तो श्रीमहाराज से यह है कि जो कुछ अब तक मुझसे मूर्खता हुई, सो तो हुई, और मेरे भले के लिये मेरे निमित्त अब तक जो कुछ आपको मेरी जान में विक्षेप हुआ, सो भी हुआ, परंतु अब श्रीमहाराज को मेरे निमित्त किंचिन्मात्र भी विक्षेप न हो। मुझको यह बड़ा आश्चर्य है कि वे कैसे आपके भक्त थे, जिन्होंने आपसे सहायता चाही। द्रौपदी गजेन्द्रादि की ऐसी क्या क्षति होती थी, जो अपने प्यारे को विक्षेप दिया। श्रीरामचन्द्र अवतार में आपने हनुमान्‌जी से यह कहा कि हे वीर! जो कुछ तुमने हमारी सहायता भक्ति करी, सो लोकों में प्रसिद्ध है। उसके प्रत्युपकार में यह वरदान देता हूँ कि ऐसा कोई काल न हो, जब मैं तुम्हारी सहायता करूँ। हे भगवन्, यही मैं भी चाहता हूँ, और लिखे देता हूँ कि ऐसा ही आपका चिन्तवन और निश्चय मेरे लिये भी हो। अब तक जो-जो अनुग्रह आपने मुझ पर किये, कहाँ तक कहूँ, अनन्त हैं। जो कुछ आपने मेरा उपकार और उद्धार अपनी तरफ़ देख कर किया, उसकी तो अवधि हो चुकी, और जो कुछ मुझको करना चाहिए था, उसका प्रारंभ भी न होने पाया। केवल अपनी राज्य करते हुए ही आपने सफल करके मुझको सनाथ और कृतार्थ कर दिया। जब कि यह आपकी महिमा है, तो मैं सिवाय आपके और किसको श्रेष्ठ उत्तम ब्रह्म परमेश्वर मानूँ और इस जगह कैमुतिकन्याय है कि प्रथम मैं सकाम संसार के दुःखों में दुःखी, अनेक जंजाल झगड़ों में फँसा हुआ था। एक समय विषयानन्द में मन को बहलाने के लिये मैंने आपकी लीलानुकरण और स्वरूपानुकरण को देखा, सो वह अनुकरण आपके स्वरूप और लीला के सामने लेशमात्र भी नहीं था और प्राकृत भाषा में आपके गुणों को सुना। अब तक सिवाय आपकी कृपा के नहीं जानता हूँ कि इसमें क्या कारण था, जो अपने-आप विना

यत्न के आपके गुण स्वरूप में प्रीति होने लगी और दुःखों की निवृत्ति और आनन्द का आविर्भाव होने लगा। तब तो मैंने केवल आपके चरित्र और गुणों के श्रवण को ही दुःखों का दूर करनेवाला और परमानन्द को प्राप्त करानेवाला समझा। फिर ऐसा हुआ कि वेद-शास्त्रों में और बड़े-बड़े महात्मा सन्त महन्त पण्डितों के मुख से आपकी बड़ाई सुनी, आपका बड़ा प्रभाव सुना। फिर मैंने वेद-गीतादि शास्त्र और सुपात्र सज्जन आपके भक्तों को प्राणों से भी प्यारा जानकर उनमें मन लगाया। शास्त्र और सद्गुरों की कृपा और आपके प्रथम अनुग्रह से मुझको यह ज्ञान हुआ कि आपही साक्षात् परमानन्द ज्ञानस्वरूप हैं, जिसके वास्ते सब लोग नाना प्रकार के यत्न करते हैं। आपके जानने में कुछ भी यत्न नहीं और न किसी साधन की इच्छा है, क्योंकि आप स्वयं प्रकाश ज्ञानस्वरूप हैं। आपको बुध्यादि जड़ पदार्थ कैसे प्रकाश कर सकते हैं। इस प्रकार अपने-आप, साक्षात् आप मुझको अनुभव अपरोक्ष हुए। अब मैं भला आपसे कैसे पृथक् हो सकता हूँ। तात्पर्य, जब गृहस्थ आश्रम में, संसार के अनेक झगड़ों में और शास्त्रार्थ जानने के लिये मत मतांतर के झगड़ों में लगा हुआ था तब तो सबको त्याग कर आपके सम्मुख हुआ, फिर अब आपसे कैसे जुदा हो सकता हूँ।

उपोद्‌घात

वक्तव्य अर्थ को मन में रखकर उसको संगति के लिये प्रथम और जो कथा कही जाती है, उसको उपोद्‌घात कथा कहते हैं। तात्पर्य, गीता और गीता पर टीका, जैसे और जिस वास्ते बनी, सो कथा लिखते हैं। बिना उपोद्‌घात कथा सुने गीता का तात्पर्यार्थ समझ में न आवेगा, सोई सुनो। श्रीमत्परमहंस परिव्राजक श्रीस्वामी मलूकगिरिजी महाराज इस सज्जन मनोरंजनी टीकाकार मुझ आनन्दगिरि के गुरुदेव हैं। मैं उनके चरण-कमलों का पूजनेवाला अनुचर शिष्य हूँ। श्रीपण्डितराज पण्डित श्रीमोहनलालजी महाराज, कुरुक्षेत्रान्तर्गत कपिस्थल नगर के रहनेवाले मेरे विद्यागुरु हैं। इन दोनों महामुनीश्वरों का सुयश कीर्ति और माहात्म्य वर्तमान काल के महात्मा सज्जन लोग सबही जानते हैं, मैं क्या लिखूँ। यह दोनों महाराज वर्तमान काल में साक्षात् श्रीवेदव्यास भगवान् और श्रीभगवत् पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य महाराज हैं। इन दोनों महाराजों और श्रीकृष्णचंद्र महाराज तथा श्रीस्वामी आत्मागिरिजी महाराज की कृपा सहाय से और अन्य महापुरुषों की सहाय से मैंने मुख्य बीबी बीरा ब्राह्मणी प्रसिद्ध बीबी भुनिया देवी के निमित्त यह भाषाटीका बनाई है। बीबी बीरा ने श्रीबीर बिहारीजी महाराज और श्रीवीरेश्वर महादेवजी महाराज का मन्दिर सिकंदराबाद में बनवाकर, संवत् १९२७ में विधिवत् प्रतिष्ठा कराके, जो कुछ द्रव्य उनके पास था, जिस जगह उनका स्वत्व था, जो उनके आश्रय था, समस्त श्रीमहाराज के समर्पण करके, उसी दिन विधिवत् सर्वस्व दान का संकल्प कर दिया। एक पुरानी धोती अपने पास रक्खी और कुछ अपने पास नहीं रक्खा। फिर श्रीवृन्दावन में जाकर वास किया। पहले भी पुष्करादि बहुत तीर्थों का सेवन किया था। श्रीजगन्नाथस्वामी श्रीकेदारनाथ बदरीनारायण स्वामी श्रीनाथजी के दर्शन किये। ऐसे पुण्य करने से उनका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और भगवत्तत्त्व जानने की उनकी इच्छा हुई। सुखपूर्वक ब्रह्मतत्त्व जानने के लिये मुख्य बीबी बीरा ब्राह्मणी के निमित्त यह टीका बनाई गई है। विशेष करके शंकरभाष्य आनन्दगिरिजी की टीकानुसार मैंने अर्थ लिखा है। किसी जगह श्रीधरी टीकानुसार, किसी जगह महापुरुषों के मुखारविन्द का श्रवण किया हुआ अर्थ, और किसी जगह अपनी बुद्धि के अनुसार भी

लिखा है। श्रीकृष्णचंद्र का अर्जुन से जैसे संवाद हुआ, प्रथम सो सुनना अवश्य है। इस वास्ते वह प्रसंग लिखते हैं।

अर्जुन श्रीकृष्णचंद्र महाराजजी के परमभक्त थे। अर्जुन को ब्रह्मज्ञान नहीं था, इस कारण उनको युद्ध के प्रारंभ में शोक-मोह हो गया था। श्रीमहाराज उस समय अर्जुन के पास थे, जान गये कि अज्ञान से इसको यह शोक-मोह हुआ है, ब्रह्मज्ञान सुनाने से दूर होगा। यह विचार कर, परमकरुणा की खानि श्रीभगवान् ने समस्त वेदों का सार ब्रह्मज्ञान साधनों के सहित उपदेश कर, स्वधर्म में स्थित कर दिया; क्योंकि विना स्वधर्म का अनुष्ठान किये, और विना अंतरङ्ग उपासना किये, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। ऐसे विक्षेप के समय श्रीमहाराज ने जो यह ब्रह्मज्ञान अर्जुन को उपदेश किया, इसका तात्पर्य यह है कि कोई वक्ता तो ऐसी रीति से कथा कहते हैं कि जब श्रोता का चित्त भले प्रकार एकाग्र हो तब वक्ता का तात्पर्य समझ में आता है, और किसी वक्ता की कथा विक्षेप चित्त को भी एकाग्र कर देती है। इसके सिवाय महत् पुरुषों के वाक्य में सामर्थ्य होती है। श्रीमहाराज ने अर्जुन को ऐसी रीति से उपदेश किया कि विक्षिप्त चित्त भी एकाग्र हो जावे। महात्मा सर्वज्ञ जन देशकाल वस्तु के सहित अधिकार समझकर कहते हैं। वेदों में जो विस्तारपूर्वक ब्रह्मविद्या का निरूपण है, वहाँ देशकालवस्तु के सहित अधिकार देखना चाहिए, और गीता में संक्षेप करके जो ब्रह्मज्ञान निरूपण किया है, वहाँ भी देशकालवस्तु के सहित अधिकार देखना योग्य है। सत्ययुग द्वापर त्रेताकाल में ब्राह्मण और राजा वन में वास करके, तप से पापों का नाश करके ब्रह्मविद्या का विचार करते थे। अवस्था उनकी बहुत होती थी। रोगी कम होते थे। उनके वास्ते वेदों में विस्तार के सहित ब्रह्मविद्या का उपदेश युक्त है। दूसरे यह कि वह उपदेश समष्टि के वास्ते है, किसी एक अपने प्यारे के वास्ते नहीं कि जो विचार-विचार अर्थ लिखा जावे। यह उपदेश एक अपने प्यारे सखा परम भक्त के वास्ते है, इस हेतु से श्रीमहाराज ने बहुत विचार के सहित यह गीता ग्रंथ कहा है। इसके सिवाय श्रीमहाराज ने यह भी समझा कि अर्जुन से ऐसी रीति के साथ कहना चाहिए कि जो शीघ्र अर्जुन की समझ में आ जावे, नहीं तो प्रथम हँसी हमारी है, क्योंकि "वक्तरेव हि तज्जाड्यं यत्र श्रोता न बुद्ध्यते" तात्पर्य, कहनेवाले की भाषा अच्छी नहीं कि जो श्रोता नहीं समझता है।

अब भले प्रकार विचार करना योग्य है कि यह गीताग्रंथ कैसा उत्तम है, जिसके वक्ता श्रीकृष्णचंद्र महाराज पूरणब्रह्म, श्रोता अर्जुन, और कर्ता वेदव्यासजी हैं। इन तीनों की महिमा जगत् में प्रसिद्ध है। परम करुणाकर श्रीवेदव्यास नागर ने यह विचारकर कि विशेष करके कलियुग में मनुष्य मन्दबुद्धि आलसी कुतर्की मन्दभाग्य अल्पायु और रोगी होंगे, खेती बनिज नौकरी भिक्षा इन चार प्रकार की आजीविका ही में दिन-रात्रि खेवेंगे, उनके उद्धार के वास्ते भी यत्न कर देना योग्य है; क्योंकि कलियुग में वेदों का पढ़ना-सुनना तो पृथक् रहा, वेदों की पोथी प्रमाण देने के वास्ते भी मिलनी कठिन होगी। जो अर्थ जिसके मन में आवेगा, संस्कृत वा भाषा की पोथी बनाकर कह दिया करेगा कि यह ग्रंथ अनादि है, वा वेदों के अनुसार है। उसी रास्ते पर मूर्ख अनजान चलने लगेंगे। वह समय अब वर्त्तमान हो रहा है। असंख्यात नाममात्र के पण्डितों ने वेद की पोथी देखी भी नहीं, और बात-बात में वेदों का प्रमाण देकर बोलते हैं, प्रत्युत बहुत लोक वेदों से भी परे की बात कहते हैं। जो झगड़े उपाधिजन्य बितण्डा जीवों के आपस में परमार्थ का निर्णय करने के लिये फैल रहे हैं, सो प्रसिद्ध हैं। एक जीव का एक जानी शत्रु हो रहा है। अनेक पुरुषों की इन झगड़ों में जान जाती रही और परमार्थ की जगह अपरमार्थ फैल गया।

ऐसी व्यवस्था समझकर व्यासजी ने श्रद्धावानों के लिये उसी अर्थ को जो श्रीभगवान ने युद्ध के प्रारंभ समय अर्जुन को उपदेश किया था—सबसे श्रेष्ठ मानकर, युक्ति के साथ सातसौ ७०० श्लोकों में लिखकर, उन भगवद्गीता मंत्रों का नाम श्रीभगवद्गीता उपनिषद् रक्खा। अठारह अध्याय किये हर एक अध्याय के अन्त में 'श्रीभगवद्गीता उपनिषद् ब्रह्मविद्या योगशास्त्र' लिखा। तात्पर्य, यह ग्रंथ योगशास्त्र है, भोगशास्त्र नहीं, और इसमें ब्रह्म-विद्या का निरूपण है, कर्म उपासना योग इस ब्रह्मज्ञान का साधन कहा है। यह श्रीभगवान के कहे हुए उपनिषद् हैं। इस ग्रंथ के सब श्लोक मंत्र हैं। रक्षा के लिये इस ग्रंथ को महाभारत में जमाया। उन सातसौ मंत्रों में बहुत मंत्र तो साक्षात् श्रीकृष्णचंद्र महाराजजी के मुखारविन्द से प्रकट हुए हैं और कुछ श्लोक व्यासजी के बनाये हुए हैं। इस गीता के श्लोकों का चौथा भाग और अर्द्धभाग भी मंत्र है, इस हेतु से मंत्रशास्त्रवाले इस गीता को माला-मंत्र कहते हैं और मंत्रशास्त्र की विधिपूर्वक पाठ करते हैं। जो सकाम पाठ

करते हैं, उनको तो मनवांछित फल होता है और जो निष्काम पाठ करते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर ब्रह्मज्ञान द्वारा उनको परमानन्द की प्राप्ति होती है। गीतामाहात्म्य के ग्रंथ बहुत हैं, उनमें एक-एक अध्याय के श्रवण पाठ करने का माहात्म्य, और अर्द्ध अर्धार्द्ध श्लोकों के पढ़ने-सुनने का माहात्म्य जुदा-जुदा इतिहासों के सहित लिखा है। उन ग्रंथों से प्रतीत होता है कि असंख्यात पापी अंत्यज दुराचारी प्रत्युत पशु-पक्षी, भूत प्रेत राक्षसादि भी गीताजी के एक-एक अध्याय के आधे-आधे श्लोकों को राक्षसों के मुख से अनजान में अश्रद्धापूर्वक श्रवण करके, और गीतापाठी की चिता के धूम तथा उनके देह की भस्म का स्पर्श करके, और उसके अस्थिसम्बन्धी जल का स्पर्श करके अन्तकाल में परमपद को प्राप्त हुए हैं। यहाँ कैमुतिकन्याय है कि जो अधिकारी विधि और श्रद्धा सहित श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठों से पढ़ते-सुनते हैं, वे मुक्त हो जावें, तो इसमें क्या कहना है। जिसको इतिहासों के सहित गीतामाहात्म्य श्रवण करने की इच्छा हो, तो पद्मपुराण में पृथक्-पृथक् अठारह अध्यायों के अठारह माहात्म्य हैं। लक्ष्मीनारायण का और सदाशिव-पार्वतीजी का संवाद है। स्कन्दादि पुराणों में भी गीतामाहात्म्य है। इसके सिवाय प्रत्यक्ष प्रमाण में किसी और प्रमाण की कुछ इच्छा नहीं होती। वर्त्तमान काल में प्रत्यक्ष देख लो कि अनेक पुरुष केवल गीताजी के प्रताप से महात्मा सन्त साधु सज्जन हो गये हैं।

इस गीता पर प्रसिद्ध बावन टीकाएँ, और दो भाष्य हैं। एक भाष्य तो हनुमानजी का बनाया हुआ और दूसरा श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत् शङ्कराचार्यजी का बनाया हुआ है, जिस पर श्रीस्वामी आनन्दगिरिजी की टीका है। हनुमान् भाष्य पर श्रीमहाराज पण्डितराज मोहनलालजी की टीका है। श्रीसंप्रदाय, माधवी संप्रदाय और निम्बार्क संप्रदायवाले भी अपने आचार्यों के किये हुए भाष्य कहते हैं, उन भाष्यों को उनकी संप्रदायवाले सुनते हैं। इस प्रकार बावन टीका से सिवाय हैं, कम नहीं। देशभाषा और यावनी-भाषा में भी टीकाएँ हैं इस ग्रंथ में किसी प्रकार का संशय नहीं है। जैसे कोई मनुष्यकृत श्लोकों को श्रुति-स्मृति बता देता है, कोई श्रुति-स्मृति को मनुष्यकृत बता देते हैं, श्रीमद्भागवत को कोई कहते हैं कि यही व्यासकृत है और कोई कहते हैं कि भगवति-भागवत व्यासकृत है, यह मनुष्यकृत है। किन्तु गीता ऐसा ग्रंथ नहीं है, इस ग्रंथ को अन्य द्वीपों के

निवासी भी सब ग्रंथों से श्रेष्ठ बताते हैं । इसके सिवाय बड़े-बड़े पण्डित साधु विरक्त षट्शास्त्रों के पढ़े हुए, जो राजलक्ष्मी पुत्रादि पदार्थों को त्यागकर, ब्रह्मलोकादि को तृण की बराबर समझकर वनवास करते हैं वे भी एक पुस्तक गीताजी की अवश्य अपने पास रखते हैं और सदा पाठ करते रहते हैं। तात्पर्य, जितनी स्तुति महिमा श्रीभगवद्गीताजी की लिखी जावे वह कम-से-भी कम है। जिसकी परमानन्द की इच्छा हो वह श्रद्धा-विधि सहित श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठों से गीता पढ़े सुने और नित्य पाठ करे।

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इस श्लोक से पूर्व जो नव श्लोक अंग-करन्यासादि के मंत्र हैं वे सातसौ श्लोकों की संख्या से सिवाय हैं। उनके सहित पाठ करना योग्य है। 'धर्मक्षेत्रे' यहाँ से लेकर दूसरे अध्याय के दश श्लोक तक सतावन श्लोक कृष्णार्जुन संवाद की सङ्गति के लिये हैं। फिर समस्त गीता में मुक्ति का साक्षात् कारण केवल ज्ञाननिष्ठा का वर्णन और ज्ञाननिष्ठा का उपाय कर्मनिष्ठा का निरूपण है। समस्त गीताशास्त्र में यह दो निष्ठा हैं। उपासना का कर्मनिष्ठा में ही अन्तर्भाव है। प्रथम के छः अध्यायों में कर्मकाण्ड का वर्णन है, सातवें अध्याय से बारह अध्याय तक उपासना का वर्णन है और तेरह से अठारह तक ज्ञाननिष्ठा का निरूपण है। जैसे वेदों में कर्म, उपासना और ज्ञान, तीन काण्ड हैं वैसे ही गीताजी में तीन काण्ड हैं। ये तीनों काण्ड परस्पर सापेक्ष हैं, अर्थात् स्वतंत्र ये तीनों मुक्ति के कारण नहीं हैं। कर्म तो उपासना और ज्ञान की अपेक्षा रखता है, उपासना प्रथम कर्म की और फिर ज्ञान की अपेक्षा रखता है तथा ज्ञान प्रथम कर्म और उपासना दोनों की अपेक्षा रखता है। कर्म करने से अन्तः-करण शुद्ध होता है, उपासना से चित्त एकाग्र होता है, फिर ज्ञान द्वारा मुक्ति होती है। इस प्रकार ये तीनों काण्ड परस्पर सापेक्ष हैं। इसको क्रमसमुच्चय कहते हैं। इसको समसमुच्चय न समझना चाहिए, क्योंकि एक काल में एक पुरुष से कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा, दोनों का अनुष्ठान नहीं हो सका। इनका स्थित-गतिवत् विरोध है। कर्ता भी और अकर्ता भी एक काल में कैसे समझा जावे। तात्पर्य यह है कि प्रथम कर्मनिष्ठा मुख्य रहती है और ज्ञाननिष्ठा गौण। जब कर्मनिष्ठा परिपक्व हो जाती है तब ज्ञाननिष्ठा मुख्य हो जाती है और कर्मनिष्ठा गौण। फिर ज्ञाननिष्ठा परिपक्व होकर समस्त दुःखों को समूल नष्ट करके परमानन्द को प्राप्त कर देती है। संत महंत

महात्मा और वेद-शास्त्रों का यही सिद्धान्त है। यह नियम है कि महावाक्यार्थ ज्ञान के बिना मुक्ति कभी नहीं होती, और महावाक्यार्थ का ज्ञान तब होता है जब प्रथम पदार्थ का ज्ञान हो जावे। महावाक्य में तीन पद हैं—तत् १, त्वम् २, असि ३। तत् और त्वम्, इन पदों का अर्थ वाच्य और लक्ष्यभेद से दो-दो प्रकार के हैं। श्रीभगवद्गीता में विचारना चाहिए कि महावाक्यार्थ किस प्रकार और कहाँ निरूपण किया गया है। सो सुनो, समस्त गीता में महावाक्यार्थ ही श्रीमहाराज ने निरूपण किया है। 'तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्मतत्त्यागवर्त्मना। त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते ॥'

अर्थ--प्रथमकाण्ड में कर्म करना, उसके फल को न चाहना, संग-आशक्ति-रहित कर्म करना, इस मार्ग से त्वम्पद का अर्थ दो प्रकार का--वाच्य और लक्ष्य--निरूपण किया है। शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप जीव का त्वम्पद का लक्ष्यार्थ है, और अविद्या में तथा अविद्या के कार्य--गुण कर्म फल में, जो सक्त, सो त्वम्पद का वाच्यार्थ है। 'द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना। भगवान् परमानन्दस्तत्पदार्थो विधीयते ॥' अर्थ--दूसरे काण्ड में भक्तिनिष्ठा मार्ग से तत्पद का अर्थ निरूपण किया, अर्थात् श्रीभगवान् को परमानन्दस्वरूपादिमान् जो कहा, सो तो तत्पद का लक्ष्यार्थ है और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कर्ता हर्तादि स्वरूप भगवत् का तत्पद का वाच्यार्थ है। 'तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थो वर्णितः स्फुटः। एवमप्यत्र काण्डानां सम्बन्धोऽस्ति परस्परम् ॥' अर्थ—तीसरे काण्ड में दोनों पदों की एकता का लक्ष्यार्थ में निरूपण किया है। 'सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझको ही जान' इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट महावाक्यार्थ निरूपण किया। इस प्रकार तीनों कालों का परस्पर सम्बन्ध है।

अथ संकेत लिख्यते

इस टीका में जो संकेत हैं, उनको प्रथम कण्ठ कर लेना योग्य है, क्योंकि हर एक जगह काम पड़ेगा, सोई लिखते हैं।

सि०—यह सिवाय का संकेत है। जो अर्थ मूल पद से सिवाय, श्लोकार्थ के बीच में लिखा है वह इस * फूल के संकेत पर्यन्त होगा।

पू०—यह संकेत पूर्ण का है। पद के पूर्ण करने के लिये श्लोकों में चकार-एवकारादि प्रायशः लिखे होते हैं। किसी जगह उनका अर्थ भी देते हैं। जिस जगह पद पूर्णार्थ चकारादि होंगे वहाँ अर्थ में 'पू' यह संकेत लिखा होगा।

पढ़ने के समय 'सि० पू० आदि' संकेतों को मन में ही समझ लेना, उच्चारण नहीं करना इन संकेतों को छोड़कर शेष का उच्चारण करना योग्य है।

देश-भाषा की स्तुति

प्रथम देश-भाषा सुनकर मुझको बोध हुआ है, इस हेतु से मुझको देश-भाषा प्रिय लगती है। मनुष्यलोक में देव-भाषा तो कोई-कोई बोलते-समझते हैं, प्रायशः सब प्राकृत देश-भाषा ही बोलते और समझते हैं। इस लोक में यह चाल है कि जो देव-भाषा के ग्रंथों को पढ़ाते सुनाते हैं तो अर्थ उनका देश-भाषा ही में समझाते हैं, और प्रसिद्ध है कि असंख्यात सन्त महात्मा साधु देश-भाषा में ही भगवन् के गुणानुवाद सुनकर भगवत् को प्राप्त हुए तथा असंख्यात जन वर्तमान काल में भगवत् के सम्मुख हैं। मैं नहीं जानता कि कोई-कोई मूर्ख भाषा की निन्दा क्यों करते हैं, और अपनी हँसी कराकर क्यों पाप के भागी होते हैं। हँसी तो उनकी ऐसी होती है कि एक आदमी देव-भाषा में कथा बाँचता हुआ देश-भाषा में अर्थ समझाता था। वह वक्ता देश-भाषा में बोला कि देश-भाषा का प्रमाण नहीं है, उसका पढ़ना-सुनना निष्फल है। यह सुनकर समझनेवाले श्रोता सब उठ खड़े हुए और देश-भाषा में कहने लगे कि वक्ता तो बड़ा ही मूर्ख है। वक्ता को क्रोध आ गया, सुननेवालों को नास्तिक मूर्ख शूद्र वर्णसङ्कर कहकर देश-भाषा में गाली देने लगा। सुननेवालों ने वक्ता से कहा कि सुनो महाराज, हम लोगों को तो देश-भाषा का प्रमाण सफल है, गालियों का फल दुःख हमको होता है और तुम तो देश-भाषा का प्रमाण नहीं मानते, इससे तुम्हारे लिये निष्फल है, फिर तुमने हमारे कहने का क्यों बुरा माना। हम लोग तो तेरे कहने में वदतो व्याघात दोष समझकर, और तुझको कृतघ्नी समझकर उठ खड़े हुए। जो भाषा बोलता है, उसी की बुराई करता है। जिस देश-भाषा की कृपा से तेरे अनेक व्यवहार सिद्ध होते हैं, उसके उपकार को नहीं मानता, प्रत्युत असूया करता है। यह सुनकर वह वक्ता चुप हो गया। फिर सब श्रोता उसकी हँसी करते हुए चले गये, अकेले वक्ताजी बकते रहे। पाप का भागी ऐसे होता है कि जिसे देव भाषा समझने की तो सामर्थ्य नहीं, उसको देश-भाषा से भी हटा देना कितना बड़ा अनर्थ है। इसमें

सन्देह नहीं कि देव-भाषा मुमुक्षु के लिये अत्यंत हितकारी है, परंतु मन्द-मति क्या करे । प्रायशः चारों वर्ण जो अपने धर्म इष्टदेव मत से अनजान हो रहे हैं और अन्य द्वीपनिवासियों के पंजे में फंसते चले जाते हैं, इसमें यही हेतु है कि वे लोग तो सब अपनी देश-भाषा में इष्ट उपासना को सुन-पढ़कर शीघ्र समझ लेते हैं और यह वर्णाश्रमी देश-भाषा को निष्फल अप्रमाण मूर्खों से सुनकर पशुवत् बन रहते हैं । तात्पर्य मेरा यह है कि जिसको देव-भाषा के पढ़ने-सुनने-समझने की सामर्थ्य है, वह तो भूलकर भी देश-भाषा की पोथियों को न पढ़े, न सुने, और जो असमर्थ हैं, वे देश-भाषा को परम हितकारी समझें । देश-भाषा में सुनी हुई निन्दा-स्तुति तो फलदाता है, फिर उस भाषा में सुने हुए भगवत् के गुण सफल क्यों न होंगे । तात्पर्य, देश-भाषा का प्रमाण निस्सन्देह सफल है । अब देश-भाषा में परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी के गुणों को सावधान होकर सुनो । जो पुरुष ब्रह्म-विद्या की प्रक्रिया को न जानता हो, वह प्रथम ब्रह्मविद्या की प्रक्रिया को याद करे । तब गीता का तात्पर्य सिद्धान्त समझ में आवेगा, क्योंकि ब्रह्मविद्या वेदान्त शास्त्र में गीता सिद्धान्त ग्रंथ है । प्रक्रिया के प्रकरण पृथक् हैं । इस सज्जनमनोरंजनी टीका से पृथक् एक ब्रह्मविद्या की प्रक्रिया भी मैंने देश-भाषा में वर्णन करी है, जिसका नाम आनन्दामृतवर्षिणी है । उसको इस टीका का एक अंग, एक देश अथवा पूर्वभाग समझना योग्य है । जब कि आनन्दामृतवर्षिणी प्रक्रिया इस टीका का पूर्वभाग है, इसी हेतु से मैंने वेदान्त संज्ञा का इस टीका में निरूपण नहीं किया । उसमें केवल सिद्धान्त पदार्थों का निरूपण है, इसी हेतु से सज्जन विद्वान् साधु महात्मा पण्डितों से इसमें कुछ प्रार्थना नहीं करी और न सम्बन्ध अधिकारी इत्यादिकों का लक्षण कहा है । आनन्दामृतवर्षिणी में अधिकारी सम्बन्धादिकों का लक्षण लिख चुका हूँ । सज्जन साधु अपनी सज्जनता साधुता की तरफ देखकर बिगड़ी अशुद्ध कविता को भी शुद्ध कर देते हैं और दुष्ट शुद्ध में भी दोष निकाला करते हैं । इन दोनों का यह स्वभाव अनादि अभङ्ग है । सज्जन तो यह समझते हैं कि एक पुरुष से जो कुछ प्रयत्न हो सका, वह उसने किया, हमको सुधार देना चाहिए । निर्दोष कविता सर्वज्ञ जनों की ही होती है, असर्वज्ञ के कहने में जो दोष प्रतीत होता हो, उसको ग्रहण न करना चाहिए । दो-एक दोष प्रतीत होने से उसके

समस्त परिश्रम को व्यर्थ न करना चाहिए। इसके सिवाय यह भी समझना चाहिए कि मुझको जो यह दोष प्रतीत होता है, तो मैं सर्वज्ञ हूँ, वा अल्पज्ञ हूँ। सर्वज्ञ गुण दोषों का निर्णय करे, तब तो सबको प्रमाण होता है, नहीं तो निन्दक दुष्ट कहलाता है, क्योंकि गुण को गुण और दोष को दोष सर्वज्ञ ही ठीक-ठीक कह सक्ता है। जो मूर्ख दोष निकालते हैं, उनके बकने को मूर्ख ही मानते हैं। सज्जन हंस की सदृश सारग्राही होते हैं। इसी हेतु से निन्दक दुष्टों से प्रार्थना करनी व्यर्थ है। सज्जनों के चरणों को नमस्कार करके यह सज्जनमनोरंजनी श्रीभगवद्गीता उपनिषदों की टीका अर्थात् श्रेष्ठ जनों के मन को रंजन (आनन्द) देनेवाली टीका का प्रारंभ करता हूँ।

ॐ १ अस्य २ श्रीभगवद्गीता मालामंत्रस्य ३ श्रीभगवान् ४ वेदव्यास ऋषिः ५ अनुष्टुप्छन्दः ६ श्रीकृष्णः ७ परमात्मा ८ देवता ९। अर्थ—यह नाम परमात्मा का है, मङ्गलाचरण के लिये प्रथम इसका उच्चारण करते हैं १ इस २ श्रीभगवद्गीता मालामंत्र के ३ श्रीभगवान वेदव्यास ऋषि ५ सि० हैं और इस मालामंत्र का अनुष्टुप् छन्द ६ सि० है और इस मंत्र के श्रीकृष्ण ७ परमात्मा ८ देवता ९ सि० हैं।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। इति बीजम्। यह मंत्र है, अर्थ इसका आगे लिखा जावेगा। यह मंत्र बीज है, इस मालामंत्र का सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। इति शक्तिः। अर्थ—यह मंत्र शक्ति है। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच। इति कीलकम्। अर्थ—यह मंत्र कीलक है। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः। अर्थ—यह मंत्र पढ़कर दोनों हाथ की तर्जनी अँगुली से दोनों हाथ के अँगूठों का स्पर्श करते हैं। अँगूठे के पास जो अँगुली है उसका नाम तर्जनी है। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः। इति तर्जनीभ्यां नमः। अर्थ—यह मंत्र पढ़कर दोनों अँगूठों से दोनों तर्जनी अँगुलियों का स्पर्श करते हैं। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। इति मध्यमाभ्यां नमः। अर्थ—दोनों अँगूठों से दोनों मध्यमा का स्पर्श करते हैं। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। इत्यनामिकाभ्यां नमः। अर्थ—दोनों अनामिका का स्पर्श करते हैं। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः। अर्थ—दोनों कनिष्ठिका का स्पर्श करते हैं। नानाविधानि दिव्यानि नाना-

वर्णाकृतीनि च । इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । अर्थ—यह मंत्र पढ़कर प्रथम दाहने हाथ के नीचे बायाँ हाथ रखते हैं, फिर बाँएँ हाथ के नीचे दाहना हाथ रखते हैं । यह सब विधि गुरु के बतलाने से अच्छी तरह आ जाती है । यहाँ तक करन्यास हुआ । अब अंगन्यास के मंत्र लिखते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणीति हृदयाय नमः अर्थ—यह मंत्र पढ़कर पाँचों अँगुलियों से हृदय का स्पर्श करते हैं । न चैनं क्लेदयन्त्याप इति शिरसे स्वाहा । अर्थ—यह मंत्र पढ़कर शिर का स्पर्श करते हैं । अच्छेद्यो-ऽयमदाह्योऽयमिति शिखायै वषट् । अर्थ— यह मंत्र पढ़कर चोटी का स्पर्श करते है । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरिति कवचाय हुम् । अर्थ—यह मंत्र पढ़कर दाहने हाथ से बाम खवे का और वाम हाथ से दाहने खवे का स्पर्श करते हैं । पश्य मे पार्थ रूपाणीति नेत्रत्रयाय वौषट् । अर्थ—दाहने हाथ से दोनों नेत्रों को छूते हैं । नानाविधानि दिव्या-नीत्यस्त्राय फट् । अर्थ—यह मंत्र पढ़कर दाहने हाथ की तर्जनी और मध्यमा दो अँगुली वाम हाथ की हथेली पर मारते हैं । यहाँ तक अंग-न्यास हुआ ।

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः इति संकल्पः । अर्थ—यह संकल्प पढ़-कर चिंतवन करे कि यह पाठ श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी के प्रसन्न होने के लिये करता हूँ ।

अथ ध्यानम् । अर्थ—संकल्प के पीछे श्रीकृष्णचंद्र महाराजजी का ध्यान करना योग्य है । ध्यान—कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत ज्योतीश्वर तीर्थ पर दोनों सेनाओं के बीच में रथ पर सवार इस स्वरूप से श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् अर्जुन को ब्रह्मज्ञान सुना रहे हैं कि चरणकमलों के अँगूठों में सोने के छल्ले पहिरे हैं । चरणों में कड़े सोने के, पैंजनी चाँदी-सोने की, जिसमें पँचरंगी मणि जड़ी हुई हैं । पीली धोती, जिसमें रक्त किनारी लगी हुई है, जिस पर अनेक प्रकार और नाना रंगों के बेल बूटे बने हुए हैं । जिसकी चमक से चंद्र-सूर्य की ज्योति फीकी प्रतीत होती है, पहिरे हैं । पँचरंगा बेलदार अँगरखा जिसमें कलाबत्तून और गोटा-पट्टा जगह-जगह लगा है, नीचे उसके रक्त कुरता पहिरे हैं । गले में पँचरंगी मणि-मोतियों की माला और नाना रंग के फूलों की माला पहिरे हैं । हाथों में सोने-चाँदी के छल्ले अँगूठी कड़े पहुँची

बाजूबन्द अड़ाऊ पहिरे हैं । गुलेनारी डुपट्टे से कमर कसी है । घूँघरवाले बालों में अतर फुलेल पड़ा हुआ है । शिर में बसन्ती डुपट्टा किनारीदार बँधा हुआ है । कानों में तीन तीन बाले रक्त-श्वेत-हरित मोतियों के सहित लटक रहे हैं । एक हाथ में तो छड़ी शोभित और दूसरे में ज्ञानमुद्रा बनाये हुए हैं । चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था प्रतीत होती है । मन्द मुसकान सहित अर्जुन को समझाते हैं । जिनके बिजली की तरह दाँतों की चमक प्रातःकाल के सूर्यवत्, होठों पर लाली कमलवत् और बड़े-बड़े नेत्र हैं, जिनमें सुरमा लगा हुआ है, रक्त डोरे खिंचे हुए हैं । भरा हुआ चेहरा, चौड़ी उभरी हुई छाती है । नील कमल, नील-नीरधर, नील-मणिवत् जिनका रंग है, जिनमें उत्कट लाली झलक रही है । जिन्होंने प्रसन्नमुख मस्तक पर प्रातिपदिक चन्द्रवत् तिलक धारण कर रक्खा है, ऐसे श्रीकृष्णचन्द्र महाराज मेरे मन में वास करो ।

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारते ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वा मनसा दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ १ ॥

अन्वय—अम्ब १ भगवद्गीते २ त्वा ३ मनसा ४ दधामि ५ नारायणेन ६ भगवता ७ स्वयम् ८ पार्थाय ९ प्रतिबोधितां १० महाभारते ११ मध्ये १२ पुराणमुनिना १३ व्यासेन १४ ग्रथितां १५ अद्वैतामृतवर्षिणीम् १६ भगवतीम् १७ अष्टादशाध्यायिनीम् १८ भवद्वेषिणीम् १९ ।

अर्थ—हे अम्ब १ हे भगवद्गीते २ तुमको ३ मन करके अर्थात् मन से ४ धारण करता हूँ ५ सि० हृदय में कैसी हो तुम कि जिसे नारायण भगवान् ने ६ । ७ स्वयं ८ अर्जुन से ९ कही १० सि० और जिसे महाभारत के मध्य में ११ । १२ प्राचीन मुनि व्यास ने १३ । १४ गूँथी १५ तात्पर्य, व्यासजी ने महाभारत के छठे पर्व (भीष्म पर्व) में श्रीभगवद्गीता ब्रह्मविद्या कही है १५ सि० फिर कैसी हो तुम हे भगवद्गीते, अद्वैत अमृत वर्षता है जिसमें १६ सि० पुनः, भगवती १७ सि० पुनः, अठारह अध्याय हैं जिसमें १८ सि० पुनः, संसार से द्वेष है जिसका १९ सि० ऐसी तुम हो । तात्पर्य—भगवान् ने जो कहे उपनिषद् उनको भगवद्गीता उपनिषद् कहते हैं । व्याकरण की रीति से सम्बोधन में ऐसा बोलते हैं कि हे भगवद्गीते,

बहुत जगह इसी प्रकार अक्षरों का बदल हो जाता है, जैसे माता का है मातः १ । २ पूर्णब्रह्म का नाम नारायण है, यह भगवान का विशेषण है ६ ऐश्वर्य वीर्य यश लक्ष्मी ज्ञान वैराग्य, इन छः का नाम भग है, जिसमें यह सब हों, सो भगवान, और स्त्री हो, तो भगवती, अथवा उत्पत्ति नाश गति अगति विद्या अविद्या इन छः को जो जानता है, सो भगवान्, स्त्री हो तो भगवती । यह ग्रंथ पूर्णब्रह्म भगवान् का कहा हुआ है, इस हेतु से बहुत प्रमाण हैं ७ भेदवादी जीव ब्रह्म के भेद को सिद्धान्त कहते हैं, उसका खण्डन करने के लिये यह विशेषण है १६ उन्नीसवें पद का यह अर्थ प्रतीत होता है कि गीता और संसार का वैर है, परन्तु यह प्रतीत नहीं होता था कि इन दोनों में बलवान् कौन है, इस वास्ते यह विशेषण है १७ तात्पर्य इस श्लोक का यह है कि गीताजी का पढ़नेवाला, पाठ करनेवाला प्रथम गीताजी का ध्यान और स्तुति करता है कि हे गीते, तुमको साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन से कहा और व्यासजी ने महाभारत के बीच में लिखा, तुम माता से भी सिवाय हित चाहनेवाली, दुःखरूप संसार को नाश करनेवाली, और ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्यादि करके युक्त हो । अठारह विद्या में जो अर्थ है, सोई तुम्हारे अठारह अध्यायों में है । उस अर्थ के विचारने से सब वेदों का सिद्धान्त अद्वैत जीव-ब्रह्म की एकता है । उसका अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है । इस वास्ते हे मातः ! तुमको मैं मन से अपने हृदय में धारण करता हूँ ।

नमोस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥

अन्वय—व्यास १ विशालबुद्धे २ फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ३ ते ४ नमः ५ अस्तु ६ येन ७ त्वया ८ भारततैलपूर्णः ९ ज्ञानमयः १० प्रदीपः ११ प्रज्वालितः १२ ।

अर्थ—हे व्यास १ हे विशालबुद्धे २ हे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ३ आपके अर्थ ४ नमस्कार ५ हो ६ जिन ७ आपने ८ भारततैल करके पूर्ण ९ ज्ञानरूप १० दीपक ११ प्रज्वलित किया, जलाया १२ ।

तात्पर्य—बड़ी बुद्धि है जिनकी २ फूले कमल के चौड़े पत्रवत् नेत्र हैं जिनके ३ इन दो विशेषणों का तात्पर्य यह है कि भूत भविष्यत् वर्तमान काल की व्यवस्था व्यासजी सब देखते समझते हैं, क्योंकि सर्वज्ञ हैं ॥ २ ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३ ॥

अन्वय—कृष्णाय १ नमः २ प्रपन्नपारिजाताय ३ तोत्रवेत्रैकपाणये ४ ज्ञानमुद्राय ५ गीतामृतदुहे ६ ।

अर्थ—श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी को १ नमस्कार २ सि० है, कैसे हैं श्रीमहाराज, भक्तों के लिये कल्पवृक्ष ३ सि० हैं पुनः, छड़ी एक हाथ में है जिनके ४ सि० पुनः, ज्ञानमुद्रा है जिनकी अर्थात् तर्जनी अँगुली से अँगूठा मिलाये हुए हैं, अर्जुन को समझाते हैं ५ गीतारूप अमृत दुहा है जिन्होंने ॥ ३ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ४ ॥

अन्वय—सर्वोपनिषदः १ गावः २ दोग्धा ३ गोपालनन्दनः ४ पार्थः ५ वत्सः ६ सुधीः ७ भोक्ता ८ दुग्धम् ९ गीतामृतम् १० महत् ११ ।

अर्थ—सब उपनिषद् १ गौ अर्थात् गौ की सदृश हैं २ दुहनेवाले ३ श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी ४ अर्जुन ५ बच्छा ६ सुन्दर बुद्धिवाला ७ पीनेवाला ८ दूध ९ गीतारूप अमृत १० सि० कैसा है यह, बड़ा ११ ।

तात्पर्य—श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी ने सब उपनिषदों का सार अर्थ अर्जुन को निमित्त करके शुद्धान्तःकरणवालों के लिये कहा है। गीताजी का अर्थ जानकर फिर सन्देह नहीं रहता, इसवास्ते महत् विशेषण है, और फिर गीतापाठी शरीर धारण नहीं करता, इसवास्ते अमृत विशेषण है ॥ ४ ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

अन्वय—कृष्णम् १ वन्दे २ जगद्गुरुम् ३ वसुदेवसुतं ४ देवम् ५ कंस-चाणूरमर्दनं ६ देवकीपरमानन्दम् ७ ।

अर्थ—श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी को १ नमस्कार करता हूँ मैं २ सि० कैसे हैं श्रीमहाराज, जगत् के गुरु ३ वसुदेवजी के पुत्र ४ ज्ञानस्वरूप अथवा दीप्तिमान् मूर्त्तिवाले ५ कंस-चाणूर के मारनेवाले ६ देवकीजी को परमानन्द देनेवाले ७ इस श्लोक में श्लोक-अवस्था का ध्यान है ॥ ५ ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहिनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः कुरुनदी कैवर्त्तके केशवे ॥ ६ ॥

अन्वय—केशवे १ कैवर्त्तके २ खलु ३ पाण्डवैः ४ सा ५ कुरुनदी ६ उत्तीर्णा ७ भीष्मद्रोणतटा ८ जयद्रथजला ९ गांधारनीलोत्पला १० शल्यग्राहवती ११ कृपेण १२ वहिनी १३ कर्णेन १४ वेलाकुला १५ अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा १६ दुर्योधनावर्त्तिनी १७ ।

अर्थ—श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी मल्लाह हुए सन्ते अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र मल्लाह होने से ही १ । २ निश्चय ३ पाण्डवों ने ४ सो ५ कुरुनदी ६ उतरी अर्थात् पाण्डवों ने कुरुवंशी दुर्योधनादि को जीता ७ सि० कैसी है वह नदी, भीष्म और द्रोणाचार्य किनारे हैं जिसके ८ जयद्रथ है जल जिसमें ९ गांधारी के पुत्र नीले कमल हैं जिसमें १० शल्यग्राह है जिसमें ११ कृपाचार्य करके १२ बहनेवाली १३ करण करके १४ बेला व्याप्त हो रही है जिसमें १५ अश्वत्थामा और विकर्ण घोर मकर हैं जिसमें १६ दुर्योधन चक्र है जिसमें १७ ।

तात्पर्य—श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी पाण्डवों के सहायक थे, तब पाण्डवों ने कौरवों को जीता ॥ ६ ॥

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ ७ ॥

अन्वय—भारतपङ्कजम् १ नः २ श्रेयसे ३ भूयात् ४ कलिमलप्रध्वंसि ५ पाराशर्यवचः सरोजम् ६ अमलं ७ गीतार्थगन्धोत्कटं ८ नाना ९ आख्यानककेसरम् १० हरिकथासम्बोधनाबोधितम् ११ लोके १२ सज्जनषट्पदैः १३ अहरहः १४ मुदा १५ पेपीयमानम् १६ ।

अर्थ—भारतरूप कमल १ हमारे कल्याण के अर्थ हो अर्थात् हमारा भला करो २ । ३ । ४ सि० कैसा है सो भारत कमल कलियुग के पापों का नाश करनेवाला ५ व्यासजी के वचनरूप सरोवर से उत्पन्न हुआ

है ६ सि० पुनः, निर्मल ७ गीता का जो अर्थ सोई उत्कट तीव्र गन्ध है जिसमें ८ नाना भाँति की, तरह-तरह की ६ कथा-केसर हैं जिसमें १० हरिकथा सम्बोधनों करके जाग रहा है अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज की कथा का जो ज्ञान है, उस करके खिला हुआ है ११ जगत् में १२ सज्जन-रूप भ्रमर १३ आनन्दपूर्वक १४ प्रति दिन १५ सि० उस कमल के रस को, पीते हैं १६ ।

तात्पर्य—जिस महाभारत में भगवत्सम्बन्धी कथा है और जिसके बीच में श्रीभगवद्गीता विराजमान है, जिसको श्रेष्ठ लोग आनन्द सहित पढ़ते-सुनते हैं ऐसा निर्दोष महाभारत हमारा भला करे ॥ ७ ॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ८ ॥

अन्वय—अहम् १ तम् २ परमानन्दमाधवम् ३ वन्दे ४ यत्कृपा ५ मूकम् ६ वाचा ७ अलम् ८ करोति ६ पङ्गुम् १० गिरिम् ११ लङ्घयते १२ ।

अर्थ—मैं १ तिन २ परमानन्दस्वरूप लक्ष्मीजी के पति को ३ नमस्कार करता हूँ ४ जिनकी कृपा ५ गूंगे को ६ वाणी करके ७ पूर्ण ८ कर देता है अर्थात् जिनकी कृपा से गूंगा तरह-तरह के शब्द बोलने लगता है ६ सि० और, पंगु १० पहाड़ ११ उलंघ जाता अर्थात् जिनकी कृपा से लँगड़ा पर्वत को लाँघ सकता है १२ ।

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥६॥

अन्वय—ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः १ दिव्यैः २ स्तवैः ३ यम् ४ स्तुन्वन्ति ५ सामगाः ६ साङ्गपदक्रमोपनिषदैः ७ वेदैः ८ यम् ६ गायन्ति १० योगिनः ११ ध्यानावस्थिततद्गतेन १२ मनसा १३ यम् १४ पश्यन्ति १५ सुरासुरगणाः १६ यस्य १७ अन्तं १८ न १६ विदुः २० तस्मै २१ देवाय २२ नमः २३ ।

अर्थ—ब्रह्मा वरुण इन्द्र रुद्र मरुत देवता १ दिव्य २ स्तोत्रों करके ३ जिसकी ४ स्तुति करते हैं ५ साम वेद के गानेवाले ६ अंग और पदक्रम के सहित जो उपनिषद् हैं, तिन उपनिषदों के ७ सहित वेदों करके ८ जिसको ९ गाते हैं १० योगी ११ ध्यान में मन को ठहराकर तद्गत १२ मन करके अर्थात् परमेश्वर में मन लगाकर १३ जिनको १४ देखते हैं १५ देवता और असुरों के गण १६ जिनके १७ अन्त को १८ नहीं १९ जानते हैं २० तिन २१ देवता के अर्थ २२ नमस्कार २३ सि० है, जिस देवता को नमस्कार है, सो एक है, बहुवचन यहाँ और आगे पीछे भी आदरार्थ जानना योग्य है ॥ ९ ॥

इति ध्यानम् ।

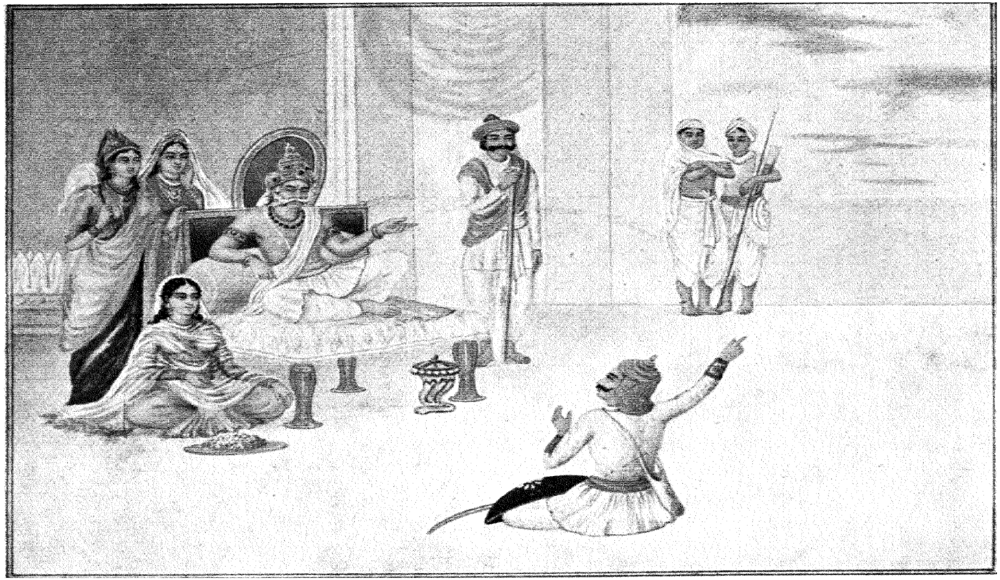

धृतराष्ट्र-संजय-संवाद

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

स्वामी श्रीआनन्दगिरिजीकृत

भाषाटीकासहित

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रः १ उवाच २ । अर्थ—धृतराष्ट्र १ बोला २ अर्थात् राजा धृतराष्ट्र संजय से यह बोला ।

अन्वय—सञ्जय १ मामकाः २ च ३ पाण्डवाः ४ एव ५ धर्मक्षेत्रे ६ कुरुक्षेत्रे ७ समवेताः ८ युयुत्सवः ९ किम् १० अकुर्वत ११ ।

र्थ—हे संजय ! १ मेरे पुत्रादि (दुर्योधनादि) २ और ३ पांडु के पुत्रादि पांडव (युधिष्ठिरादि) ४ [पू० ५ पादपूरणार्थ यह एव पद है ५] धर्म-भूमि ६ कुरु-क्षेत्र में ७ इकट्ठे होकर ८ युद्ध की इच्छा करनेवालों ने ९ क्या १० किया ११ अर्थात् लड़ाई हुई वा सन्धि होगई ।

तात्पर्य—राजा धृतराष्ट्र नेत्र-हीन था इस वास्ते लड़ाई में नहीं गया था । संजय राजा का सारथि, राजा के पास रहा, उसको व्यासजी ने यह वरदान दे दिया था कि जो व्यवस्था कुरुक्षेत्र में होगी, उसको तुम इसी जगह बैठे हुए साक्षात् देखोगे । जो-जो व्यवस्थाएँ कुरु-क्षेत्र में हुईं, वे सब संजय ने राजा धृतराष्ट्र से कहीं, इस हेतु गीता में राजा धृतराष्ट्र और संजय का भी संवाद है । ये दोनों हस्तिनापुर में रहे, अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन के संवाद को संजय ने धृतराष्ट्र से निरूपण किया ॥ १ ॥

सञ्जय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

सञ्जयः १ उवाच २ । अर्थ—संजय १ बोला २ अर्थात् संजय ने धृतराष्ट्र से कहा ।

अन्वय—तदा १ राजा २ दुर्योधनः ३ व्यूढम् ४ पाण्डवानीकम् ५ दृष्ट्वा ६ तु ७ आचार्यम् ८ उपसंगम्य ९ वचनम् १० अब्रवीत् ११ ।

अर्थ—सि० जिस काल में दोनों सेनाएँ सजकर युद्ध के लिये आमने-सामने खड़ी हुई * उस काल में १ राजा २ दुर्योधन ३ सि० चक्रकमलाकारादि * रची हुई ४ पांडवों की सेना को ५ देखकर ६ फिर ७ गुरु के ८ पास जाकर ९ सि० यह * वचन १० बोला ११ सि० जो आगे नव श्लोकों में अर्थ है *

तात्पर्य—दुर्योधन पांडवों की सेना को भले प्रकार सजी हुई देखकर मन में डरा और यह जाना कि जहाँ ऐसी रचना है, तो फिर ये कैसे जीते जावेंगे ? जो हमारे गुरु इससे उत्तम रचना रचें, तब भलाई की बात है । इस वास्ते राजा गुरु के पास जाकर बोला ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अन्वय—आचार्य १ पाण्डुपुत्राणाम् २ एताम् ३ महतीम् ४ चमूम् ५ पश्य ६ धीमता ७ तव ८ शिष्येण ९ द्रुपदपुत्रेण १० व्यूढाम् ११ ।

अर्थ—हे गुरो ! १ पांडवों की २ इस ३ बड़ी ४ सेना को ५ देखो ६ बुद्धिमान् ७ आपके ८ शिष्य ९ द्रुपद के पुत्र ने १० रची है ११ ।

तात्पर्य—आपका शिष्य होकर आपका सामना करता है, यह देखिए । और इस सेना में जो शूर-वीर हैं, उनको भी देख लीजिए, क्योंकि यथायोग्य जोड़ी के साथ लड़ाना चाहिए ॥ ३ ॥

१—द्रोणाचार्य शस्त्र-विद्या के गुरु हैं ।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

अन्वय—अत्र १ शूराः २ महेष्वासाः ३ युधि ४ भीमार्जुन-समाः ५ युयुधानः ६ विराटः ७ च ८ द्रुपदः ९ च १० महारथः ११।

अर्थ—इसमें अर्थात् इस सेना में १ सि० जो * शूर २ सि० हैं * बड़े-बड़े धनुष हैं जिनके ३ युद्ध में ४ भीम-अर्जुन के बरा-बर ५ सि० नाम उनके ये हैं * युयुधान ६ विराट ७।८ और द्रुपद ९।१० सि० 'महारथ' यह सबका विशेषण है। कैसे हैं ये * महारथ ११ सि० असंख्यात शस्त्र-धारियों से जो युद्ध करे और अस्त्र-शस्त्र विद्या में चतुर हो उसको अतिरथ कहते हैं। और दश सहस्र से जो अकेला युद्ध करे उसको महारथ कहते हैं। और जो एक से लड़े उसको रथी कहते हैं। इससे कम को अर्द्ध-रथी कहते हैं * ११ ॥ ४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥

अन्वय—धृष्टकेतुः १ चेकितानः २ काशिराजः ३ च ४ वीर्य-वान् ५ पुरुजित् ६ कुन्तिभोजः ७ च ८ शैब्यः ९ च १० नरपुङ्गवः ११।

अर्थ—धृष्टकेतु १ चेकितान २ और काशी का राजा ३।४ सि० कैसे हैं ये * बलवान् ५ सि० यह सबका विशेषण है * पुरुजित् ६ और कुंतिभोज ७।८ और शैब्य ९।१० सि० कैसे हैं ये * पुरुषों में उत्तम ११ सि० यह तीनों का विशेषण है * ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

अन्वय—युधामन्युः १ च २ विक्रान्तः ३ उत्तमौजाः ४ च ५ वीर्यवान् ६ सौभद्रः ७ द्रौपदेयाः ८ च ९ सर्वे १० एव ११ महारथाः १२।

अर्थ—युधामन्यु १ [पृ० २] सि० कैसा है यह * तेजस्वी सुन्दर ३ और उत्तमौजा ४।५ बलवान् ६ अभिमन्यु ७ और

द्रौपदी के पांचों पुत्र ८।६ सि० ये * सब १० ही ११ महारथ १२ सि० हैं * ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अन्वय—द्विजोत्तम १ अस्माकम् २ ये ३ विशिष्टाः ४ मम ५ सैन्यस्य ६ नायकाः ७ तान् ८ तु ९ निबोध १० ते ११ संज्ञार्थम् १२ तान् १३ ब्रवीमि १४ ।

अर्थ—हे ब्राह्मणों में उत्तम ! १ हमारी २ सि० सेना में * जो ३ श्रेष्ठ ४ सि० हैं और * मेरी ५ सेना के ६ सि० जो * सरदार अग्रगण्य ७ उनको ८ भी ९ देखिये १० आपसे ११ भले प्रकार जान लेने के लिये १२ उनको १३ अर्थात उनके नाम मैं कहता हूं १४ सि० अगले श्लोक में *

तात्पर्य—युद्ध से प्रथम ही भले प्रकार इनको समझ लेना चाहिये ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अन्वय—भवान् १ भीष्मः २ च ३ कर्णः ४ च ५ कृपः ६ च ७ समितिंजयः ८ अश्वत्थामा ९ विकर्णः १० च ११ सौमदत्तिः १२ तथा १३ एव १४ च १५ ।

अर्थ—आप १ और भीष्मजी २ । ३ और कर्ण ४ । ५ और कृपाचार्य ६ । ७ समितिंजय ८ अश्वत्थामा ९ और विकर्ण १० । ११ सौमदत्ति १२ वैसे १३ ही १४ और १५ सि० भी बहुत शूर-वीर हैं * ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वय—अन्ये १ च २ बहवः ३ शूराः ४ मदर्थे ५ त्यक्त-जीविताः ६ नानाशस्त्रप्रहरणाः ७ सर्वे ८ युद्धविशारदाः ९ ।

अर्थ—सि० जिनके नाम पीछे कहे गए हैं उनके सिवाय * और १ भी २ बहुत ३ शूर ४ सि० हमारी सेना में हैं, जिन्होंने * मेरे वास्ते ५ जीवन की आशा त्याग दी है ६ अनेक प्रकार से

शस्त्र चलानेवाले ७ सब ८ युद्ध में चतुर ९ सि० हैं ※ ॥ ९ ॥

इस कथा के कहने से राजा दुर्योधन का जो आशय है सो कहता है।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वय—तत् १ अस्माकम् २ बलम् ३ ※ अपर्याप्तम् ४ भीष्माभिरक्षितम् ५ इदम् ६ तु ७ एतेषाम् ८ बलम् ९ ※ पर्याप्तम् १० भीमाभिरक्षितम् ११।

अर्थ—सि० पीछे जो कहा ※ सो १ हमारा २ बल ३ सि० पांडवों के साथ लड़ने को ※ समर्थ है वा बहुत है ४ सि० क्योंकि ※ भीष्मजी करके रक्षा किया गया है ५ अर्थात् भीष्मजी हमारे बल की रक्षा करनेवाले हैं। कैसे हैं भीष्मजी, वृद्ध होने से सूक्ष्म बुद्धिवाले (चतुर) हैं ५ सि० और ※ यह ६ पू० ७ इनका ८ बल ९ अर्थात् पीछे जो कहा है पांडवों का बल ९ सि० सो हमारे साथ लड़ने को ※ असमर्थ है वा थोड़ा है १० सि० क्योंकि संख्या में भी कम है और चंचल बुद्धिवाले ※ भीम करके रक्षित है ११ अथवा हमारा बल पांडवों के साथ लड़ने को असमर्थ प्रतीत होता है। क्योंकि भीष्मजी सेनापति वृद्ध हैं और वे उभयपक्षी हैं (दोनों तरफ मिले हुए हैं) भीष्मजी प्रत्यक्ष तो हमारी तरफ हैं और श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये जय पांडवों की चाहते हैं। और पांडवों का बल हमको जीतने को समर्थ प्रतीत होता है, क्योंकि भीम बलवान्, जवान, एक पक्षवाला, सेना का सरदार है। सिवाय इसके श्रीकृष्णचंद्र उनको सहाय करनेवाले हैं ॥ १० ॥ ※ इन दोनों पदों का अर्थ बहुत और थोड़ा या समर्थ और असमर्थ दोनों प्रकार का हो सकता है। जो पहले पद का अर्थ थोड़ा वा असमर्थ किया जावेगा, तो पिछले पद का अर्थ बहुत वा समर्थ किया जावेगा, और जो पहले पद का अर्थ बहुत वा समर्थ किया जावेगा, तो पिछले पद का अर्थ थोड़ा वा असमर्थ किया जावेगा।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वय—भवन्तः १ सर्वे २ एव ३ हि ४ सर्वेषु ५ च ६ अयनेषु ७ यथाभागम् ८ अवस्थिताः ९ भीष्मम् १० एव ११ अभिरक्षन्तु १२ ।

अर्थ—सि० मेरी प्रार्थना आपसे यह है कि * आप १ सब २ [पू० ३] ही ४ सब ५ [पू० ६] मोर्चों में ७ अपने-अपने ठिकाने पर ८ खड़े हुए ९ भीष्मजी की १० [पू० ११] सब तरफ से रक्षा करते रहिये १२ ।

तात्पर्य—ऐसा न हो, कोई भीष्मजी को धोखे से मार जावे । उनके जीते रहने से हमारा भला है । अथवा ऐसा न हो कि भीष्मजी पांडवों से मिलकर हमारी सेना मरवा दें, क्योंकि भीष्मजी दुपक्षी प्रतीत होते हैं । इस वास्ते नित्य उनकी रक्षा करते रहना ॥ ११ ॥ राजा दुर्योधन को द्रोणाचार्यजी से बातें करते हुए देख, भीष्मजी ने जाना कि राजा को हमारी तरफ से कुछ सन्देह प्रतीत होता है । इसवास्ते पांडवों से लड़ने के लिये भीष्मजी ने उठकर शंख बजाया ।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

अन्वय—कुरुवृद्धः १ प्रतापवान् २ पितामहः ३ उच्चैः ४ सिंहनादम् ५ विनद्य ६ तस्य ७ हर्षम् ८ संजनयन् ९ शङ्खम् १० दध्मौ ११ ।

अर्थ—कुरुओं में बड़े १ प्रतापवाले २ भीष्मजी ने ३ ऊंचा ४ सिंहशब्दवत् ५ शब्द करके अर्थात् बहुत हँसकर ६ उसको अर्थात् राजा को ७ हर्ष उत्पन्न करते हुए अर्थात् राजा को प्रसन्न करने के लिये ८ । ९ शंख १० बजाया ११ ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

अन्वय—ततः १ शङ्खाः २ च ३ भेर्यः ४ च ५ * पणवानकगो-

* ये बाजों के नाम हैं ।

मुखाः ६ सहसा ७ एव ८ अभ्यहन्यन्त ९ सः १० शब्दः ११ तुमुलः १२ अभवत् १३ ।

अर्थ—उसके पीछे १ शंख २ और ३ नगारे ४ और ५ ढोल, आनक, गोमुख ६ एक-साथ ७ ही ८ सि० राजा दुर्योधन की सेना में * सब तरफ से बजे ९ सो १० शब्द ११ बड़ा १२ हुआ १३।

तात्पर्य—प्रथम भीष्मजी ने शंख बजाया उसके पीछे शंख आदि नाना प्रकार के बाजे बजने लगे ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

अन्वय—ततः १ माधवः २ पाण्डवः ३ च ४ एव ५ दिव्यौ ६ शङ्खौ ७ प्रदध्मतुः ८ महति ९ स्यन्दने १० स्थितौ ११ श्वेतैः १२ हयैः १३ युक्ते १४ ।

अर्थ—जब राजा दुर्योधन की सेना में शंख आदि बाजे बजे, तब १ सि० राजा युधिष्ठिर की सेना में प्रथम * श्रीकृष्णचंद्र महाराज २ और अर्जुन ने ३ । ४ भी ५ दिव्य (अलौकिक) ६ शंखों को ७ बजाया ८ सि० कैसे हैं अर्जुन और श्रीमहाराज कि एक * बड़े ९ रथ पर १० सवार हैं ११ सि० कैसा है वह रथ * श्वेत १२ घोड़ों से १३ युक्त १४ सि० है, अर्थात् श्वेत घोड़े उस रथ में जुड़े हुए हैं * ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

अन्वय—हृषीकेशः १ पाञ्चजन्यम् २ धनञ्जयः ३ देवदत्तम् ४ वृकोदरः ५ भीमकर्मा ६ पौण्ड्रम् ७ महाशङ्खम् ८ दध्मौ ९ ।

अर्थ—जिन शंखों को माधव आदि ने बजाया, उनके नाम कहते हैं । इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने १ पांच-जन्य नामवाले २ सि० शंख को बजाया * अर्जुन ने ३ देवदत्त-नामवाले ४ सि० शंख को बजाया और * भयंकर कर्म भीम ने ५ । ६ पौंड्र नामवाले ७ महाशंख को ८ बजाया ९ ।

तात्पर्य—श्रीमहाराज ने पांचजन्य शंख बजाया, अर्जुन ने देवदत्त शंख और भीम ने पौंड्र शंख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अन्वय—कुन्तीपुत्रः १ राजा २ युधिष्ठिरः ३ अनन्तविजयं ४ नकुलः ५ च ६ सहदेवः ७ सुघोषमणिपुष्पकौ ८।

अर्थ—कुन्ती के पुत्र १ राजा २ युधिष्ठिर ने ३ अनन्तविजय नामवाले ४ सि० शंख को बजाया ※ नकुल ५ और ६ सहदेव ने ७ सुघोष और मणिपुष्पक शंख को ८ सि० बजाया ※

तात्पर्य—राजा ने अनन्तविजय शंख बजाया, नकुल ने सुघोष शंख बजाया और सहदेवने मणिपुष्पक शंख बजाया ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

अन्वय—काश्यः १ च २ परमेष्वासः ३ शिखण्डी ४ च ५ महारथः ६ धृष्टद्युम्नः ७ विराटः ८ च ९ सात्यकिः १० च ११ अपराजितः १२।

अर्थ—काशी का राजा १ [पू० २] श्रेष्ठ है धनुष जिसका ३ और शिखंडी ४। ५ महारथ ६ धृष्टद्युम्न ७ और विराट ८। ९ और सात्यकी १०। ११ सि० कैसे हैं ये तीनों अपराजित १२ सि० हैं। न जीत सके दूसरा जिसको उसे अपराजित कहते हैं ※

तात्पर्य—इन सबों ने पृथक्-पृथक् (अपना-अपना) शंख बजाया। (इस श्लोक का अन्वय अगले श्लोक के साथ है) ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

अन्वय—पृथिवीपते १ द्रुपदः २ द्रौपदेयाः ३ च ४ सौभद्रः ५ च ६ महाबाहुः ७ सर्वशः ८ पृथक् ९ पृथक् १० शङ्खान् ११ दध्मुः १२।

अर्थ—संजय धृतराष्ट्र से कहता है, हे राजन्! १ द्रुपद २

और द्रौपदी के पांचों पुत्र ३ । ४ और अभिमन्यु ५ । ६ बड़ी हैं भुजाएँ जिसकी ७ सि० इन सबोंने और जो पहिले कहे जा चुके हैं * सब तरफ़ से ८ पृथक्-पृथक् ९ । १० सि० अपने-अपने शंखों को ११ बजाया १२ ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अन्वय—सः १ घोषः २ धार्तराष्ट्राणाम् ३ हृदयानि ४ व्यदारयत् ५ नभः ६ च ७ पृथिवीम् ८ च ९ एव १० तुमुलः ११ व्यनुनादयन् १२ ।

अर्थ—उस १ घोष ने २ दुर्योधन आदि के ३ हृदय को ४ विदीर्ण कर दिया अर्थात् दुर्योधन आदि उस शब्द को सुनकर डर गए। मारे डर के उनका हृदय कांपने लगा, मानो फटने लगा ५ आकाश ६ और ७ पृथिवी को ८ व्याप्त करके अर्थात् आकाश और पृथिवी में ७ । ८ व्याप्त होकर [पू० ९ । १०] बहुत ११ शब्द-पर-शब्द हुआ १२ सि० दुर्योधन आदि का हृदय विदीर्ण हो गया *

तात्पर्य—पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त वह शब्द व्याप्त हो गया ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

अन्वय—अथ १ कपिध्वजः[१] २ धार्तराष्ट्रान् ३ व्यवस्थितान् ४ दृष्ट्वा ५ शस्त्रसम्पाते ६ प्रवृत्ते ७ पाण्डवः ८ धनुः ९ उद्यम्य १० ॥ २० ॥ महीपते १ तदा २ हृषीकेशम् ३ इदम् ४ वाक्यम् ५ आह ६ अर्जुनः । उवाच । अच्युत ७ मे ८ रथम् ९ उभयोः १० सेनयोः ११ मध्ये १२ स्थापय १३ ॥ २१ ॥

---

१ हनूमान्‌जी अर्जुन के रथ की ध्वजा पर रहते थे, इसी से अर्जुन का नाम कपिध्वज है ।

अर्थ—बीसवें श्लोक का इक्कीसवें श्लोक के साथ सम्बन्ध है। शंख आदि का शब्द सुनकर जो अवस्था दुर्योधन आदि की हुई सो तो कही, और वही शब्द सुनकर अर्जुन ने जो किया सो संजय धृतराष्ट्र से कहता है। जब दोनों तरफ़ बाजा बजने लगे, तब १ अर्जुन २ दुर्योधन आदि को ३ भले प्रकार खड़े हुए ४ देखकर ५ शस्त्रों का चलाना ६ आरम्भ हुआ ही चाहता था अर्थात् शस्त्र चलाने ही चाहते थे, उस समय ७ अर्जुन ८ धनुष को ९ उठाकर अर्थात् तीर-कमान सँभालकर १० ॥ २० ॥ हे राजन्! धृतराष्ट्र! १ सि० जिस काल में हथियार चलनेवाले थे * उस काल में २ श्रीकृष्णचन्द्र महाराज से ३ यह ४ वाक्य ५ बोला ६ अर्जुन बोला। हे अच्युत! ७ मेरे ८ रथ को ९ दोनों १० सेनाओं के ११ बीच में १२ खड़ा करो १३।

तात्पर्य—भक्ति का प्रताप देखिए कि भक्त भगवान् पर आज्ञा करते हैं और भक्त जो चाहते हैं वैसा ही श्रीभगवान् करते हैं ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्ष्येऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अन्वय—एतान् १ योद्धुकामान् २ अवस्थितान् ३ यावत् ४ अहम् ५ निरीक्ष्ये ६ अस्मिन् ७ रणसमुद्यमे ८ मया ९ कैः १० सह ११ योद्धव्यम् १२।

अर्थ—कब तक वहां रथ खड़ा किया जावे, यह शंका करके अर्जुन कहता है कि जो युद्ध की कामनावाले ये खड़े हुए हैं इनको १।२।३ जब तक ४ मैं ५ देखूँ अर्थात् मैं यह देखना चाहता हूँ कि ६ इस रण के प्रारम्भ में ७।८ मुझ को ९ किनके १० साथ ११ युद्ध करना चाहिए १२। अर्जुन का तात्पर्य तमाशा देखने का नहीं है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्ष्येऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अन्वय—योत्स्यमानान् १ अहम् २ अवेक्ष्ये ३ एते ४ ये ५ अत्र ६ युद्धे ७ समागताः ८ दुर्बुद्धेः ९ धार्तराष्ट्रस्य १० प्रियचिकीर्षवः ११

अर्थ—सि० इन * युद्ध करनेवालों को १ मैं २ देखूं ३ सि० तो कि * ये ४ जो ५ इस युद्ध में ६ । ७ आये हैं ८ सि० कैसे हैं ये * दुष्टबुद्धिवाले दुर्योधन की ९ । १० जय चाहते हैं ११ ॥२३॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

अन्वय—भारत १ गुडाकेशेन २ एवम् ३ उक्तः ४ हृषीकेशः ५ उभयोः ६ सेनयोः ७ मध्ये ८ भीष्मद्रोणप्रमुखतः ९ सर्वेषाम् १० च ११ महीक्षिताम् १२ रथोत्तमम् १३ स्थापयित्वा १४ इति १५ उवाच १६ पार्थ १७ एतान् १८ समवेतान् १९ कुरून् २० पश्य २१ ।

अर्थ—सि० इन दोनों श्लोकों का अन्वय एक है * संजय धृतराष्ट्र से कहता है, हे राजन् ! १ अर्जुन करके २ इस प्रकार ३ कहे हुए ४ श्रीभगवान् अर्थात् अर्जुन ने श्रीभगवान् से जब यह कहा कि मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये, यह सुनकर श्रीभगवान् ५ दोनों सेनाओं के ६ । ७ बीच में ८ भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने ९ और सब राजाओं के १० । ११ । १२ सि० सामने * उत्तम रथ को १३ खड़ा करके १४ यह १५ बोले १६ हे अर्जुन ! १७ इन १८ एकत्र हुए १९ कौरवों को २० देख २१ ।

तात्पर्य—ये सब योद्धा प्रत्यक्ष हैं, इनको तू देख ॥ २४ ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥

अन्वय—अथ १ पार्थः २ तत्र ३ पितॄन् ४ स्थितान् ५ अपश्यत् ६ पितामहान् ७ आचार्यान् ८ मातुलान् ९ भ्रातॄन् १० पुत्रान् ११ पौत्रान् १२ सखीन् १३ तथा १४ ।

अर्थ—सि० ढाई श्लोक तक एक अन्वय है * जब श्रीभगवान् ने कहा कि हे अर्जुन ! इनको देख तब १ अर्जुन ने २ उस सेना

में २ चाचा आदि को ४ सि० युद्ध के लिये * खड़े हुए ५ देखा ६ पितामह को ७ आचार्यों को ८ मामाओं को ९ भाइयों को १० भतीजे आदि को ११ पौत्रों को १२ मित्रों को १३ सि० जैसे चाचा आदि को देखा * वैसे ही १४ सि० आचार्यादिकों को देखा * छठे पद अर्थात् क्रिया का सम्बन्ध सब कर्मों के साथ है ॥ २६ ॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अन्वय—श्वशुरान् १ सुहृदः २ च ३ एव ४ तान् ५ सर्वान् ६ बन्धून् ७ अवस्थितान् ८ समीक्ष्य ९ उभयोः १० अपि ११ सेनयोः १२ सः १३ कौन्तेयः १४ ॥ २७ ॥

परया १ कृपया २ आविष्टः ३ विषीदन् ४ इदम् ५ अब्रवीत् ६ अर्जुनः ७ उवाच ८ कृष्ण ९ इमम् १० स्वजनम् ११ युयुत्सुम् १२ समुपस्थितं १३ दृष्ट्वा १४ ॥ २८ ॥

मम १ गात्राणि २ सीदन्ति ३ मुखं ४ च ५ परिशुष्यति ६ मे ७ शरीरे ८ वेपथुः ९ च १० रोमहर्षः ११ च १२ जायते १३ ॥ २९ ॥

अर्थ—ससुरों को १ और सुहृदों को २ । ३ भी ४ सि० अर्जुन ने देखा * उन ५ सब ६ सम्बन्धियों को ७ सि० युद्ध में मरने के लिये * उपस्थित ८ देखकर ९ सि० वे सब कौन हैं ? इस अपेक्षा में यह कहते हैं कि * दोनों १० ही ११ सेनाओं के १२ सि० सम्बन्धियों को देखकर * सो १३ अर्जुन १४ ॥ २७ ॥ परम कृपा से १ । २ युक्त ३ दुःख में भरा हुआ ४ यह ५ बोला ६ सि० जो अध्याय के समाप्ति पर्यन्त कहना है * अर्जुन ७

बोला ८ हे कृष्ण ! ९ युद्ध की इच्छा करनेवाले अपने सम्बन्धियों को १० । ११ । १२ सि० रण में मरने के लिये * स्थित हुए १३ देखकर १४ ॥ २८ ॥ मेरे १ हाथ पांव आदि अंग २ ढीले हुए जाते हैं ३ और मुख ४ । ५ सूखता है ६ मेरे ७ शरीर में ८ कम्प ९ और १० रोमावली ११ भी १२ उत्पन्न होती है १३॥२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३० ॥

अन्वय—हस्तात् १ गाण्डीवम् २ स्रंसते ३ त्वक् ४ च ५ एव ६ परिदह्यते ७ अवस्थातुम् ८ न ९ च १० शक्नोमि ११ मे १२ मनः १३ भ्रमति १४ इव १५ च १६ ।

अर्थ—सि० मेरे * हाथ से १ गांडीव धनुष २ गिरता है ३ और त्वचा ४ । ५ भी ६ सि० मारे शोक के * जलती है ७ सि० इस युद्ध में * खड़े रहने के लिये ८ मैं समर्थ नहीं हूं ९ । १० । ११ मेरा १२ मन १३ भ्रमता है १४. जैसे १५ । १६ सि० जैसे कोई भ्रम में पड़ा हो *

तात्पर्य—मेरे मन में नाना प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अन्वय—केशव १ विपरीतानि २ निमित्तानि ३ च ४ पश्यामि ५ आहवे ६ स्वजनम् ७ हत्वा ८ न ९ च १० श्रेयः ११ अनुपश्यामि १२ ।

अर्थ—हे केशव ! १ विपरीत शकुनों को २ । ३ [पू० ४] मैं देखता हूं ५ सि० इस हेतु * युद्ध में ६ अपने सम्बन्धियों को ७ मारकर ८ मैं अपना कल्याण नहीं देखता हूं ९ । १० । ११ । १२ ।

तात्पर्य—अपने सम्बन्धियों को मारकर मुझ को अपना भला नहीं प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

अन्वय—कृष्ण १ विजयं २ न ३ काङ्क्षे ४ राज्यं ५ सुखानि ६

च ७ न ८ च ९ गोविन्द १० राज्येन ११ किं १२ वा १३ भोगैः १४ जीवितेन १५ नः १६ किम् १७ ।

अर्थ—इनको मारकर तेरी विजय होगी, तुझको राज्य मिलेगा और सुख होगा। यह सब होगा वा नहीं? यह शंका करके कहता है, हे कृष्ण! १ विजय २ नहीं ३ चाहता हूं ४ राज्य और सुख को ५ । ६ । ७ भी नहीं ८ । ९ सि० चाहता हूं * हे भगवन्! १० राज्य से ११ क्या १२ और १३ भोगों से १४ जीवन से १५ हमको १६ क्या १७ ।

तात्पर्य—राज्य करने में कुछ आनन्द नहीं है, केवल परमानन्द-स्वरूप आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से परमानन्द है। ऐसे समझनेवाले को विवेकी कहते हैं ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

अन्वय—नः १ येषाम् २ अर्थे ३ राज्यम् ४ भोगाः ५ सुखानि ६ च ७ काङ्क्षितम् ८ ते ९ इमे १० युद्धे ११ प्राणान् १२ धनानि १३ च १४ त्यक्त्वा १५ अवस्थिताः १६ ।

अर्थ—हमको १ जिनके २ वास्ते ३ राज्य ४ भोग ५ सुख भी ६ । ७ इच्छित है अर्थात् जिनके वास्ते राज्य, भोग और सुख हम चाहते हैं ८ वे ९ सि० ही * ये १० युद्ध में ११ प्राणों को १२ और धन को १३ । १४ त्यागकर १५ खड़े हैं अर्थात् प्राण और धन की आशा त्यागकर, वा प्राण और धन त्यागने के लिये खड़े हैं १६ ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

अन्वय—आचार्याः १ पितरः २ पुत्राः ३ तथा ४ एव ५ च ६ पितामहाः ७ मातुलाः ८ श्वशुराः ९ पौत्राः १० श्यालाः ११ तथा १२ सम्बन्धिनः १३ ।

अर्थ—वे ये हैं, गुरु १ चाचा आदि २ भतीजे आदि ३ [पू० ४ । ५ । ६] पितामह ७ मामा ८ श्वशुर ९ पौत्र १०

साले ११ सि० जैसे ये हैं * वैसे ही १२ सि० और * सम्बन्धी १३ सि० भी हैं * ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

अन्वय—एतान् १ घ्नतः २ अपि ३ न ४ हन्तुम् ५ इच्छामि ६ मधुसूदन ७ त्रैलोक्यराज्यस्य ८ हेतोः ९ अपि १० किम् ११ नु १२ महीकृते १३ ।

अर्थ—इन मारनेवालों को भी १ । २ । ३ नहीं ४ मारने की ५ इच्छा करता हूं अर्थात् मैं यह जानता हूं कि ये दुर्योधन आदि हमको मारेंगे तो भी इनको मारने की हमारी इच्छा नहीं है ६ हे कृष्णचन्द्र ! ७ त्रैलोक्य-राज्य के ८ हेतु ९ भी १० अर्थात् जो इनके मारने में मुझको तीनों लोकों का राज्य मिले तो भी इनको नहीं मारूंगा, क्या ११ फिर १२ पृथिवी की प्राप्ति के लिये १३ सि० मारूं ? * ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

अन्वय—जनार्दन १ धार्तराष्ट्रान् २ निहत्य ३ नः ४ का ५ प्रीतिः ६ स्यात् ७ एतान् ८ आततायिनः ९ हत्वा १० अस्मान् ११ पापम् १२ एव १३ आश्रयेत् १४ ।

अर्थ—हे जनार्दन ! १ दुर्योधन आदि को २ मारकर ३ हमको ४ क्या ५ सुख होगा ? अर्थात् किंचिन्मात्र भी सुख न होगा ६ । ७ सि० प्रत्युत * इन आततायियों को ८ । ९ मारकर १० हमको ११ पाप ही १२ । १३ आश्रयण करेगा अर्थात् उलटा हमको पाप ही लगेगा १४ ।

तात्पर्य—अग्नि का देनेवाला, विष खिलानेवाला, शस्त्र हाथ में लेकर मारने के वास्ते जो आवे, धन का हरनेवाला, खेत मकान आदि का हरनेवाला, स्त्री का मारनेवाला, ये छः आततायी कहलाते हैं । दुर्योधन आदि में ये सब दोष थे । नीति-शास्त्र में लिखा है कि जो आततायी सामने आ जावे, तो सामर्थ्यवान् विना विचारे आततायी को मार डाले । मारनेवाले को

दोष नहीं। परन्तु इस वाक्य से विशेष वाक्य धर्म-शास्त्र का यह है कि सदोष को भी नहीं मारना चाहिए। प्रत्युत वाणी से भी उसको दुःख न देना चाहिए। मन में भी उसका बुरा करने का संकल्प न करना चाहिए, यही आशय अर्जुन का है ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अन्वय—तस्मात् १ स्वबान्धवान् २ धार्तराष्ट्रान् ३ हन्तुम् ४ वयम् ५ न ६ अर्हाः ७ माधव ८ स्वजनम् ९ हि १० हत्वा ११ कथम् १२ सुखिनः १३ स्याम १४।

अर्थ—जीव-मात्र का मारना अयोग्य है और यह दुर्योधन आदि तो हमारे संबंधी हैं। इस कारण १ अपने सम्बन्धी दुर्योधन आदि को २। ३ मारने के वास्ते ४ हम ५ नहीं योग्य हैं अर्थात् इस योग्य हम नहीं हैं कि अपने ही संबंधियों को मारें ६। ७ हे कृष्णचन्द्र! ८ अपने संबंधियों को ९ ही १० मारकर ११ किस प्रकार १२ सुखी १३ होंगे? अर्थात् अपने संबंधियों को मारकर हमको किसी प्रकार भी सुख न होगा १४ ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यद्यपि १ एते २ कुलक्षयकृतम् ३ दोषम् ४ मित्र-द्रोहे ५ च ६ पातकम् ७ न ८ पश्यन्ति ९ लोभोपहतचेतसः १०॥

अर्थ—जिस पाप का तू विचार करता है, यह ज्ञान दुर्योधन आदि को भी है वा नहीं? यह शंका करके कहता है यद्यपि १ ये २ सि० दुर्योधन आदि * कुल के क्षय करने में (नाश करने में) जो दोष है उसको ३। ४ और मित्र के द्रोह में जो पातक है उसको ५। ६। ७ नहीं ८ देखते हैं ९ सि० क्योंकि * लोभ करके मैला हो गया है अन्तःकरण जिनका १०।

तात्पर्य—दुर्योधन आदि का अन्तःकरण लोभ करके मैला हो गया है, इस हेतु वे इन दोनों पातकों को नहीं समझते हैं। सो वे यद्यपि नहीं समझते हैं, तो न समझें ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अन्वय—जनार्दन १ कुलक्षयकृतम् २ दोषम् ३ प्रपश्यद्भिः ४ अस्माभिः ५ अस्मात् ६ पापात् ७ निवर्तितुम् ८ कथम् ९ न १० ज्ञेयम् ११ ।

अर्थ—सि० परन्तु * हे कृष्णचन्द्र ! १ कुलक्षयकृतदोष का २ । ३ देखनेवाला मैं ४ । ५ इस पाप से ६ । ७ निवृत्त होने को ८ किस प्रकार ९ नहीं १० जानने योग्य हूं ? ११ ।

तात्पर्य—कुल के नाश करने में और मित्र के द्रोह में जो दोष है, उसको हम आपकी कृपा से ज्ञान-चक्षु से देखते और समझते हैं। हे भगवन् ! समझकर भी इस पाप से हम क्यों न बचें ? अर्थात् इस पाप से निवृत्त होना चाहिए, यह हमको जानना चाहिए ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अन्वय—कुलक्षये १ सनातनाः २ कुलधर्माः ३ प्रणश्यन्ति ४ धर्मे ५ नष्टे ६ कृत्स्नम् ७ कुलम् ८ अधर्मः ९ अभिभवति १० उत ११ ।

अर्थ—कुल के नाश होने में १ सनातन कुल के धर्म २ । ३ नाश हो जाते हैं ४ धर्म के नष्ट होने पर ५ । ६ समस्त कुल ७ । ८ अधर्मी ९ हो जाता है १० [पू० ११] ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥

अन्वय—कृष्ण १ अधर्माभिभवात् २ कुलस्त्रियः ३ प्रदुष्यन्ति ४ वार्ष्णेय ५ दुष्टासु ६ स्त्रीषु ७ वर्णसङ्करः ८ जायते ९ ।

अर्थ—हे कृष्णचंद्र ! १ अधर्म के बढ़ने से २ कुल की स्त्रियां ३ भ्रष्ट हो जाती हैं ४ हे भगवन् ! ५ स्त्रियों के दुष्टा (भ्रष्ट) होने से ६ । ७ वर्णसंकर ८ उत्पन्न होता है ९ ॥ ४१ ॥

वृष्णि-वंश में जो उत्पन्न हो, उसको वार्ष्णेय कहते हैं । यह नाम श्रीकृष्ण भगवान् का है ।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

अन्वय--कुलघ्नानाम् १ कुलस्य २ सङ्करः ३ च ४ नरकाय ५ एव ६ एषाम् ७ पितरः ८ हि ६ पतन्ति १० लुप्तपिण्डोदक-क्रियाः ११।

अर्थ--कुलनाश करनेवालों के १ कुल का २ वर्णसंकर ३ भी ४ नरक के वास्ते ५ ही ६ सि० है और * इनके अर्थात् कुलघ्नों के ७ पितर भी ८। ६ पतित हो जाते हैं अर्थात् स्वर्ग से वे भी नरक में गिर पड़ते हैं १० सि० क्योंकि * लोप हो गई है पिंड और जल की क्रिया जिनकी अर्थात् न कोई उनको जल देनेवाला रहता है न पिंड देनेवाला। वर्णसंकर (स्त्री के भ्रष्ट होने पर जो सन्तान होती है सो) आप भी नरक में जाता है और जिस कुल में उत्पन्न होता है वह कुल भी नरक में जाता है ११॥ ४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥

अन्वय--वर्णसङ्करकारकैः १ एतैः २ दोषैः ३ कुलघ्नानाम् ४ शाश्वताः ५ जातिधर्माः ६ कुलधर्माः ७ च ८ उत्साद्यन्ते ६।

अर्थ--वर्णसंकर करनेवाले इन दोषों से १। २। ३ अर्थात् कुल का नाश करना, मित्रों से कपट करना आदि जो दोष हैं, इन दोषों से ३ कुलघ्नों के ४ सनातन ५ कुल-धर्म ६ और जाति-धर्म ७। ८ लोप हो जाते हैं ६।

तात्पर्य—वही दोष जाति-धर्म और कुल-धर्मों का लोप करते हैं ६॥ ४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥

अन्वय—जनार्दन १ उत्सन्नकुलधर्माणाम् २ मनुष्याणाम् ३ नरके ४ नियतम् ५ वासः ६ भवति ७ इति ८ अनुशुश्रुम ६।

अर्थ—हे जनार्दन! १ लोप हो जाते हैं कुल के धर्म जिनके २

सि० ऐसे * पुरुषों का ३ नरक में ४ सदा ५ वास ६ होता है ७ यह ८ हम सुनते हैं ९ सि० पुराणादि में * ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अन्वय—अहो बत १ वयम् २ महत्पापम् ३ कर्तुम् ४ व्यवसिताः ५ यत् ६ राज्यसुखलोभेन ७ स्वजनम् ८ हन्तुम् ९ उद्यताः १० ।

अर्थ—सन्ताप करने से भी पाप दूर हो जाता है । यदि फिर पाप न करने का नियम करे । यह समझकर अर्जुन सन्ताप करता है । अर्जुन ने अपने सम्बन्धियों के साथ युद्ध करने का जो विचार किया, इसको भी पाप समझा । बड़े कष्ट की बात है, ऐसी जगह अहो बत बोला करते हैं । अर्जुन कहता है कि अहो बत १ हम २ बड़ा पाप करने को ३ । ४ उद्यत हुए अर्थात् हमने बड़ा पाप करने का निश्चय किया ५ जिस ६ राज्यसुख के लोभ से ७ अपने सम्बन्धियों को मारने के लिये ८ । ९ उद्यत हुए अर्थात् अपने सम्बन्धियों को मारने के लिये हमने यत्न किया १० ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अन्वय—शस्त्रपाणयः १ धार्तराष्ट्राः २ यदि ३ माम् ४ अप्रतीकारम् ५ अशस्त्रम् ६ रणे ७ हन्युः ८ तत् ९ मे १० क्षेमतरम् ११ भवेत् १२ ।

अर्थ--प्राणधारी को प्राण से भी श्रेष्ठ परमधर्म अहिंसा है, यही समझकर अर्जुन कहता है । शस्त्र है हाथ में जिनके १ सि० ऐसे * दुर्योधन आदि २ जो ३ मुझ अप्रतीकार[१] अशस्त्र[२] को ४।५। ६ रण में ७ मारें ८ तो ९ मेरा १० बहुत भला ११ हो १२ ॥ ४६ ॥

---

१ जो अपने साथ बुराई करे उसके साथ बुराई न करे, उसको अप्रतीकार कहते हैं ।
२ धनुष आदि शस्त्र अर्जुन ने उस समय हाथ से रख दिये थे, इस हेतु अर्जुन ने अपने आपको अशस्त्र कहा ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

अन्वय--सञ्जयः १ उवाच २ अर्जुनः ३ संख्ये ४ एवम् ५ उक्त्वा ६ सशरम् ७ चापम् ८ विसृज्य ९ रथोपस्थे १० उपाविशत् ११ शोकसंविग्नमानसः १२ ।

अर्थ--संजय धृतराष्ट्र से कहता है १ । २ सि० हे राजन् ! * अर्जुन ३ रण में ४ इस प्रकार ५ कहकर ६ सहित शर के ७ धनुष को ८ विसर्जन करके ९ अर्थात् कमान का चिल्ला उतार और तीर तरकश में रखकर ९ रथ के पिछले भाग में १० बैठ गया ११ शोक में डूब गया है मन जिसका १२ अर्थात् अर्जुन को उस समय अत्यन्त शोक और मोह हुआ ॥ ४७ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अन्वय--मधुसूदनः १ तम् २ इदम् ३ वाक्यम् ४ उवाच ५ तथा ६ कृपया ७ आविष्टम् ८ अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ९ विषीदन्तम् १० ।

अर्थ--संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि हे राजन् ! श्रीभगवान् १ उस २ सि० अर्जुन से * यह ३ वाक्य ४ बोले ५ सि० कैसा है वह अर्जुन ? * उस प्रकार ६ कृपा से ७ युक्त है अर्थात् जो गति अर्जुन की पिछले अध्याय में कही गई है, ८ आंसुओं से पूर्ण और व्याकुल हो रहे हैं नेत्र जिसके ९ अर्थात् अर्जुन के नेत्रों में आंसू भर आए और विषाद को प्राप्त हो गए १० ॥ १ ॥

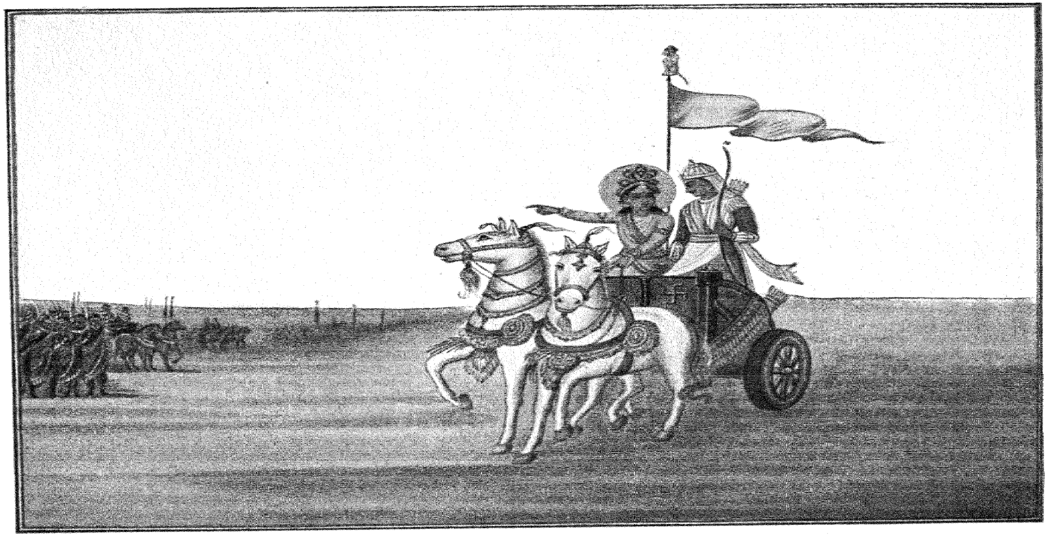

कुरुक्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अन्वय— अर्जुन १ त्वा २ इदम् ३ कश्मलम् ४ विषमे ५ कुतः ६ समुपस्थितम् ७ अनार्यजुष्टम् ८ अस्वर्ग्यं ९ अकीर्तिकरम् १० ।

अर्थ—हे अर्जुन १ तुमको २ यह ३ कायरपना ४ रण में ५ कहां से ६ प्राप्त हुआ ? ७ सि० कैसा है यह कायरपना ? * नहीं हैं श्रेष्ठ जो जन, उन करके सेवन करने योग्य है अर्थात् तू तो श्रेष्ठ है, यह तेरे योग्य नहीं, अश्रेष्ठों के योग्य है ८ फिर कैसा है यह कायरपना ? सि० कि * स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला नहीं ९ सि० प्रत्युत * अयश करनेवाला है १० ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अन्वय—पार्थ १ क्लैब्यम् २ मा स्म गमः ३ एतत् ४ त्वयि ५ न ६ उपपद्यते ७ परन्तप ८ क्षुद्रम् ९ हृदयदौर्बल्यम् १० त्यक्त्वा ११ उत्तिष्ठ १२ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ नपुंसकपने को २ मत प्राप्त हो ३ यह ४ तुझमें ५ नहीं ६ शोभा पाता है ७ हे परन्तप अर्जुन ! ८ नीचता को ९ और हृदय की दुर्बलता को १० त्यागकर ११ सि० युद्ध के लिये * खड़ा हो १२ ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अन्वय—मधुसूदन १ संख्ये २ द्रोणम् ३ च ४ भीष्मम् ५ प्रति ६ इषुभिः ७ अहम् ८ कथं ९ योत्स्यामि १० अरिसूदन ११ पूजार्हौ १२ ।

अर्थ—नपुंसकपने से मैं युद्ध नहीं करता हूं, यह न समझिये। किंतु मुझको युद्ध करने में अन्याय प्रतीत होता है । यह अर्जुन प्रकट करता है, हे मधुसूदन ! १ रण में २ द्रोणाचार्य ३ और

४ भीष्मपितामह के ५ प्रति ६ अर्थात् द्रोणाचार्य और भीष्मजी के साथ ६ बाणों करके ७ मैं ८ कैसे ९ युद्ध करूं १० हे वैरियों को मारनेवाले श्रीकृष्णचंद्र ! ११ सि० भीष्म और द्रोणाचार्य ये दोनों * पूजा करने योग्य हैं १२ ।

तात्पर्य—जिनपर फूल चढ़ाना योग्य है, उनके साथ 'लड़ना' यह वाणी से कहना भी अयोग्य हैं । फिर तीरों से उनके साथ कैसे लड़ना चाहिए ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वय—महानुभावान् १ गुरून् २ अहत्वा ३ हि ४ भैक्ष्यं ५ अपि ६ भोक्तुं ७ श्रेयः ८ इह ९ लोके १० अर्थकामान्[१] ११ गुरून् १२ हत्वा १३ तु १४ इह १५ एव १६ रुधिरप्रदिग्धान १७ भोगान् १८ भुंजीय १९ ।

अर्थ—बड़ा प्रभाव है जिनका १ सि० ऐसे * गुरुओं को २ न मारकर ३ ही ४ भिक्षा का अन्न ५ भी ६ भोगना ७ श्रेष्ठ है ८ इस लोक में ९ । १० अर्थात् यही बात श्रेष्ठ है कि गुरुओं को कभी न मारना; गुरुओं को न मारकर भीख मांगकर खाना श्रेष्ठ है, और अर्थ की कामनावाले ११ गुरुओं को १२ मारकर १३ तो १४ इस लोक में १५ ही १६ रुधिर (रक्त) के सने हुए भोगों को १७ । १८ हम भोगेंगे अर्थात् वे भोग हमको नरक प्राप्त करावेंगे १९ ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अन्वय—नः १ कतरत् २ गरीयः ३ एतत् ४ न ५ च ६ विद्मः ७ यद्वा ८ जयेम ९ यदि १० वा ११ नो १२ जयेयुः १३ यान् १४ हत्वा १५ न १६ जिजीविषामः १७ ते १८ एव १९ धार्तराष्ट्राः २० प्रमुखे २१ अवस्थिताः २२ ।

अर्थ—पीछे बहुत जगह और इस अध्याय में भी इसके पिछले श्लोक में अर्जुन को विपर्यय हुआ सो स्पष्ट प्रतीत होता है और

१ 'अर्थकामान्' यह 'भोगान्' का भी विशेषण हो सकता है ।

इस छठे श्लोक में संशय, और इससे अगले आठवें श्लोक में अज्ञान स्पष्ट प्रतीत होता है। अज्ञान, संशय और विपर्यय ये तीनों ब्रह्म-ज्ञान से जाते हैं। ब्रह्म-विद्या श्रवण करने से अज्ञान, मनन करने से संशय और निदिध्यासन करने से विपर्यय का नाश होता है। अर्जुन कहता है, हे भगवन्! हमको १ मि० शिक्षा का अन्न श्रेष्ठ है? वा गुरु आदि को मारकर राज्य भोगना श्रेष्ठ है, इन दोनों में * क्या २ श्रेष्ठ है? ३ यह ४ हम नहीं जानते हैं ५। ६। ७ मि० और जो इनके साथ हम लड़ें तो भी हमको यह संशय है कि * यद्वा ८ मि० उनको * हम जीतेंगे ९ यदि वा १०। ११ हमको १२ वे जीतेंगे? १३ मि० और जो हम उनको जीत भी लेंगे तो भी हमारी जीत किसी काम की नहीं, क्योंकि * जिनको १४ मारकर १५ नहीं १६ जीना चाहते हैं हम १७ वे १८ ही १९ दुर्योधन आदि २० सम्मुख २१ मि० मरने को * खड़े हैं २२॥ ६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ७

अन्वय—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः १ धर्मसम्मूढचेताः २ त्वां ३ पृच्छामि ४ मे ५ यत् ६ निश्चितम् ७ श्रेयः ८ स्यात् ९ तत् १० ब्रूहि ११ अहम् १२ ते १३ शिष्यः १४ त्वाम् १५ प्रपन्नम् १६ माम् १७ शाधि १८।

अर्थ—अर्जुन को जब अत्यन्त शोक सन्ताप हुआ और कर्तव्याकर्तव्य का विचार भी जाता रहा, तब फिर उसने धीरज धर मन को सावधान किया और यह विचार किया कि वेदों में महात्माओं के मुख से मैंने यह सुना है कि शोक के समुद्र को आत्मा का जाननेवाला तरता है। धन, धर्म, कर्म और पुत्र आदि करके जीव को मोक्ष नहीं होता है। "तरति शोकमात्मवित् न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः।" इन श्रुतियों का अर्थ निःसन्देह सत्य है, क्योंकि मैं धर्म कर्म सब जानता हूं और करता हूं। धर्म का साक्षात् अवतार मेरे भाई हैं। वेदोक्त कर्मकाण्ड के जानने में और अनुष्ठान करने में

मुझको किंचित् सन्देह नहीं, और भेदोपासना (परमेश्वर की भक्ति) का फल, साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज मेरे स्वामी, सखा, भाई मेरे पास हैं, तो भी यह मुझको शोक है । इसी हेतु यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शोक आत्मा के ज्ञान से ही नाश होता है । वह मुझको नहीं है । यह पूर्वोक्त विचारकर अर्जुन, ब्रह्म-विद्या श्रवण करने के लिये प्रथम ब्रह्म-विद्या में अपना अधिकार प्रकट करता है । दो श्लोकों मे ब्रह्म-विद्या के अधिकारी का लक्षण कहता है । दीनता-रूप दोष से दूषित हो गया है स्वभाव जिसका १ अर्थात् जो आत्मा को नहीं जानता है, उसको कृपण कहते हैं । 'कृपणता, कृपणपना, दीनता' इन सब पदों का एक ही अर्थ है । "यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः ।" यह बृहदारण्य उपनिषद् श्रुति है । तात्पर्यार्थ इसका यह है कि जो विना आत्म-ज्ञान के मर जाता है, वह कृपण दीन है । इस पद में अर्जुन का तात्पर्य यही है कि मैं भी अब तक कृपण अज्ञानी हूं १ सि० और * धर्म[1] अर्थात् ब्रह्म में सम्मूढ़ है चित्त जिसका २ सि० सो मैं * आपसे ३ पूछता हूं ४ मुझको ५ जो ६ निश्चित श्रेय[2] ७ । ८ हो ९ सो १० कहो ११ सि० शिष्य वा पुत्र के सिवाय और किसी से ब्रह्म-ज्ञान नहीं कहना चाहिए, यह शंका करके कहता है कि * मैं १२ आपका १३ शिष्य १४ सि० हूं । वाणी करके अनन्य गुरु-भक्त को गुरु से ज्ञान सुनना योग्य है यह शंका करके कहता है कि * मैं आपका शरणागत १५ । १६ सि० हूं आप ही मेरी रक्षा करनेवाले हैं । सब प्रकार मुझको आपका ही आश्रय है । आप * मुझको १७ उपदेश कीजिये १८ ॥७॥

१ जो धारण किया जावे उसको धर्म कहते हैं 'धारयतीति धर्मः' इस व्युत्पत्ति से धर्म भी ब्रह्म का एक नाम है । वेदोक्त धर्म को तो अर्जुन भले प्रकार जानता था, उस धर्म में अपने को मूढ़ क्यों कहता ?

२ एक अनित्य श्रेय होता है, जैसे ब्राह्मण आदि आशीर्वाद दिया करते हैं, "तुम्हारा श्रेय (कल्याण, भला) हो ।" ऐसे श्रेय को मैं नहीं पूछता हूं । किंतु जो निश्चित श्रेय सदा बना रहे । तात्पर्य मेरा मोक्ष से है । परम श्रेय मोक्ष को ही कहते हैं । जिससे दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है, उसे नित्य श्रेय कहते हैं, उसका मुख्य साधन मुझसे कहो ।

**न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥**

अन्वय—भूमौ १ असपत्नम् २ ऋद्धम् ३ राज्यम् ४ च ५ सुराणाम् ६ आधिपत्यम् ७ अपि ८ अवाप्य ९ इन्द्रियाणाम् १० उच्छोषणम् ११ यत् १२ शोकम् १३ मम १४ अपनुद्यात् १५ न १६ हि १७ प्रपश्यामि १८ ।

अर्थ—वेदों में यह कथा है कि नारदजी ने सनकादि से यह प्रश्न किया कि महाराज ! मुझको सब विद्या सांगोपांग आती हैं और जैसा उनमें कहा है, वैसा ही मैं अनुष्ठान करता हूं। और ब्रह्म-लोक के पदार्थों पर्यन्त सब पदार्थ मुझको प्राप्त हैं, परंतु मेरा शोक नहीं गया। सनकादि महाराज ने उत्तर दिया कि आत्म-विद्या तुमने नहीं पढ़ी होगी। नारदजी ने कहा कि यह तो मैंने नाम भी नहीं सुना, नहीं तो मैं अवश्य पढ़ता। सनकादि ने नारदजी से यह कहा कि उसी विद्या से शोक का नाश होता है। फिर नारदजी ने सनकादि से ब्रह्म-विद्या की जिज्ञासा कर श्रवण की, तब उनका शोक नाश हुआ। यही विचारकर अर्जुन इस मंत्र में कहता है पृथिवी में १ मि० तो * शत्रु-रहित पदार्थों से भरे हुए राज्य को २ । ३ । ४ मि० प्राप्त होकर * और ५ देवतों के ६ आधिपत्य को ७ भी ८ प्राप्त होकर ९ मि० परलोक में * अर्थात् देवतों के अधिपति (स्वामी) इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि होकर ९ इन्द्रियों को १० सुखानेवाला, सन्ताप करनेवाला ११ जो १२ शोक १३ मेरा १४ दूर हो (नाश हो) १५ मि० यह बात मैं विना ब्रह्म-ज्ञान के * नहीं देखता हूं १६ । १७ । १८ मि० क्योंकि नारदजी ने वैष्णव महात्मा से वर्षों अंगोंसहित वेद, शास्त्र और सब विद्याएँ पढ़ीं, वर्षों अनुष्ठान किया, वेद-भक्ति की। जब ब्रह्माजी के साक्षात् पुत्र, विष्णु भगवान् के परम प्यारे, नारदजी का शोक ब्रह्म-विद्या के विना नाश न हुआ, तो फिर मेरा कैसे होगा ?

तात्पर्य— इस श्लोक से साफ प्रतीत होता है कि शोक आत्म-ज्ञान से

ही नाश होता है। आत्म-ज्ञान से सिवाय और कोई कर्म, उपासना, योग आदि मुख्य उपाय नहीं। भेद-वादी उपासक जो यह कहते हैं कि केवल मूर्तिमान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि देवतों के दर्शन करने से शोक दूर हो जाता है। विचार करना चाहिये कि जैसा दर्शन अर्जुन को था, ऐसा तो इस समय भेद-वादियों को स्वप्न में भी होना कठिन है। अर्जुन का शोक, मोह तो विना ब्रह्म-विद्या के गया नहीं, तो औरों का विना ब्रह्म-ज्ञान के कैसे नाश होगा? देवतों का दर्शन आदि अंतःकरण की शुद्धि का हेतु है, और ज्ञान मोक्ष का हेतु है ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

अन्वय—संजयः १ उवाच २ परन्तप ३ गुडाकेशः[1] ४ हृषीकेशम्[2] ५ एवम् ६ उक्त्वा ७ न ८ योत्स्ये ९ इति १० गोविन्दम्[3] ११ उक्त्वा १२ तूष्णीम् १३ बभूव १४ ह १५ ।

अर्थ—संजय धृतराष्ट्र से कहता है १। २ मि० कि हे राजन्! ※ परन्तप! ३ अर्जुन ४ श्रीकृष्णचन्द्र से ५ इस प्रकार ६ कहकर ७ मि० जैसा पीछे कहा और अभी ※ नहीं ८ युद्ध करूंगा ९ यह १० गोविन्दजी से ११ कहकर १२ चुप १३ होगया १४ [पू०१५]

तात्पर्य—अर्जुन का यह अभिप्राय है कि युद्ध से प्रथम मुझको ब्रह्म-ज्ञान उपदेश कर दीजिये, क्योंकि जो यह मेरा पूर्वोक्त अज्ञान, संशय और विपर्यय बना रहा और मैं मारा गया, तो मैं कृपण दीन ही रहा, मुझको परमगति न होगी। विचार करना चाहिये कि अर्जुन कैसे संकुचित (असावकाश) समय में ब्रह्म-ज्ञान श्रवण करने के लिये श्रीमहाराज से कैसी प्रार्थना करता है। मैं आपका चेला हूं, आपका शरणागत हूं, मुझको उपदेश कीजिये। राज्य आदि मुझको नहीं चाहिए। अब इस समय के

१ निद्रा अर्जुन के वश में थी, इस हेतु गुडाकेश अर्जुन का नाम है।

२ इन्द्रियों के स्वामी हैं श्रीकृष्णचन्द्र महाराज, इसहेतु हृषीकेश श्रीमहाराज का नाम है।

३ तत्त्वमसि आदि वेदों के महावाक्यों से ही श्रीकृष्णचन्द्र महाराज की प्राप्ति होती है, इस व्युत्पत्ति से श्रीमहाराज का नाम गोविन्द है।

लाला मुंशी साहूकार आदि कहते हैं कि साहब, शास्त्रों के सुनने का किसको सावकाश है, यहां मरने को भी सावकाश नहीं । ऐसे कामियों के पास जब यमदूत आवेंगे, तब काम की गति उनको प्रतीत होगी । यमदूतों से भी यही कहना चाहिये कि अजी, हमको मरने का सावकाश कहां है ? तुमको सूझता नहीं कि हम अपने काम में लगे हुए हैं । जैसे गृहस्थ अतिथि अभ्यागतों से कह देते हैं ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अन्वय—भारत १ उभयोः २ सेनयोः ३ मध्ये ४ विषीदन्तम् ५ तम् ६ प्रहसन् ७ इव ८ हृषीकेशः ९ इदम् १० वचः ११ उवाच १२ ।

अर्थ—जब अर्जुन चुप हो गया, तब फिर क्या हुआ, इस अपेक्षा में संजय कहता है कि हे राजन् ! १ दोनों सेनाओं के २ । ३ मध्य में ४ अतिदुःखित उसको ५ । ६ उपहास करते हुए ७ अर्थात् जैसे किसी का उपहास कर रहे हैं ८ भगवान् ९ यह १० वचन ११ बोले १२ सि० जो आगे समाप्ति पर्यन्त कहना है * ॥ १० ॥

१ बिना ब्रह्म-ज्ञान के बड़े-बड़े लोगों का उपहास होता है । अर्जुन का उपहास श्रीमहाराज ने किया, तो इसमें क्या आश्चर्य है ।

इतिहास—एक समय बड़े-बड़े ब्रह्म-ज्ञानी और भेद-वादी भक्त भी श्रीरामचन्द्रजी महाराज के पास बैठे थे । हनुमानजी सेवा में थे । श्रीमहाराज ने अपनी सेवा भक्ति का माहात्म्य प्रकट करने के लिये हनुमानजी से यह पूछा कि तुम कौन हो ? हनुमानजी ने सोचा कि जो यह कहता हूं कि आपका सेवक हूं, तो ये सब ब्रह्मज्ञानी मुझको अज्ञानी समझकर मेरा उपहास करेंगे । और ये समझेंगे कि इनकी सेवा भक्ति कैसी है, जो अब तक आत्म-ज्ञान न हुआ । और जो मैं ब्रह्म हूं यह कहता हूं, तो ये सब भक्त यह समझेंगे कि इनकी कैसी यह भक्ति है, और श्रीमहाराज में कैसा यह भाव है कि जो अपने ही को ब्रह्म कहते हैं । फिर श्रीमहाराज का तात्पर्य समझकर हनुमानजी यह बोले कि देह-दृष्टि से तो आपका दास हूं और जीव-बुद्धि से आपका अंश हूं । वास्तव में शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्मस्वरूप जो आप हैं, सोई मैं हूं । श्लोक—देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः । वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥ यह सुनकर सब प्रसन्न हुए । समस्त श्रीभगवद्गीता का सारार्थ यही है । समस्त गीता-शास्त्र में इसी का विस्तारार्थ उपाय और उपेय अंगांगित्व कर्म-निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा का निरूपण है ।

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् १ उवाच २ । त्वम् १ अशोच्यान् २ अन्वशोचः ३ प्रज्ञावादान् ४ च ५ भाषसे ६ पण्डिताः ७ गतासून् ८ अगतासून् ९ च १० न ११ अनुशोचन्ति १२ ।

अर्थ—परम कृपा की खान श्रीभगवान् अर्जुन को ब्रह्म-ज्ञान सुनाते हैं । समस्त गीता-शास्त्र में केवल एक ज्ञान-निष्ठा का ही निरूपण है । अष्टांगयोग, सांख्ययोग, भेदभक्तियोग और कर्मयोग आदि का जो किसी जगह प्रसंग है, वह ज्ञान-निष्ठा का अंग ही श्रीमहाराज ने कहा है और जैसे श्रीरामायण में रामचरित्रों के सिवाय और भी अनेक कथाएँ हैं, परन्तु मुख्य श्रीरामजी के चरित्र हैं । इसी प्रकार इस श्रीभगवद्गीता उपनिषद् ब्रह्म-विद्या योग-शास्त्र में ज्ञान-निष्ठा का निरूपण है । उसी को मैं आनन्दगिरि नामवाला श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामीमलूकगिरिजी महाराज का अनुचर शिष्य (सेवक, दास) श्रीमहाराज जो मेरे स्वामी गुरुदेव उनके चरण-कमलों को पूजनेवाला श्रीमहाराज की कृपा से निरूपण करता हूं । श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं १।२ कि हे अर्जुन ! तू १ जो शोच करने योग्य नहीं, उनके निमित्त २ सि० तो * शोच करता है ३ और पंडितों के सरीखे ४ । ५ शब्दों को बोलता है अर्थात् पंडितों की सरीखी बातें कहता है (राज्य-सुख भोगों से हमको क्या है इत्यादि) ६ पंडित ७ जीने और मरे हुओं का ८।९।१० नहीं ११ शोच करते हैं १२ ।

तात्पर्य—भीष्म, द्रोण आदि के निमित्त व्यवहार में भी शोच करना अयोग्य है, क्योंकि वे सदाचारी हैं, मरकर सद्गति को प्राप्त होंगे । और परमार्थ में भी शोच न करना चाहिये, क्योंकि वे नित्य अविनाशी हैं अर्थात् न वाच्यार्थ में शोच उचित है, न लक्ष्यार्थ में । उनके बिना हम कैसे जीवेंगे, इनको कैसे सुख होगा ? यह सब अज्ञान का धर्म है, विद्वानों को

यह नहीं होता। इसहेतु प्रतीत होता है कि तू ज्ञानी पंडित नहीं है। दो चार बातें पंडितों की-सी सीखकर बोलता है। अहिंसा परम धर्म है इत्यादि †॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

---

† इतिहास—एक पुरुष के दो लड़के जवान, बहुत गुणवान् और विवाहित दैवयोग से एक ही दिन, एक ही काल में मर गये। नगर के लोग उसको समझाने लगे। पंडितों ने उसको त्याग, ज्ञान और वैराग्य के अनेक श्लोक सुनाये, और इस मंत्र का उत्तरार्ध भी सुनाया। वह पुरुष इस आधे श्लोक के सुनते ही प्रसन्न-मुख होकर उत्तर-दिशा को चला। पंडितों ने पूछा, कहां जाते हो? उसने उत्तर दिया कि मैंने दुःख-रूप गृहस्थाश्रम का त्याग किया। विद्वत्संन्यासी होकर विचरूँगा। पंडितों ने कहा कि अभी तुम्हारी तरुण अवस्था है और तुम्हारे घर में तीन तरुण स्त्रियां हैं। एक तुम्हारी और दो तुम्हारे लड़कों की, और तुम्हारे वृद्ध मा-बाप विद्यमान हैं। तुम्हारे दोनों लड़के घर में मरे पड़े हैं। क्या यही समय संन्यास का है? तुमको मरे और जीवितों का किंचित् शोच नहीं। उसने उत्तर दिया कि जो श्लोक तुमने पढ़ा है, उसका अर्थ विचारकर तुमको भी तो अनुष्ठान करना योग्य है, नहीं तो "पर-उपदेश-कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥" विना अनुष्ठान के पंडिताई किस काम की है। मरे और जीवितों का शोच उसी को है, जिसने यह मंत्र कहा है। मेरा शोच करना निष्फल है। और यह वेद की आज्ञा है कि जिस समय वैराग्य हो, उसी समय संन्यास करे। "यदहरेव विरज्येत्तदहरेव प्रव्रजेत्" यह कहकर उसी समय विरक्त हो गया।

विचारना चाहिये कि गीता का सुनना इसको कहते हैं। जिस श्लोक का उत्तरार्ध सुनकर यह पुरुष कृतार्थ हुआ, उसका अर्थ सब ही जानते हैं, कहते हैं, सुनते हैं; परन्तु उनका कहना, जानना और सुनना सब निष्फल है। क्योंकि रोटी के जानने, कहने और सुनने से पेट किसी का नहीं भरता है। खाने से ही पेट भरता है। यही आशय गीता के अर्थ का है। ऐसा पुरुष कोई होगा कि जो सत्य, संतोष, त्याग, वैराग्य, भक्ति, शम और दम आदि का अर्थ और फल न जानता होगा। परन्तु सुनकर और समझकर भी अनुष्ठान नहीं करते हैं, इसी हेतु भटकते रहते हैं। भगवद्वाक्य में विश्वास करके अनुष्ठान करने के लिये कमर बाँधना चाहिए या सोचना योग्य है? देखो तो सही, श्रीमहाराज तो अपने मुखारविन्द से यह कहते हैं कि मरे और जीवितों का शोच न करना चाहिए, यह अच्छी बात है या नहीं? शोच करने में क्या बुराई है? न शोच करने में क्या भलाई है, और शोच करना वास्तविक है या भ्रान्ति है? यह मुझमें कब से है, इसका क्या स्वरूप है, क्या अधिष्ठान है? जीव-गत है वा अन्तःकरण-गत है? एक रस रहता है या घटता रहता है? किस बात से बढ़ता है, किस साधन से घटता है? क्या इसकी समूल निवृत्ति का उपाय है? ऐसा विचारकर समस्त गीता के अर्थ का अनुष्ठान करना उचित है, तब गीता का अर्थ जानना, सुनना और कहना सफल है।

अन्वय—जातु १ अहम् २ न ३ आसम् ४ न ५ तु ६ एव ७ त्वम् ८ न ९ इमे १० जनाधिपाः ११ न १२ अतः १३ परम् १४ वयम् १५ सर्वे १६ न १७ भविष्यामः १८ न १९ च २० एव २१ ।

अर्थ—आत्मा नित्य है, इसहेतु शोच करना न चाहिये। आत्मा को अद्वैत और नित्य सिद्ध करते हुए शोच न करने का हेतु कहते हैं। पीछे क्या कभी १ मैं २ नहीं ३ था ४ सि० यह * नहीं ५ (पू० ६ । ७) अर्थात् पीछे मैं था सि० और * तू ८ सि० क्या पीछे * नहीं ९ सि० था यह नहीं अर्थात् तू भी पीछे था और * ये १० राजा ११ सि० क्या पीछे * नहीं १२ सि० थे। यह नहीं अर्थात् यह भी पीछे थे। तू और मैं, और ये सब राजा वर्तमान में विद्यमान ही हैं और * इससे १३ पीछे १४ अर्थात् इस स्थूल शरीर-त्याग से पीछे १४ हम १५ सब १६ सि० क्या * नहीं १७ होंगे १८ सि० यह * नहीं १९ (पू० २० । २१) अर्थात् तू, और मैं, और ये राजा अवश्य आगे भी होंगे, क्योंकि सच्चिदानन्द-रूप आत्मा नित्य है।

तात्पर्य—तू, और ये राजा, और मैं सब वास्तव में एक ही त्रिकाल-बाध्य हैं। त्वं पदार्थ की तत्पदार्थ के साथ लक्ष्यार्थ शुद्ध सच्चिदानन्द-रूप में एकता जानना योग्य है। इस मंत्र में जीवों का नानात्व जो प्रतीत होता है, यह औपाधिक भेद है। वास्तव में जीव एक ही है। अथवा समस्त श्लोक का अन्वय करके 'सर्वे वयम्' इन दोनों पदों को हेतु कर देना अर्थात् जीव एक ही है क्योंकि 'सर्वे वयम्' अर्थात् तू, और मैं, और ये राजा क्या आगे न होंगे, यह नहीं, अवश्य होंगे। अथवा 'सर्वे वयम्' बहुवचन आदर के लिये है अर्थात् सब जीव आत्मा ही हैं॥ १२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

अन्वय—देहिनः १ यथा २ अस्मिन् ३ देहे ४ कौमारम् ५ यौवनम् ६ जरा ७ तथा ८ देहान्तरप्राप्तिः ९ धीरः १० तत्र ११ न १२ मुह्यति १३ ।

अर्थ—आप अपने को जो नित्य कहते हो, यह तो सत्य है,

परन्तु जीव नित्य कैसे हो सकता है ? प्रत्यक्ष जन्म लेता है, मरता है, यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं । जीव को १ जैसे २ इस देह में (स्थूल देह में) ३ । ४ कौमार ५ यौवन ६ जरा ७ सि० अवस्था होती हैं * वैसे ही ८ दूसरे देह की प्राप्ति ९ सि० हो जाती है * धीरजवाला १० वहां अर्थात् देहों की उत्पत्ति और नाश में ११ नहीं १२ मोह को प्राप्त होता है अर्थात् जीव को जरा-जन्मवान् नहीं मानता है १३ ।

तात्पर्य—जैसे जीव स्थूल शरीर में प्रथम बालक कहा जाता है, फिर उसी को जवान कहते हैं, फिर उसी को बूढ़ा कहते हैं । जीव जैसे तीनों अवस्थाओं में एक ही रस रहता है, वैसे ही दूसरे देह में एक रस रहता है । मरना और उत्पन्न होना देहों का धर्म है । जीव सदा एक रस नित्य है, यथा 'अहम्' । और जैसे मुसाफिर एक सराय को छोड़कर दूसरी सराय में बसकर अपने को मरा जन्मा नहीं मानता, वैसे ही जीव मुसाफिर की तरह और शरीर सराय की तरह है । यह समझकर शरीर छूटने का कुछ शोच न करना चाहिये । आगे बहुत शरीर मिलेंगे । सराय की तरह आत्मा असंख्यात वर्षों का मुसाफिर है । नये शरीर में जाकर पीछे की गति दुःख सुख आदि भूल जाता है । जैसे दूसरी अवस्था में जीव अन्य जात नहीं हो जाता; अपने को वही मानता है, जो बाल अवस्था में मानता था। वैसे ही दूसरे शरीर में भी वही एक रस सच्चिदानंद आत्मा को समझना चाहिये । सदाचारी पुण्यात्मा पुरुष तो देह के छूटने से आनन्द को प्राप्त होते हैं, क्योंकि इस देह के पीछे सुन्दर दिव्य-देह की प्राप्ति होगी । बुरा मकान छूटकर जो अच्छा मकान मिले, तो उसके निमित्त क्या शोक करना चाहिये ? ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अन्वय—कौन्तेय १ मात्रास्पर्शाः २ तु ३ शीतोष्णसुख-दुःखदाः ४ आगमापायिनः ५ अनित्याः ६ भारत ७ तान् ८ तितिक्षस्व ९ ।

अर्थ—न जाने दूसरा देह कैसा मिलेगा, शीत, उष्ण आदि का उसमें आराम होगा वा नहीं, इसहेतु वर्तमान इष्ट पदार्थों के

वियोग में दुःख प्रतीत होता है। इस देह के छूटते ही सब इष्ट पदार्थों का वियोग हो जायगा, यह शंका करके श्रीमहाराज यह मन्त्र कहते हैं कि हे अर्जुन! १ इन्द्रियों की वृत्तियों का शब्द आदि विषयों के साथ जो सम्बन्ध है, उसको मात्रास्पर्श कहते हैं २ अर्थात् देखो, भोजन आदि ये सब शीत, उष्ण, सुख और दुःख को देनेवाले ३। ४ सि० किसी काल में शीत, किसी काल में गरमी, कभी ये अनुकूल, कभी प्रतिकूल, इस-हेतु कभी सुख और कभी दुःख बना ही रहता है। कैसे हैं ये भोजन आदि पदार्थ कि दिन-रात्रिवत् * आने-जानेवाले ५ सि० हैं। इसी हेतु सब पदार्थ * अनित्य ६ हे अर्जुन! ७ उनको ८ अर्थात् जाग्रत् अवस्था के भोगों को ८ सि० स्वप्न-पदार्थवत् समझकर * सहनकर ९ अर्थात् उनके निमित्त वृथा हर्ष-विषाद मत कर, हर्ष-विषाद के वश मत हो ९।

तात्पर्य—इष्ट पदार्थों का संयोग वियोग आदि झूठी भ्रान्ति है। वास्तव में आत्मा का न किसी के साथ सम्बन्ध है, न वियोग है। सिवाय आत्मा के और कोई पदार्थ सुख देनेवाला नहीं है। सो नित्य प्राप्त है। इसका विचारकर जो सहन करता है, उसको दुःख कम होता है। नहीं तो सहना सबको ही पड़ता है। अनित्य पदार्थों में क्या हर्ष करना, क्या शोक करना, कितने काल के लिये। क्योंकि क्षण पीछे हर्ष, क्षण पीछे शोक होता ही रहता है, इनको अनित्य समझकर इनके वश नहीं होना, यही इनका सहना है। इष्ट पदार्थ के लिये यत्न करना, और उसके वियोग में कुछ दुःख न मानना, और अनिष्ट पदार्थों से उद्वेग न करना चाहिए। जैसा वर्तमान हो, वही हर्ष-शोक-रहित भोगना, यही एक अनुष्ठान पर्याप्त है॥ १४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

अन्वय—पुरुषर्षभ १ एते २ यम् ३ पुरुषम् ४ न ५ व्यथयन्ति ६ समदुःखसुखम् ७ धीरम् ८ सः ९ हि १० अमृतत्वाय ११ कल्पते १२।

अर्थ—प्रयत्न करके दुःख दूर कर देना चाहिये और सुख सम्पादन करना चाहिये। शीत उष्ण आदि को क्यों सहना, यह शंका करके श्रीभगवान् का इस मंत्र में यह आशय है कि प्रयत्न करने से उनका सहना हजार जगह श्रेष्ठतम है, क्योंकि सहने का बड़ा फल है सो हमसे सुन। सिवाय इसके यह नियम नहीं कि प्रयत्न करने से शीत उष्ण आदि दुःख अवश्य ही दूर हो जावें, प्रत्युत प्रयत्न करना, दूने दुःख का हेतु है। क्योंकि एक दुःख तो प्रथम था और दूसरा यत्न करने में महादुःख हुआ और जब वह कार्य सिद्ध न हुआ, तब और भी महादुःख हुआ। सहने से प्रयत्न करने में क्लेश ही क्लेश है, इसहेतु सहना ही श्रेष्ठतम है। सोई सुन, हे अर्जुन! १ ये २ सि० मात्रास्पर्श शीत उष्ण आदि * जिस पुरुष को ३। ४ नहीं ५ विषाद के वश करते हैं ६ सि० कैसा है वह पुरुष * समान है सुख-दुःख जिसको ७ सि० और बुद्धिमान् * धीर ८ सि० है जो * सो ९ ही १० मुक्ति के वास्ते ११ योग्य है वा समर्थ है १२ अर्थात् जो मान अपमान आदि को प्रारब्ध-कर्म का भोग समझकर सहता है, उसकी निवृत्ति के लिये यत्न नहीं करता है, सोई मुक्ति के योग्य है और वही मुक्त होगा।

तात्पर्य—दुःख आदि में आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं समझता है। इसका हेतु यह है कि विचारवान् है। विचारवान् ब्रह्म-निष्ठ ज्ञानी ही अपमान आदि को सह सकता है, और वही मोक्ष का अधिकारी है; इसवास्ते ज्ञान-संपादन करना योग्य है॥ १५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

अन्वय—असतः १ भावः २ न ३ विद्यते ४ सतः ५ अभावः ६ न ७ विद्यते ८ अपि ९ तु १० अनयोः ११ उभयोः १२ अन्तः १३ तत्त्वदर्शिभिः १४ दृष्टः १५।

अर्थ—परमार्थ दृष्टि से तो शीत उष्ण आदि पदार्थ वास्तव में तीनों काल में नहीं हैं। नित्य, अखंड, पूर्ण आत्मा ही है,

उसका अभाव नहीं होता, और शीत उष्ण आदि पदार्थों का भाव नहा होता। यह विचारकर विद्वानों को शीत उष्ण आदि बाधा नहीं करते। जो कोई यह कहै कि शीत उष्ण आदि का सहना अत्यन्त कठिन है; वह कैसे सहा जावे ? कदाचित् अत्यंत सहने में आत्मा का नाश न हो जावे। इसके उत्तर में यह कहते हैं, असत् की १ सत्ता २ नहीं ३ है ४ सत् की ५ असत्ता ६ नहीं ७ है ८ सि० यह नहीं समझना कि इनका निर्णय किसी ने नहीं किया है * अपि तु ९। १० इन दोनों का ११। १२ अन्त १३ तत्त्वदर्शी पुरुषों ने १४ देखा है १५।

तात्पर्य—ब्रह्म-ज्ञानियों ने इन दोनों सत् और असत् का तत्त्व यही निर्णय किया है कि सत्स्वरूप आत्मा निर्लेप असंस्पर्श पदार्थ है, और असत्स्वरूप शीत उष्ण आदि का आत्मा में गंध-मात्र भी नहीं। सो वेदों ने भी यह कहा है, मंत्र—"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न वद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥" इस मंत्र का आशय यही है कि सिवाय आत्मा के कभी कुछ हुआ ही नहीं। फिर निवृत्ति किसकी करना चाहिये ? और जो किसी को सिवाय आत्मा के कुछ प्रतीत होता है वह भ्रान्ति है। क्योंकि भले प्रकार कोई भी किसी पदार्थ का करामलकवत् निःसंदेह निश्चय नहीं करता, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। सबका सम्मत न होने से ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि वास्तव में सिवाय आनन्द-स्वरूप आत्मा के और कुछ नहीं। इसके सिवाय इस बात को इस प्रकार समझो कि जैसे दस महल्लों का नाम एक नगर है, बीस हवेलियों का नाम एक महल्ला है; मृत्तिका पाषाण काष्ठ आदि का नाम हवेली है, पृथिवी के परमाणुओं का जो संघात है उसको मृत्तिका काष्ठ आदि कहते हैं, ऐसे विचार करते-करते परमाणु एक पदार्थ सिद्ध होता है। परमाणु उसको कहते हैं जो नेत्र का तो विषय नहीं, अनुमान द्वारा ऐसा निश्चय करते हैं कि मकान में पृथिवी के किनके उड़ते नहीं दीख पड़ते, झरोखे की चांदनी में दीख पड़ते हैं। इसहेतु प्रतीत होता है कि और भी इससे सूक्ष्म होंगे। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म किनके को परमाणु कहते हैं। जब यह जीव अनुमान में चतुर हो जाता है, तब इसको प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द आदि प्रमाणों से आत्मा का भाव और जगत् का अभाव साक्षात् प्रतीत होने लगता है। यह

विचार बहुत सूक्ष्म है, इसका मनन करना आवश्यक है । जैसे पीछे विचार करते-करते सब पदार्थों का अभाव हो गया; सब कल्पित प्रतीत होने लगे, एक परमाणु रह गया वैसे ही जब भले प्रकार बुद्धि निर्मल हो जाती है, तब वह भी कल्पित प्रतीत होने लगता है । फिर उसका अत्यन्ताभाव हो जाता है । इसवास्ते जब तक यह विषय समझ में न आवे, तब तक अंतःकरण की शुद्धि का उपाय कर्मोपासना करे ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्याऽस्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अन्वय—येन १ इदम् २ सर्वम् ३ ततम् ४ तत् ५ तु ६ अविनाशि ७ विद्धि ८ अस्य ९ अव्ययस्य १० विनाशम् ११ कर्तुम् १२ कश्चित् १३ न १४ अर्हति १५ ।

अर्थ—सामान्य करके तो आत्मा को नित्य प्रतिपादन किया, अब फिर विशेष करके दूसरे प्रकार से आत्मा को नित्य प्रतिपादन करते हैं । जैसे पिछले श्लोक में आत्मा को सत्शब्द करके निरूपण किया, वैसे ही इस मंत्र में अविनाशी शब्द से निरूपण करते हैं । आत्मा अतिसूक्ष्म पदार्थ है, इसवास्ते श्रीमहाराज उसको अनेक शब्दों द्वारा वर्णन करते हैं; पुनरुक्ति न समझना चाहिये । इस प्रकरण में बहुत जगह तो अर्थ में पुनरुक्ति प्रतीत होती है । जैसे सत्, नित्य और अविनाशी इन शब्दों का एक ही अर्थ है और वे शब्द बहुत जगह लिखे हुए हैं । यह बार बार अनेक युक्तियों के साथ उपदेश के वास्ते और जल्द समझने के लिये हैं, पुनरुक्ति दोष नहीं । जिस करके अर्थात् सत्स्वरूप आत्मा करके परमानन्द-स्वरूप आत्मा से १ यह २ सब ३ सि० जगत् * व्याप्त ४ सि० हो रहा है * उसको अर्थात् आत्मा को ५ ही ६ [तु] अविनाशी ७ जान ८ इस अविनाशी का अर्थात् अविनाशी निर्विकार का ९ । १० नाश करने को ११ । १२ कोई १३ नहीं १४ योग्य है वा नहीं समर्थ है १५ अर्थात् ऐसा कोई समर्थ नहीं कि जो आत्मा का नाश करे वा कम करे ।

तात्पर्य—यह जगत् आत्मा करके व्याप्त है । इसको ऐसा समझना

चाहिये कि आत्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप है। विचार करो, जगत् में ऐसा कोई भी बुरा वा भला पदार्थ नहीं कि जिसमें कुछ आनन्द न हो। यह जगत् आनन्द से पूर्ण है और आनन्द से ही इसकी स्थिति है। वही आनन्द तीनों अवस्थाओं में अविनाशी है, साक्षात् स्वयं प्रकाश है। इसहेतु प्रत्यक्ष ज्ञान-स्वरूप है ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्वय—इमे १ देहाः २ अन्तवन्तः ३ उक्ताः ४ शरीरिणः ५ नित्यस्य ६ अनाशिनः ७ अप्रमेयस्य ८ तस्मात् ९ युध्यस्व १० भारत ११।

अर्थ—सत्-पदार्थ आत्मा को तो नित्य सिद्ध किया, अब असत्-पदार्थ देहादि अनात्मा को अनित्य सिद्ध करते हैं अर्थात् असत्-पदार्थों का अभाव कहते हैं। ये १ सि० आविद्यक भौतिक कल्पित * देह २ अंतवाले ३ अर्थात् अनित्य कहे हैं ४ देहधारीजीव को ५ अर्थात् अध्यारोप में आत्मा को देही शरीरी कहते हैं और विवर्तवाद में उसको नित्य कहते हैं। वास्तव में वह अनिर्वाच्य है। देहों का भाव वास्तव में नहीं है। देहों को अनित्य कहना, जीव को नित्य कहना, यह सब विवर्तवाद है सि० कैसा है वह आत्मा कि * सदा एक रूप है ६ अर्थात् सदा उसका एक सच्चिदानन्द निर्विकार नित्यमुक्तरूप है इसी हेतु सो अविनाशी है ७ सि० जो ऐसा है तो सबको सत्त्वादि पदार्थोंवत् समझ में क्यों नहीं आता, यह शंका करके कहते हैं कि सो आत्मा * अप्रमेय है ८ अर्थात् बुद्धि आदि का विषय नहीं, क्योंकि बुद्धि का आदि है, इसी हेतु परे श्रेष्ठ है। बुद्धि का साक्षी है, यही उसकी पहचान है। जैसे कोई यह कहे कि मेरी आंख मुझको दिखाओ। इसका उत्तर यही है कि जिससे तू सबको देखता है, वही तेरी आंख है। ऐसे ही जिससे बुद्धि को भी ज्ञान है, वही ज्ञान-स्वरूप स्वयं सिद्ध है। अब भी इतने विशेषणों से आत्मा का स्वरूप तेरी समझ में न आया होगा,

क्योंकि आत्मा अतिसूक्ष्म है । जब कि आत्मा अतिसूक्ष्म है, इस कारण अर्थात् इसवास्ते ६ [तू] युद्ध कर १० हे अर्जुन ! ११ सि० यह म तुझसे कहता हूं *

तात्पर्य—स्वधर्म का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाता है । चतुराई का वहां कुछ काम नहीं, अथवा जब कि आत्मा नित्य है, न उसका नाश है, न उसका दुःख सुख आदि का सम्बंध है, इस कारण हे अर्जुन ! स्वधर्म मत त्याग, सुख दुःख आदि का सहन कर । 'नित्यस्य, अनाशिनः, अप्रमेयस्य' ये तीनों 'शरीरिणः' इस पद के विशेषण हैं अर्थात् सदा एकरस, अविनाशी, अप्रमेय देहधारी ऐसे जीव के शरीर अंतवाले कहे हैं । अविनाशी का देह के साथ आविद्यक सम्बंध है, इसहेतु देह प्रवाह-रूप करके नित्य प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में देह अनित्य हैं ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अन्वय—यः १ एनम् २ हन्तारम् ३ वेत्ति ४ यः ५ च ६ एनम् ७ हतम् ८ मन्यते ९ तौ १० उभौ ११ न १२ विजानीतः १३ अयम् १४ न १५ हन्ति १६ न १७ हन्यते १८ ।

अर्थ—अर्जुन को भीष्म आदि के मरने का जो शोक था कि ये मरेंगे, वह तो श्रीमहाराज ने दूर किया, परन्तु अर्जुन को अपने निमित्त भी यह शोक है कि भीष्म आदि के मारने में मुझको पाप होगा, इसको भी दूर करते हैं अर्थात् श्रीमहाराज अर्जुन से यह कहते हैं कि जैसे मारना हनन-रूप क्रिया में कर्म को अर्थात् भीष्म आदि को नित्य, निर्विकार, अविनाशी समझा, वैसे ही कर्ता को अर्थात् अपने को अकर्ता समझ । तात्पर्य, किसी क्रिया में भी आत्मा कर्ता या कर्म नहीं, यह अब श्रीमहाराज कहते हैं जो १ इसको अर्थात् आत्मा को २ सि० हनन क्रिया में * मारनेवाला अर्थात् कर्ता ३ जानता है ४ और जो ५ । ६ इसको अर्थात् आत्मा को ७ मरा हुआ ८ अर्थात् कर्म मानता है ९ वे १० दोनों ११ नहीं १२ जानते १३ सि० कि *

यह अर्थात् आत्मा १४ न १५ सि० किसी को * मारता है १६ न १७ मरता है १८ ।

तात्पर्य—जो आत्मा को किसी क्रिया में भी कर्ता कर्म जानते हैं, वे पाप-पुण्य के भागी होते हैं । तू आत्मा को अक्रिय यानी अकर्ता जानकर युद्ध कर, तुझको पाप न होगा; आत्मा न कर्ता है, न कर्म है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

अन्वय—अयम् १ कदाचित् २ न ३ जायते ४ वा ५ न ६ म्रियते ७ वा ८ भूत्वा ९ भूयः १० भविता ११ न १२ अयम् १३ अजः १४ नित्यः १५ शाश्वतः १६ पुराणः १७ शरीरे १८ हन्यमाने १९ न २० हन्यते २१ ।

अर्थ—उत्पन्न होना, व्यावहारिक सत्ता को प्राप्त होना, बढ़ना, और का और रूप हो जाना, घटने लगना, नाश हो जाना, ये छः धर्म देह के हैं । आत्मा के नहीं । वही इस श्लोक में कहते हैं । यह आत्मा १ कभी २ न ३ जन्मता है ४ वा ५ न ६ मरता है ७ और ८ होकर ९ फिर १० रहनेवाला ११ सि० ऐसा भी यह आत्मा * नहीं १२ अर्थात् जिनका जन्म होता है, वे अवश्य मरते हैं । आत्मा का न जन्म है, न नाश है, क्योंकि सादि पदार्थों का नाश होता है । आत्मा अनादि है । परन्तु छः अनादि पदार्थों में अविद्यादि पदार्थ भी अनादि कहे जाते हैं, उनका ज्ञान-काल में नाश सुना जाता है अर्थात् अविद्यादि पदार्थों का भी जन्म नहीं, क्योंकि वे अनादि हैं । परन्तु होकर फिर नहीं रहते हैं ऐसा भी यह आत्मा नहीं । सि० फिर कैसा है * यह (आत्मा) १३ जन्म-रहित १४ एक-रस १५ नित्य १६ सनातन १७ सि० है * शरीर के मारे जाने पर १८ । १९ नहीं २० मारा जाता है २१ अर्थात् शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता है ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अन्वय—यः १ एनम् २ अविनाशिनम् ३ नित्यम् ४ अजम् ५ अव्ययम् ६ वेद ७ पार्थ ८ सः ९ पुरुषः १० कम् ११ कथम् १२ हन्ति १३ कम् १४ घातयति १५ ।

अर्थ—ज्ञान-दृष्टि से सब क्रिया में आत्मा प्ररक भी निर्विकार है, इसहेतु मैं तेरा प्रेरक भी असंग हूं । मेरे निमित्त भी तुझको किसी प्रकार का शोच न करना चाहिये अर्थात् यह भी मत समझ कि श्रीभगवान् मुझको हिंसा में प्रेरित करते हैं, कहीं ऐसा न हो कि इस पाप के यही भागी हों । इस श्लोक में यही कहते हैं, जो १ इस (आत्मा) को २ अविनाशी ३ नित्य ४ अज ५ निर्विकार ६ जानता है ७ हे अर्जुन ! ८ सो ९ पुरुष १० किसको ११ किस प्रकार १२ मारता है अर्थात् आत्मा किसी को किसी प्रकार नहीं मारता है १३ मि० और * किसको १४ सि ० किस प्रकार * मरवाता है १५ अर्थात् किसी को किसी प्रकार भी नहीं मरवाता है । आत्मा किसी क्रिया में कर्ता का प्रेरक नहीं ।

तात्पर्य—श्रीमहाराज ने जैसे अपने को निर्विकार, अकर्ता, असंग, ऐसा निरूपण किया, वैसे ही जीव को भी निर्विकार कहा । इस कहने से जीव और ब्रह्म की एकता स्पष्ट सिद्ध है । इस प्रकरण का यही सिद्धान्त है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही २२

अन्वय—यथा १ नरः २ जीर्णानि ३ वासांसि ४ विहाय ५ अपराणि ६ नवानि ७ गृह्णाति ८ तथा ९ देही १० जीर्णानि ११ शरीराणि १२ विहाय १३ अन्यानि १४ नवानि १५ संयाति १६।

अर्थ— आत्मा को तो मैंने अविनाशी निर्विकार समझा । आत्मा के निमित्त तो मुझको अब किसी प्रकार का शोच नहीं अर्थात् आत्मा किसी क्रिया में न कर्ता है, न प्रेरक है, न कर्म है, और आत्मा के नाश करने में वा कम करने में न कोई साधन है । परन्तु आत्मा का शरीर से जो वियोग होता है इसके निमित्त तो शोच करना चाहिये, यह शंका करके कहते हैं । जैसे १

मनुष्य २ जीर्ण ३ वस्त्रों को ४ त्यागकर ५ और ६ नये ७ सि० वस्त्रों को * ग्रहण करता है ८ वैसे ही ९ आत्मा, जीव १० जीर्ण ११ शरीरों को १२ त्यागकर १३ और १४ नये १५ सि० शरीरों को * प्राप्त होता है १६ ।

तात्पर्य—न जाने दूसरा शरीर कैसा मिले, इसके निमित्त भी शोच न करना चाहिये । क्योंकि धर्मात्मा पुरुषों को निःसन्देह उत्तम शरीर मिलते हैं । पापियों को यह शोच करना चाहिये । धर्मात्मा पुरुषों को पुण्य की तारतम्यता से देवतों के शरीर मिलते हैं । पापात्मा नरक में जाते हैं, उनको नारकी शरीर मिलते हैं । मिले हुए कर्म करनेवालों को मनुष्यों के शरीर मिलते हैं । ज्ञानी महापुरुष मुक्त होते हैं । विना ब्रह्म-ज्ञान के सबको दूसरा शरीर मिलता है । चौदहवें अध्याय में इस प्रसंग का विशेष निरूपण करेंगे । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठों के मुख से श्रवण करने से गरुड़-पुराण आदि की प्रक्रिया भी इसी सिद्धान्त से मिल जाती है ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

अन्वय—एनम् १ शस्त्राणि २ न ३ छिन्दन्ति ४ पावकः ५ एनम् ६ न ७ दहति ८ आपः ९ एनम् १० न ११ च १२ क्लेदयन्ति १३ मारुतः १४ न १५ शोषयति १६ ।

अर्थ—पीछे कहा था कि आत्मा किसी प्रकार भी नहीं मारा जाता अर्थात् आत्मा किसी साधन द्वारा साध्य (सिद्ध) होने के योग्य नहीं, उसी को अब स्पष्ट करते हैं । इस आत्मा को १ शस्त्र २ नहीं ३ छेदन करते हैं ४ अग्नि ५ इसको ६ नहीं ७ जलाता है ८ जल ९ इसको १० नहीं ११ । १२ गलाता है १३ पवन १४ नहीं १५ सुखाता है १६ ।

तात्पर्य—और भी अन्य किसी साधन द्वारा साध्य नहीं है । आत्मा स्वयं-सिद्ध निर्विकार है । निरवयव होने पर भी क्रिया सावयव हैं । इसी हेतु आत्मा अक्रिय है ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अन्वय—अयम् १ अच्छेद्यः २ अदाह्यः ३ अक्लेद्यः ४ अशोष्यः ५ एव ६ च ७ नित्यः ८ सर्वगतः ९ स्थाणुः १० अचलः ११ सनातनः १२ अयम् १३ ।

अर्थ—शस्त्र आदि साधनों द्वारा आत्मा इसहेतु साध्य नहीं कि आत्मा निर्विकार आदि विशेषणों से विशेषित है। यह डेढ़ श्लोक में कहते हैं। यह (आत्मा) १ नहीं है छेदन करने योग्य २ नहीं है जलाने योग्य ३ नहीं है गलाने योग्य ४ नहीं है सुखाने योग्य ५ । ६ । ७ अर्थात आत्मा न छिद सकता है, न जल सकता है, न गल सकता है सि० क्योंकि * नित्य ८ सब जगह व्याप्त ९ स्थाणुवत् स्थिर १० निश्चल ११ सनातन १२ सि० है * यह १३ सि० आत्मा * (यहां पदों में पुनरुक्ति प्रतीत होती है इसका उत्तर प्रथम ही हम लिख आए हैं)॥ २४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अन्वय—अयम् १ अव्यक्तः २ अयम् ३ अचिन्त्यः ४ अयम् ५ अविकार्यः ६ उच्यते ७ तस्मात् ८ एवम् ९ एनम् १० विदित्वा ११ अनुशोचितुम् १२ न १३ अर्हसि १४ ।

अर्थ—यह आत्मा १ अव्यक्त मूर्ति-रहित २ सि० है * यह आत्मा ३ अचिन्त्य ४ सि० है अर्थात् चिन्तन करने में नहीं आता है। अन्तःकरण का विषय नहीं है * यह आत्मा ५ अविकारी ६ कहा है ७ सि० इस क्रिया का अचिन्त्य आदि सब पदों के साथ सम्बन्ध है। जब यह आत्मा ऐसा है * इस कारण ८ इस प्रकार ९ इस आत्मा को १० जानकर ११ पीछे शोच करने को १२ नहीं १३ योग्य है १४ ।

तात्पर्य—आत्मा का जो लक्षण पीछे निरूपण किया है, उसको समझकर शोच नहीं रहता है॥ २५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥२६॥

अन्वय—अथ १ च २ एनम् ३ नित्यजातम् ४ मन्यसे ५ वा ६

नित्यम् ७ मृतम् ८ महाबाहो ६ तथा १० अपि ११ एवम् १२ न १३ शोचितुम् १४ त्वम् १५ अर्हसि १६ ।

अर्थ—जो कदाचित् देहों के साथ आत्मा का जन्म-मरण तू समझता हो, तो भी शोच न करना चाहिये। और जो १।२ सि० कदाचित् * इस आत्मा को ३ नित्यजात ४ मानता है अर्थात् जीव का देहों के साथ सदा जन्म होता है ५ वा ६ सदा ७ मरता है ८ सि० देहों के साथ * हे अर्जुन ! ६ तो भी १०। ११ सि० जैसे अगले श्लोक में कहता हूं * इस प्रकार १२ नहीं १३ शोच करने को १४ तू १५ योग्य है १६ ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अन्वय—हि १ जातस्य २ मृत्युः ३ ध्रुवः ४ मृतस्य ५ च ६ जन्म ७ ध्रुवम् ८ तस्मात् ६ अपरिहार्ये १० अर्थे ११ त्वम् १२ शोचितुम् १३ न १४ अर्हसि १५ ।

अर्थ—जब कि १ जन्मवाले का २ मरण ३ निश्चय ४ सि० है अर्थात् जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा, इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण व्यवहार है * और मरे हुए का ५। ६ जन्म ७ निश्चय ८ सि० है अर्थात् जो मरता है, उसका जन्म अवश्य होता है। क्योंकि कर्ता होकर मरा है, अपने किए हुए कर्मों का भोग करने के लिये अवश्य जन्म लेगा। विना भोग वा विना ज्ञान कर्मों का कभी नाश नहीं होता है * इस कारण ६ अवश्यंभावि काम में १०। ११ तू १२ शोच करने को १३ नहीं १४ योग्य है १५ ।

तात्पर्य—जो काम अवश्य होनेवाला है, जिसका कुछ इलाज, यत्न, परिहार, प्रतीकार नहीं, उसका क्या शोच करना चाहिये ? जो होना है वह अवश्य होगा और जो नहीं होना है, वह कभी न होगा "यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा । अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि । तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥" जो भावि का प्रतीकार होता, तो राजा नल, राम, युधिष्ठिर आदि को क्यों दुःख होता ? वैसे ही भीष्म आदि का इन देहों से एक दिन अवश्य वियोग होना है। क्यों शोच करता है ?

वियोग अवश्यंभावि है, और राज्य धन आदि के निमित्त भी शोच मत कर। क्योंकि भीष्म आदि क्या धन को छोड़कर मर जावेंगे, अथवा पहले धन ही उनको छोड़ देगा, इस हेतु तू शोच मत कर ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अन्वय—भारत १ भूतानि २ अव्यक्तादीनि ३ व्यक्तमध्यानि ४ अव्यक्तनिधनानि ५ एव ६ तत्र ७ का ८ परिदेवना ९ ।

अर्थ—जैसे सीपी में चांदी की और रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, इसी प्रकार यह जगत् प्रतीत होता है, फिर क्यों शोच करता है। हे अर्जुन ! १ सि० पृथिवी आदि ये सब (अपने कार्य अन्तःकरणादि शरीर पुत्रादि के सहित) पंच * भूत २ सि० ऐसे हैं कि * अव्यक्त-अदर्शन अनुपलब्धि आदि है जिसका अर्थात् आदि में ये भूत अदर्शन-रूप थे, इनका दर्शन-मात्र भी नहीं था ३ सि० और * व्यक्त है मध्य जिनका ४ अर्थात् उत्पत्ति से पीछे नाश से पहले बीच में प्रतीत होते हैं, शुक्ति में रजतवत्। सि० और * अव्यक्त ही है मरण जिनका ५ अर्थात् इनका जो अदर्शन है वही इनका मरण है। नाश होने के पीछे भी ये नहीं दीखते हैं ५ निश्चय ६ अर्थात् निस्सन्देह यह जगत् अविद्या और भ्रांति से प्रतीत होता है ६ वहां ७ अर्थात् ऐसे पदार्थों के निमित्त (जिनकी गति पीछे कही गई है) ७ क्या ८ शोक, प्रलाप, विलाप ९ सि० करना चाहिये। भ्रान्ति के सर्प से काटा हुआ कोई नहीं मरता है। जो आदि और अन्त में नहीं, वह वर्तमान में भी नहीं है। श्रुति का यह वचन है—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥' *

तात्पर्य—यह संसार स्वप्नवत् है। इस संसार में ये भीष्म आदि, यह सब सेना, इनके साथ युद्ध करना और राज्य भोगना, ये सब स्वप्न के पदार्थ हैं। इनके निमित्त वृथा विलाप मत कर ॥ "शोकनिमित्तस्य प्रलापस्य नावकाशोऽस्तीत्यर्थः। कः शोकनिमित्तो विलापः प्रतिबुद्धस्य स्वप्नदृष्टवस्तुष्विव शोको न युज्यते इत्यर्थः" ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् २९

अन्वय—कश्चित् १ एनम् २ आश्चर्यवत् ३ पश्यति ४ तथा ५ एव ६ च ७ अन्यः ८ आश्चर्यवत् ९ वदति १० अन्यः ११ एनम् १२ आश्चर्यवत् १३ च १४ शृणोति १५ कश्चित् १६ श्रुत्वा १७ अपि १८ एनम् १९ न २० च २१ एव २२ वेद २३ ।

अर्थ—आत्मा का जानना एक आश्चर्य अलौकिक और अद्भुत बात है । आत्मा के जानने के लिये बहुत प्रयत्न करना चाहिये । कोई १ इस आत्मा को २ सि० शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न-ज्ञान चक्षु द्वारा असंख्यात पुरुषों में जो देखता है सो *आश्चर्यवत् ३ देखता है ४ अर्थात् लौकिक पदार्थों की तरह आत्मा देखा नहीं जा सकता और वैसे ही ५ । ६ । ७ कोई महात्मा ८ आश्चर्यवत् ९ कहता १० सि० है, आत्मा को * अन्य कोई महात्मा ११ इस आत्मा को १२ आश्चर्यवत १३ ही १४ सुनता है १५ कोई १६ सि० साधन-रहित पुरुष (तत्त्वमसि) 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों को * सुनकर १७ भी १८ इस आत्मा को १९ नहीं ही नहीं २० । २१ । २२ जानता है २३ ।

तात्पर्य—त्रिलोक वा चौदह लोक से भी सिवाय जिसके मत में कोई और ऊँचा वैकुंठ आदि लोक हो, उनमें नाम-रूपवाले, इन्द्रिय अन्तःकरण के विषय, जितने पदार्थ हैं, उन सब पदार्थों को लौकिक कहते हैं । जो पुरुष आत्मा को लौकिक पदार्थवत् सुना चाहता है, वा देखा चाहता है, वा कहा चाहता है, यह कभी नहीं हो सकता । क्योंकि आत्मा लौकिक पदार्थवत् नहीं, अलौकिक आश्चर्यवत् है । वह इन्द्रिय अन्तःकरण का विषय नहीं, सो सुना जावे, कहा जावे, देखा जावे, जाना जावे, अनुभव किया जावे (करामलकवत्) यही आश्चर्य है ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अन्वय—भारत १ अयम् २ देही ३ सर्वस्य ४ देहे ५ नित्यम् ६

अवध्यः ७ तस्मात् ८ सर्वाणि ९ भूतानि १० त्वम् ११ शोचितुम् १२ न १३ अर्हसि १४ ।

अर्थ—ग्यारहवें श्लोक से आत्मा का और अनात्मा का जो विवेक निरूपण करते हुए चले आते हैं, इस प्रकरण को अब समाप्त करते हैं। हे अर्जुन ! १ यह २ सि० शुद्ध सच्चिदानन्द * आत्मा ३ सबके ४ देह में ५ सि० ब्रह्माजी से लेकर चींटी पर्यंत* नित्य ६ अवध्य ७ सि० है अर्थात् इसका वध नहीं हो सकता और न यह मर सकता है। किसी क्रिया का विषय नहीं, अविकारी अक्रिय है * इसकारण ८ सब भूतों को ९ । १० अर्थात् कर्तृ-कर्म आदि रूप भूतों के निमित्त १० तू ११ शोच करने को १२ नहीं १३ योग्य है १४ ।

तात्पर्य—मरे और जीवितों के निमित्त तू शोच मत कर। जो पंडितों की सी बातें करता है तो फिर सच्चा ही पंडित होना चाहिये। पंडित ब्रह्मज्ञानी का नाम है, सो होना चाहिये ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अन्वय—स्वधर्मम् १ अपि २ च ३ अवेक्ष्य ४ विकम्पितुम् ५ न ६ अर्हसि ७ हि ८ धर्म्यात् ९ युद्धात् १० अन्यत् ११ क्षत्रियस्य १२ श्रेयः १३ न १४ विद्यते १५ ।

अर्थ—अब श्रीमहाराज लौकिक रीति से आठ श्लोकों द्वारा अर्जुन को समझाते हैं। अर्जुन ने पीछे कहा था कि महाराज ! अपने सम्बन्धियों को युद्ध में मारता हुआ समझकर मेरा शरीर कांपता है, उस वाक्य का स्मरण करके श्रीमहाराज कहते हैं कि प्रथम तो विचार-दृष्टि से तुझको घबराना न चाहिये। इसके सिवाय अपने धर्म का स्मरण करके भी तुझको घबराना योग्य नहीं, क्योंकि परमार्थ-दृष्टि से तो कांपने का सावकाश नहीं और, अपने धर्म को भी १ । २ । ३ देखकर ४ कांपने के लिये ५ [तू] नहीं योग्य है ६ । ७ सि० और यह जो तूने पीछे कहा कि रण में अपने सम्बन्धियों को मारकर अपना

भला नहीं देखता हूं, यह मत समझ * क्योंकि ८ धर्म-युक्त युद्ध से ६ । १० सि० सिवाय, पृथक् * अन्यत् ११ सि० भिक्षाटन आदि में * क्षत्रिय का १२ कल्याण (भला) १३ नहीं है १४ । १५ ।

तात्पर्य—इन आठ श्लोकों में (एकतीसवें से अड़तीसवें तक) प्रकरण का अर्थ तो यही है, जो अक्षरार्थ है, परन्तु तात्पर्य इन आठ श्लोकों का परमार्थ भी है । उसको इस प्रकार समझो कि क्षत्रिय अर्जुन की जगह तो मुमुक्षु वा ज्ञानी और युद्ध की जगह अन्तःकरण इन्द्रिय आदि का निरोध । श्रीमहाराज विद्वानों को समझाते हैं कि विचार-दृष्टि से भी शरीर आदि का निरोध करना चाहिये, घबराना योग्य नहीं । और अपने धर्म को भी देखकर इन्द्रियादिकों का विषयों से निरोध करना योग्य है; क्योंकि शास्त्र का तात्पर्य बहिर्मुखता में नहीं और जो पुरुष ज्ञान-निष्ठ नहीं, पूर्व-मीमांसा को वा उपासना को इष्ट-धर्म समझता है, तो भी अन्तःकरण आदि के निरोध-रूप धर्म से पृथक् अन्यत् बहिर्मुख होना इत्यादि उनका भला करनेवाला नहीं ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—पार्थ १ ईदृशम् २ युद्धम् ३ सुखिनः ४ क्षत्रियाः ५ लभन्ते ६ अपावृतम् ७ स्वर्ग-द्वारम् ८ यदृच्छया ९ च १० उपपन्नम् ११ ।

अर्थ—आनन्द का मार्ग अपने आप तुझको प्राप्त हुआ है, तू तो बड़ा भाग्यवान् है । शोच क्यों करता है ? हे अर्जुन ! १ ऐसे युद्ध को २ । ३ सुखी क्षत्रिय ४ । ५ अर्थात् स्वर्गादि-जन्य सुख के भोगनेवाले ५ प्राप्त होते हैं ६ अर्थात् ऐसा युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियों को प्राप्त होता है । सि० कैसा है यह युद्ध कि * खुला स्वर्ग का दरवाजा ७ । ८ और इच्छानुसार ९ । १० प्राप्त हुआ है ११ अर्थात् विना बुलाये विना प्रार्थना (इच्छा किए) अपने आप प्राप्त हुआ है ११ ।

तात्पर्य—यह मनुष्य-शरीर सुदुर्लभ, बड़े भाग्य से अपने आप ईश्वर

की कृपा से प्राप्त हुआ है। इसमें अन्तःकरण आदि का निरोध करना चाहिए। कैसा है कि खुला हुआ मोक्ष-द्वार है। परमानन्द जीवन्मुक्ति के भोगनेवाले महात्मा संघात का विरोध करते हैं। इस शरीर के प्राप्त होने का फल शब्द आदि भोग नहीं, और परलोक के भोग भी अनित्य होने से दुःख देनेवाले हैं। इस शरीर से मोक्ष-मार्ग में ही प्रयत्न करना योग्य है॥ ३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अन्वय—अथ १ चेत् २ त्वम् ३ इमम् ४ धर्म्यम् ५ संग्रामम् ६ न ७ करिष्यसि ८ ततः ९ स्वधर्मम् १० कीर्तिं ११ च १२ हित्वा १३ पापम् १४ अवाप्स्यसि १५।

अर्थ—व्यतिरेक मुख से पक्षान्तर में यह कहते हैं कि जो तू युद्ध न करेगा, तो तेरी बड़ी क्षति होगी, और १ जो २ तू ३ इस धर्म-युक्त संग्राम को ४।५।६ न करेगा ७।८ सि० तो * इस कारण ९ अपने धर्म को १० और कीर्ति को ११।१२ त्यागकर १३ पाप को १४ प्राप्त होगा १५ सि० परमार्थ यह है कि, जो इंद्रिय आदि का निरोध-रूप अपने धर्म को न करोगे, तो तुम्हारा धर्म न रहने से तुम्हारी कीर्ति भी नष्ट हो जायगी। ऐसा पाप करने से नरक को प्राप्त होगे।

तात्पर्य—धर्मात्मा वे ही हैं, जिनका संघात निरोध है। और जिनका यश सज्जनों में होवे, वे ही सुयशवाले हैं। यों तो अपने-अपने पेशे और जाति में कोई न कोई प्रधान कहलाता ही है॥ ३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

अन्वय—भूतानि १ ते २ अकीर्तिम् ३ च ४ कथयिष्यन्ति ५ अव्ययाम् ६ सम्भावितस्य ७ च ८ अकीर्तिः ९ मरणात् १० अपि ११ अतिरिच्यते १२।

अर्थ—यह नहीं समझना कि अकीर्ति होने से मेरी क्या क्षति होगी, दो चार वर्ष कहकर सब चुप हो जावेंगे। अपितु तेरी अकीर्ति सदा बनी रहेगी। छोटे-बड़े सब स्त्री-पुरुष प्राणी मात्र १

तेरी २ अकीर्ति को ३ भी ४ कहेंगे ५ सि० और तुझको नरक भी होगा। कैसी है वह अकीर्ति कि * सदा बनी रहेगी ६ सि० फिर इससे मेरी क्या क्षति होगी ? यह शंका करके कहते हैं कि अकीर्ति सब ही के वास्ते बुरी है * और प्रतिष्ठावाले पुरुष की ७।८ अकीर्ति ९ सि० तो * मरने से १० भी ११ सिवाय है १२।

तात्पर्य—जिस कीर्ति के वास्ते तुम दिन-रात प्रयत्न करते हो, यह चाहते हो कि हमारा नाम बना रहे। सो परमधर्म, जो संघात का निरोध करना है उसके न करने से सदा जीते-जी, और मरकर दूसरे जन्म में सदा अकीर्ति बनी रहेगी। जीते-जी तो लोगों की निन्दा सहनी पड़ेगी और मरकर यमराज के सामने दुर्दशा होगी, वह क्लेश मरने से भी अधिक है ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

अन्वय—महारथाः १ त्वाम् २ भयात् ३ रणात् ४ उपरतम् ५ मंस्यन्ते ६ येषाम् ७ च ८ त्वम् ९ बहुमतः १० भूत्वा ११ लाघवम् १२ यास्यसि १३।

अर्थ—लोग यह नहीं समझेंगे कि अर्जुन युद्ध में हिंसा को पाप समझकर उदासीन हुआ है। तो फिर क्या समझेंगे ? यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं। शूर-वीर दुर्योधन आदि १ तुझको २ सि० मरने के * भय से ३ रण से ४ हटा हुआ ५ मानेंगे ६ अर्थात् यह समझेंगे कि मरने का भय करके अर्जुन रण से भाग गया (हट गया) ६ सि० जो वे ऐसा ही समझेंगे तो इसमें मेरी क्या क्षति होगी ? यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं * जिनका अर्थात् दुर्योधन आदि का ७ और ८ सि० सिवाय उनके अन्य बहुत पुरुषों का * तू ९ बड़ा १० सि० कहलाता है। दुर्योधन आदि तुझको बड़ा गुणवाला मानते हैं ऐसा * होकर ११ छोटाई को १२ प्राप्त होगा १३ अर्थात् वे ही दुर्योधन आदि जो तुझको बड़ा गुणवाला शूर-वीर मानते हैं, कातर, नपुंसक और मूर्ख कहेंगे। यह तेरी क्षति होगी। जिनके बीच में

तू बहुगुणवाला माना जाता है, उन्हींके बीच में छोटाई को प्राप्त होगा १३ ।

तात्पर्य—जितेन्द्रिय महात्मा महापुरुष अजितेन्द्रिय बहिर्मुखों को ऐसा समझेंगे कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण का निरोध करना तो कठिन समझ रक्खा है । रोचक वाक्यों का आश्रय लेकर भोग भोगते हैं । धन्य समझ और धन्य साधन किंचिन्मात्र भी शास्त्र का तात्पर्य न समझा अग्नि को अग्नि से बुझाते हैं । अन्तःकरण आदि के निरोध को बखेड़ा बताते हैं । महात्मा लोग ऐसे पुरुषों को आलसी, प्रमादी, विषयी और बहिर्मुख मानते हैं । ज्ञान, भक्ति और कर्म का आश्रय लेकर जो बहिर्मुख अजितेन्द्रिय होंगे, वे नीचता को प्राप्त हो जावेंगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—तव १ सामर्थ्यम् २ निन्दन्तः ३ तव ४ अहिताः ५ बहून् ६ अवाच्यवादान् ७ च ८ वदिष्यन्ति ९ ततः १० दुःखतरम् ११ किम् १२ नु १३ ।

अर्थ—तुझको छोटा भी समझेंगे और तेरे १ पराक्रम की निंदा करते हुए २ । ३ तेरे ४ वैरी ५ सि० तेरे निमित्त * बहुत अवाच्य वचनों को ६ । ७ भी ८ अर्थात् न कहने के योग्य वचनों को भी ८ कहेंगे ९ सि० इससे मेरी क्या क्षति होगी ? यह शंका करके कहते हैं * उससे १० अर्थात् समर्थ होकर दुर्वाक्य सुनने से अधिक और १० विशेष दुःख ११ क्या १२ सि० होगा * 'नु' यह शब्द वितर्क में बोला जाता है, जैसे कोई किसी को धिक्कार कर कहे कि इस कुकर्म से अधिक और क्या होगा । ऐसे ही अर्जुन को ताना देकर श्रीमहाराज कहते हैं कि दुर्वाक्य सहने से अधिक और क्या दुःख होगा ? यह इस 'नु' शब्द का तात्पर्यार्थ है १३ ।

तात्पर्य—संसार में जो अजितेन्द्रिय बहिर्मुख हैं और दैव-योग से उनको धन प्राप्त हो गया है, वा राज्यादि अधिकार मिल गया है, उनको कोई बुरा न कहे, उनके अवगुण समझकर चुप रहे । यह नहीं हो सकता, किन्तु वेद

वेदान्त, पातंजल शास्त्र उनकी निन्दा करते हैं। इनके सिवा निःस्पृही सज्जन साधु लोग भी उनको बुरा समझते हैं। प्रसंग से कह भी देते हैं। और जो गृहस्थ लोग मुख पर नहीं कहते, तो पीछे बुरा कहते हैं। अब विचारो कि इससे अधिक उन अभागों की और विशेष दुःख क्या होगा? उनके सिवाय और कौन बुरा है, जिनकी वेद, शास्त्र और महात्मा बुराई करें ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अन्वय—हतः १ वा २ स्वर्गम् ३ प्राप्स्यसि ४ वा ५ जित्वा ६ महीम् ७ भोक्ष्यसे ८ कौन्तेय ९ तस्मात् १० उत्तिष्ठ ११ युद्धाय १२ कृतनिश्चयः १३।

अर्थ—पीछे अर्जुन ने कहा था कि यह नहीं ज्ञात हो सकता, ये मुझको जीतेंगे वा मैं इनको जीतूंगा। उस वाक्य का स्मरण करके श्रीमहाराज यह कहते हैं कि तेरा दोनों प्रकार भला होगा। सि० युद्ध म * जो मर गया १। २ सि० तो तू मरकर स्वर्ग को ३ प्राप्त होगा ४ और ५ सि० जो जीत गया तो * जीतकर ६ पृथिवी को ७ भोगेगा अर्थात् राज्य करेगा ८ हे अर्जुन! ९ इस कारण १० उठ खड़ा हो ११ अर्थात् दोनों प्रकार अपनी भलाई समझकर युद्ध कर ११ सि० कैसा है तू * युद्ध के लिये १२ किया है निश्चय जिसने १३ अर्थात् युद्ध करने का निश्चय करके तू यहां आया है, अब क्यों कायरपना करता है?

तात्पर्य—पहिले ही अर्जुन ने युद्ध करने का निश्चय कर लिया है। कुछ श्रीमहाराज का आशय युद्ध कराने का नहीं है। तू युद्ध कर, खड़ा हो, यह प्रासंगिक लौकिक रीति है। अभिप्राय श्रीमहाराज का परमार्थ में ही है। परमार्थ यह है कि श्रीमहाराज भक्तों से कहते हैं, जो तुम शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण का निरोध करते करते मर गये, तो बड़े-बड़े लोकों को प्राप्त होगे और जो अन्तःकरण आदि को तुमने जीत लिया (वश में कर लिया) तो ज्ञान द्वारा जीवन में ही जीवन्मुक्ति का आनन्द भोगोगे। ऐसा विचार सावधान होकर इन्द्रिय आदि का निरोध करो। दोनों पक्ष में आनन्द है। नर-शरीर दुर्लभ है। "नर-तनु पाय विषय मन देहीं। पलटि सुधा तें शठ विष लेहीं" ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वय—सुखदुःखे १ समे २ कृत्वा ३ लाभालाभौ ४ जयाजयौ ५ ततः ६ युद्धाय ७ युज्यस्व ८ एवम् ९ पापम् १० न ११ अवाप्स्यसि १२ ।

अर्थ—पीछे अर्जुन ने कहा था कि युद्ध करने में मुझको पाप होगा, उस वाक्य का स्मरण करके श्रीमहाराज यह कहते हैं । सुख-दुःख को १ समान २ करके ३ अर्थात् इन दोनों को फल में बराबर समझकर ३ लाभ को और अलाभ को ४ जय को और अजय को ५ सि० भी समान समझकर * पीछे उसके ६ युद्ध के वास्ते ७ चेष्टा कर अर्थात् युद्ध कर ८ इस प्रकार ९ [तू] पाप को १० नहीं ११ प्राप्त होगा १२ ।

तात्पर्य—सुख-दुःख का कारण लाभ और अलाभ है । लाभ और अलाभ का कारण जय और अजय है । इन सबमें राग-द्वेष-रहित होकर युद्ध कर, कभी पाप न होगा । परमार्थ यह है कि अन्तःकरण आदि के निरोध-काल में सुख-दुःख को इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति को, बराबर समझना चाहिये, हर्ष शोक न करना चाहिए । प्रथम तो अन्तःकरण आदि के निरोध-काल में विघ्न, दुःख और अपमान आदि बहुत होते हैं और फिर सुख सम्मान आदि भी बहुत हैं । दोनों में हर्ष शोक त्यागकर अन्तःकरण का निरोध करता ही रहे । इस प्रकार बन्धन को नहीं प्राप्त होगे । और जो दुःख, सुख, विघ्न और सम्मान के झपट्टे में आ गये वा स्वर्ग आदि फल में फँस गये तो फिर बन्धन से छूटना कठिन है । अन्तःकरण आदि का निरोध निष्काम होकर करना योग्य है । इस प्रकार बहिरंग कर्मों के त्याग में पाप न होगा ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अन्वय—एषा १ सांख्ये २ बुद्धिः ३ ते ४ अभिहिता ५ योगे ६ तु ७ इमाम् ८ शृणु ९ पार्थ १० यया ११ बुद्ध्या १२ युक्तः १३ कर्मबन्धम् १४ प्रहास्यसि १५ ।

करके जन्म मरण (दुःख-रूप संसार) से छोड़ाकर पूर्ण-ब्रह्म परमानंद-स्वरूप आत्मा को प्राप्त करता है। पिछले पूर्व-पक्ष में कहे हुए सब दोष सकाम कर्मों में हैं। निष्काम-कर्म और सकाम कर्मों में बड़ा भेद है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—कुरुनन्दन १ इह २ व्यवसायात्मिका ३ बुद्धिः ४ एका ५ अव्यवसायिनाम् ६ बुद्धयः ७ अनन्ताः ८ च ९ बहुशाखाः १० हि ११।

अर्थ—जब निष्काम कर्म-योग का यह अद्भुत माहात्म्य आप कहते हैं, तो सब लोग इसी का अनुष्ठान क्यों नहीं करते? मूर्तिमान् परमेश्वर का दर्शन, वैकुंठ स्वर्ग आदि फल, क्यों चाहते हैं? यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं कि हे अर्जुन! इस मोक्ष-मार्ग में २ सि० मुमुक्षु अन्तर्मुख व्यवसायी पुरुषों के विषय * निश्चय-स्वरूपवाली ३ अर्थात् निश्चय करनेवाली आत्मा की ३ बुद्धि अर्थात् ज्ञान ४ एक ५ सि० ही है * तात्पर्य, इस अर्थ में जिस बुद्धि का निश्चय है अर्थात् निश्चल है जो बुद्धि इस अर्थ में, जिससे निष्काम भगवत्आराधना आदि कर्म-योग करके अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त होकर निःसन्देह परात्पर परमानन्द पूर्णब्रह्म आत्मा को (जिसको परमगति कहते हैं) जीव प्राप्त होता है, उसका नाम व्यवसायात्मिका बुद्धि है सो यह मोक्ष-मार्ग एक ही है अर्थात् इस एक ज्ञान के सिवाय और दूसरा कोई ज्ञान, मोक्ष का हेतु नहीं और जिनका यह निश्चय नहीं उनको अव्यवसायी बहिर्मुख प्रमाद-जनित विवेक-बुद्धि-रहित कहते हैं। उनके ६ ज्ञान ७ अनन्त ८ और ९ बहुत शाखा-भेदवाले १० भी ११ सि० हैं *

तात्पर्य—वैदिक मार्ग तो सनातन से एक ही चला आता है, जो पूर्व निरूपण किया गया। स्मार्त मत से उसका विरोध नहीं, और कल्पित मत अनन्त हैं, और एक एक में भी नाना भेद हैं जिनको नये मत के लोगों ने कल्पित किये हैं। श्रौत, स्मार्त और सनातन मार्ग को छोड़ दिया है। इसका हेतु तेंतालीसवें श्लोक में श्रीमहाराज कहेंगे ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

अन्वय—याम् १ वाचम् २ पुष्पिताम् ३ प्रवदन्ति ४ पार्थ ५ इमाम् ६ वेदवादरताः ७ अविपश्चितः ८ न ९ अस्ति १० अन्यत् ११ इति १२ वादिनः १३ ।

अर्थ—जिसको आप प्रमाण-जनित विवेक-बुद्धि-रहित बहिर्मुख अव्यवसायी कहते हैं, वे क्या विना प्रमाण के कर्म उपासना करते हैं, यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं कि उनके प्रमाणों को सुन । सि० वेदों के सिद्धान्त का तात्पर्य जाननेवाले महात्मा व्यवसायी * जिस वाणी को १ । २ पुष्पिता ३ कहते हैं ४ तात्पर्य, जैसे किसी वृक्ष में फूल तो बहुत सुंदर दीखे परन्तु फल उसमें नहीं लगता, वा लगता है, तो कडुवा, ऐसे ही वेदों में रोचक वाक्य हैं, अर्थात् अर्थवादवाली श्रुतियाँ हैं । सुनने में तो वे बहुत प्रिय प्रतीत होता हैं किन्तु फल उनका कुछ नहीं, अर्थात् जो फल उनका अव्यवसायी कहते हैं वह फल उन श्रुतियों का नहीं, जैसे व्रत तीर्थ आदि का माहात्म्य अर्थवाद है । उनका तात्पर्य अन्तःकरण की शुद्धि और चित्त की एकाग्रता से है, स्वर्ग वैकुंठ पुत्र आदि से नहीं । ऐसी ऐसी वाणी को, जिसको वेद पुष्पित कहते हैं, हे अर्जुन ! इसको ५ । ६ सि० ही अव्यवसायी मोक्ष का साधन सिद्धान्त कहते हैं । कैसे हैं वे अव्यवसायी * वेद-वाद में प्रीति है जिनकी ७ अर्थात् वेदों में जो अर्थवाद (रोचक वाक्य) हैं, वे उनको प्रिय लगते हैं, और चर्चा करने के वास्ते (अपनी पंडिताई दिखाने के लिये) उन अर्थवादों को कंठ कर लेते हैं, वे ७ अविवेकी, मन्दमति, बहिर्मुख ८ सि० फिर कैसे हैं ये लोग कि आप अज्ञानी बनें तो बनें, किन्तु ब्रह्म-ज्ञान का भी खंडन करते हुए ब्रह्म-ज्ञानी को अज्ञानी बनाते हैं । तात्पर्य, वे यह कहते हैं कि जो हमारा मत है अर्थात् भेद सिद्धान्त है, इसके सिवाय * नहीं ९ है १० अन्यत् ११ सि० और कोई

मत सिद्धान्त, अद्वैत, ब्रह्म-ज्ञान, ज्ञान-निष्ठा और संन्यास जो कुछ हम कहते हैं यही सिद्धान्त है * यह १२ कहने का स्वभाव है जिनका १३ ।

तात्पर्य—वेदान्त में दोष निकालने और यही बकने का स्वभाव है जिनका, और भी इनके विशेषण अगले श्लोक में हैं ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

अन्वय—कामात्मानः १ स्वर्गपराः २ जन्मकर्मफलप्रदाम् ३ भोगैश्वर्यगतिम् ४ प्रति ५ क्रियाविशेषबहुलाम् ६ ।

अर्थ—ऐसा अनर्थ वे क्यों करते हैं, इस अपेक्षा में श्रीमहाराज कहते हैं कि वे, कामी विषयी अर्थात् बहिर्मुख १ सि० हैं फिर कैसे हैं कि * स्वर्ग ही है परम पुरुषार्थ की अवधि जिनकी २ सि० इस विशेषण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञ, दान, व्रत, तीर्थ और भगवत् आराधन आदि जो करते हैं, वह कैवल्य मोक्ष के लिये नहीं करते, किन्तु भोगों के लिये करते हैं। स्वर्गपद उपलक्षण है अर्थात् वैकुंठ गोलोक आदि सावयवलोक सब आ गये। पिछले श्लोक में जो कहा था कि वे इस पुष्पिता वाणी को सिद्धान्त कहते हैं, उस वाणी के विशेषण और भी सुन। कैसी है वह वाणी * जन्म-कर्म फल की देनेवाली ३ सि० है अर्थात् उस वाणी के अनुसार जो कर्म किया जाता है उस कर्म का यही फल है कि बार-बार संसार में जन्म हो, जन्म ही उस कर्म का फल है। फिर कैसी है * भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के प्रति ४।५ सि० अर्थात् वह वाणी भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये साधन है। उस वाणी के अनुसार अनुष्ठान करने से भोग की और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। फिर कैसी है वह वाणी * क्रिया विशेष बहुत हैं जिसमें ६ सि० अर्थात् उस वाणी में नाना प्रकार की क्रिया हैं, और एक-एक क्रिया का अन्त नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि अनन्त अर्थात् बहुत हैं। हे अर्जुन ! अव्यवसायियों के ऐसे-ऐसे वाक्यों का

क्या प्रमाण है । ऐसी-ऐसी वाणी बकते हुए संसार में भ्रमते रहते हैं । ऐसे पुरुषों को साक्षात् मोक्ष की साधन-रूप व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं उत्पन्न होती है । अगले श्लोक के साथ इसका अन्वय है * ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अन्वय—भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम् १ तया २ अपहृतचेतसाम् ३ समाधौ ४ व्यवसायात्मिका ५ बुद्धिः ६ न ७ विधीयते ८ ।

अर्थ—भेद-वादी सदा ब्रह्म-ज्ञान से विमुख रहकर संसार में भ्रमते हैं । श्रीमहाराज यह कहते हैं कि भोग और ऐश्वर्य में जो आसक्त हैं १ मि० और * उससे अर्थात् उस पुष्पिता वाणी से २ हरा गया है चित्त जिनका अर्थात् उस पुष्पिता वाणी से ३ उनकी विवेक-बुद्धि आच्छादित हो गई अर्थात् ढक गई है उनके १ अन्तःकरण में ४ व्यवसायात्मिका बुद्धि ५ । ६ नहीं ७ उत्पन्न होती है वा नहीं स्थिर होती ८ अर्थात् उनका चित्त शान्त नहीं होता, क्योंकि वे सदा इस लोक और परलोक के विषयों में तत्पर रहते हैं ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

अन्वय—त्रैगुण्यविषयाः १ वेदाः २ अर्जुन ३ निस्त्रैगुण्यः ४ भव ५ निर्द्वन्द्वः ६ नित्यसत्त्वस्थः ७ निर्योगक्षेमः ८ आत्मवान् ९ ।

अर्थ—जब कि वेदों में ही पुष्पिता वाणी (रोचक) अर्थात् निष्फल वाक्य हैं, तो उन वाक्यों के कहनेवाले का, और उन वाक्यों के अनुसार अनुष्ठान करनेवाले का क्या दोष है ? यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं कि क्या वेदों में केवल पुष्पिता वाणी ही है, क्या साक्षात् मोक्ष का साधन उसमें नहीं है ? अर्थात् वेदों में रोचक वाक्य भी हैं, और साक्षात् मोक्ष के साधन मंत्र भी हैं । प्रत्युत मारण उच्चाटन आदि मंत्र बहुत हैं ।

१—जो समाधान किया जावे उसको भी समाधि कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से यहाँ समाधि का अर्थ अन्तःकरण है ।

परंतु मुमुक्षु को सिवाय साक्षात् मोक्ष-साधनों के और वाक्यों से कुछ काम नहीं। इस गीता-शास्त्र में मैं साक्षात् मोक्ष का साधन ब्रह्म-विद्या निरूपण करता हूं। समस्त वेदवाक्यों से यहां कुछ प्रयोजन नहीं, जो उनका प्रमाण दिया जावे। मुमुक्षु का प्रयोजन केवल मोक्ष के साधनों से है, सोई सुन। सत्त्व-गुणी, रजो-गुणी और तमो-गुणी कामनावाले पुरुषों के विषय १ सि० भी हैं * वेद अर्थात् जैसे को तैसा फल देनेवाले भी हैं और साक्षात् मोक्ष के साधन भी हैं २ हे अर्जुन! ३ सि० परन्तु तुझको तो मैं साक्षात् मोक्ष का साधन ब्रह्म-विद्या सुनाता हूं। इस समय तू * गुणातीत निष्काम ४ हो ५ सि० रोचक वाक्यों की तरफ दृष्टि मत कर, गुणातीत होने का साधन यह है * द्वन्द्व-रहित ६ सि० हो अर्थात् प्रारब्ध-वशात् जो सुख-दुःख, इष्ट अनिष्ट आदि प्राप्त हों, सबको सहन कर, सुख-दुःख आदि की प्राप्ति में हर्ष-विषाद के वश मत हो। निर्द्वन्द्व होने में यह साधन है कि * नित्यसत्त्व जो आत्मा उसमें स्थित ७ सि० हो अर्थात् आत्म-निष्ठ हो अथवा सदा सत्त्व-गुण में दीर्घकाल तक स्थित हो सकती है। इसीवास्ते यह कहते हैं कि * योगक्षेम-रहित ८ सि० हो अर्थात् जो लौकिक पदार्थ प्राप्त नहीं, उसकी प्राप्ति का उपाय मत कर और जो प्राप्त है उसकी रक्षा का प्रयत्न मत कर। पूर्वोक्त साधनों का हेतु यह साधन है कि * अप्रमत्त ९ सि० हो अर्थात् प्रमादी प्रमत्त मत हो। सदा चैतन्य अनालस्य रहना योग्य है। विषयों से विमुख होकर आत्मा के सम्मुख होना चाहिये। जिसके पूर्वोक्त साधन नहीं, उसे मोक्ष-मार्ग में प्रयत्नवान् होना कठिन है *॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

अन्वय—यावान् १ अर्थः २ उदपाने ३ सर्वतः ४ संप्लुतोदके ५ सर्वेषु ६ वेदेषु ७ तावान् ८ विजानतः ९ ब्राह्मणस्य १०।

अर्थ—इस लोक और परलोक के सुन्दर भोगों से हटकर

निष्काम गुणातीत होना आप कहते हो इसमें क्या आनन्द है यह तो रूखी सूखी शिला प्रतीत होती है। यह सुन्दर कर्म उपासना करके स्वर्ग वैकुंठ आदि में जाकर आनन्द भोगना योग्य है। यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं कि सि० जैसे * जितना १ प्रयोजन २ उद्पान में ३ सि० जगह-जगह भ्रमने से सिद्ध होना है अर्थात् जल-पान किया जावे जिसमें, उसको उद्पान कहते हैं, कूप सर सरिता आदि का नाम उद्पान है। कूप आदि के जलों में स्नान करना, तैरना और नाव का चलाना इत्यादि प्रयोजन एक ही जगह सिद्ध नहीं हो सकते, जहां तहां भ्रमने से सिद्ध होते हैं। जितना प्रयोजन उद्पान में जहां तहां भ्रमने से सिद्ध होना है वह * समस्त ४ समुद्र में ५ सि० एक ही जगह सिद्ध हो जाता है। अर्थात् जैसे समुद्र में उद्पानों * के सब प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, तैसे ही जितना * सब वेदों में ६। ७ सि० जो फल है अर्थात् समस्त वेदोक्त कर्म उपासना योग आदि का अनुष्ठान करने से जो फल (जगह जगह स्वर्ग वैकुंठ आदि में भ्रमने से) परिच्छिन्न आनन्द प्राप्त होता है * उतना ही ८ अर्थात् वह सब फल, प्रत्युत उससे भी विशेष पूर्ण निरतिशयानन्द फल ८ परमार्थ-तत्त्व के जाननेवाले परमहंस ब्रह्म-विज्ञानी ब्राह्मण को ९। १० सि० प्राप्त होता है।

तात्पर्य— स्वर्ग वैकुंठ आदि आनन्द के साधन हैं मुख्य फल परमानन्द है। सोई गुणातीत निष्काम ब्रह्म-ज्ञानी का स्वरूप है। पूर्ण परमानन्द विद्वानों को ही प्राप्त होता है। ब्रह्म-विदों के सिवाय दूसरों को पूर्ण परमानन्द नहीं प्राप्त होता है। जैसे कूप आदि जलों से सब प्रयोजन नहीं सिद्ध होते हैं। इसीहेतु से गुणातीत निष्काम ब्रह्म-निष्ठ होना ही सबसे श्रेष्ठ है * ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अन्वय—ते १ अधिकारः २ कर्मणि ३ एव ४ मा ५ फलेषु ६ कदाचन ७ कर्मफलहेतुः ८ मा ९ भूः १० ते ११ अकर्मणि १२ संगः १३ मा १४ अस्तु १५।

अर्थ—जो ब्रह्म-ज्ञानी को सब फलों की प्राप्ति होती है, तो ब्रह्म-ज्ञान का ही अनुष्ठान करके इस लोक और परलोक के सब भोगों को भोगना योग्य है। अल्प फलदायक कर्म, उपासना और योग आदि का अनुष्ठान करने की कुछ आवश्यकता नहीं। प्रयोजन तो हमारा फल से है सो ज्ञान-निष्ठा से ही प्राप्त हो जायगा, यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं कि तेरा १ अधिकार २ सि० तो * कर्म में ३ ही ४ सि० और * नहीं है ५ फल में ६ कभी ७ सि० तेरा अधिकार, अर्थात् साधन अवस्था में सिद्ध अवस्था में, वा किसी अवस्था में भी स्वर्ग वैकुंठ आदि फल भोगों में अधिकार नहीं। क्योंकि तू मुमुक्षु है, तूने परम श्रेय का साधन मुझसे पूछा है, हे अर्जुन! मुमुक्षु का अधिकार अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्मों में तो है, परंतु स्वर्ग वैकुंठ आदि के भोगों में नहीं है। क्योंकि प्रथम तो वे अनित्य आदि दोषों से दूषित हैं, और मोक्ष में प्रतिबन्धक हैं, इस हेतु * कर्मों के फल में हेतु ८ मत ९ हो १० अर्थात् मन में कर्मों के फल की तृष्णा मत रख कि जिससे कर्मों के फल की प्राप्ति का हेतु तुझको होना पड़े। तात्पर्य, कर्मों के फल की प्राप्ति में तृष्णा हेतु है उसको त्याग, और १० तेरा ११ अकर्म में १२ संग प्रीति याने निष्ठा १३ मत १४ हो १५ अर्थात् जब तक अन्तःकरण शुद्ध होवे तब तक कर्म में तेरी निष्ठा रहे। यह उपदेश है, और निर्विघ्नता के लिये आशीर्वाद भी है॥ ४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

अन्वय—धनञ्जय १ योगस्थः २ संगम् ३ त्यक्त्वा ४ सिद्ध्यसिद्ध्योः ५ समः ६ भूत्वा ७ कर्माणि ८ कुरु ९ योगः १० समत्वम् ११ उच्यते १२।

अर्थ—कर्म करने की विधि कहते हैं। हे अर्जुन! १ योग में स्थित होकर २ सि० कर्मों में और कर्मों के फल में * आसक्ति को ३ त्यागकर ४ सि० और कर्मों की * सिद्धि और असिद्धि

में ५ सम होकर ६ । ७ कर्मों को ८ कर ६ योग १० समता को ११ कहते हैं १२ अर्थात् समता में स्थित होकर कर्म कर ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४६ ॥

अन्वय—धनञ्जय १ बुद्धियोगात् २ कर्म ३ दूरेण ४ हि ५ अवरम् ६ बुद्धौ ७ शरणम् ८ अन्विच्छ ६ फलहेतवः १० कृपणाः ११ ।

अर्थ—हे धनञ्जय ! १ ज्ञान-योग से २ कर्म ३ अत्यन्त ४ । ५ निकृष्ट ६ सि० हैं अर्थात् श्रेष्ठ नहीं, इसवास्ते * ज्ञान में ७ रक्षा करनेवाले की ८ प्रार्थना कर ६ तात्पर्य, अभय-प्राप्ति का जो कारण परमार्थ-ज्ञान, उसकी प्रार्थना (जिज्ञासा) कर, उसकी शरण हो, परमार्थ-ज्ञान का आश्रय ले । कामनावाले फल की तृष्णा करनेवाले १० दीन याने अज्ञानी ११ सि० होते हैं *

तात्पर्य—कर्मों से अन्तःकरण शुद्ध करके ज्ञान-निष्ठ होना चाहिए । स्वर्ग आदि की इच्छा नहीं रखना चाहिए ॥ ४६ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

अन्वय—बुद्धियुक्तः १ इह २ सुकृतदुष्कृते ३ उभे ४ जहाति ५ तस्मात् ६ योगाय ७ युज्यस्व ८ योगः ६ कर्मसु १० कौशलम् ११ ।

अर्थ—ज्ञानयुक्त ११ जीते ही २ पुण्य और पाप इन दोनों को ३ । ४ त्याग देना है ५ इस कारण ज्ञान-योग के वास्ते ६ । ७ प्रयत्न कर ८ ज्ञान-योग ६ कर्मों में १० चतुरता ११ सि० है *

तात्पर्य—कर्म करने में चतुरता क्या है कि बन्धन-रूप कर्मों में से ज्ञान को प्राप्त हो जाना, अर्थात् कर्म करके अकर्म हो जाना, यही कर्म करने में चतुरता है । नहीं तो जो कर्म करने से इसी जन्म में ब्रह्म-ज्ञानी न हुआ, तो कर्मों का करना निष्फल हुआ ॥ ५० ॥ ●

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

अन्वय—बुद्धियुक्ताः १ हि २ मनीषिणः ३ कर्मजम् ४ फलम् ५ त्यक्त्वा ६ जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः ७ अनामयम् ८ पदम् ९ गच्छन्ति १० ।

अर्थ—ज्ञानयुक्त १ ही २ पंडित ३ कर्म से प्राप्त हुए ४ फल को ५ त्याग कर ६ जन्म-रूप बन्धन से छूटे हुए ७ समस्त उपद्रव-रहित पद को ८ । ९ प्राप्त होते हैं १० ।

तात्पर्य—कर्मों से जो स्वर्ग वैकुंठ आदि फल विशेष उत्पन्न होते हैं (प्राप्त होते हैं) उनका त्याग करके ज्ञानी पंडित ही मुक्त होते हैं । उपासक योगी पंडित अपने किए हुए कर्मों के फल को प्राप्त होते हैं; मोक्ष को नहीं प्राप्त होते ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

अन्वय—यदा १ ते २ बुद्धिः ३ मोहकलिलम् ४ व्यतितरिष्यति ५ तदा ६ श्रोतव्यस्य ७ श्रुतस्य ८ च ९ निर्वेदम् १० गन्तासि ११ ।

अर्थ—यह कर्म करते-करते मैं किस काल में ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी हूंगा, और मेरा चित्त शान्त होकर आत्मा में कब आत्माकार होगा, इस अपेक्षा में श्रीमहाराज अर्जुन के प्रति दो श्लोकों में यह कहते हैं । जिस काल में १ तेरी २ बुद्धि ३ मोह-रूप कीच को ४ भले प्रकार तरेगी ५ अर्थात् देह आदि पदार्थों में जो तेरी आत्म-बुद्धि है, देह आदि पदार्थों को जो तू अपना आत्मा समझता है, वा उनमें ममता करता है वा उनके साथ आत्मा की एकता समझता है, वा तादात्म्य अध्यास करता है, इसी को मोह-रूप कीच कहते हैं । यह तेरा अविवेक जब दूर हो जायगा, उस काल में (तब) ६ श्रुत और श्रोतव्य के ७ । ८ । ९ वैराग्य को १० [तू] प्राप्त होगा ११ ।

तात्पर्य—पीछे जो कुछ सुना है, और आगे जो कुछ सुनने योग्य समझ रक्खा है, उससे तुझको वैराग्य हो जायगा । न कुछ सुनने की इच्छा करेगा, और न सुने हुए में कुछ संशय रहेगा । इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों से उपराम होकर ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त होगा । उक्तं च—"ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी विचार्य च पुनः पुनः । पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥" इसका अर्थ यह है

कि मुमुक्षु प्रथम ग्रंथों का भले प्रकार अभ्यास करके बार-बार विचारकर, फिर अपने स्वरूप को प्राप्त होकर ग्रंथों को त्याग देता है, जैसे धान की इच्छावाला पयाल को त्याग देता है और धान का ग्रहण करता है। श्रुति श्रोतव्य से वैराग्य होना इसको कहते हैं ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अन्वय—यदा १ ते २ बुद्धिः ३ समाधौ ४ निश्चला ५ अचला ६ स्थास्यति ७ तदा ८ योगम् ९ अवाप्स्यसि १० श्रुतिविप्रतिपन्ना ११।

अर्थ—सि० और * जिस काल में १ तेरी २ बुद्धि ३ आत्मा में ४ विक्षेप-रहित ५ विकल्प-रहित ६ स्थित होगी ७ उस काल में ८ समाधि योग को ९ प्राप्त होगा [तू] १० सि० अब तक कैसी है तेरी बुद्धि कि अनेक शास्त्र पुराण इतिहास आदि और श्रुति स्मृति आदि के * श्रवण करने से विक्षेप को प्राप्त हुई है ११।

तात्पर्य—जब तक पूर्वापर वाक्यों का अविरोध समन्वय नहीं समझेगा, तब तक चित्त की शान्ति कभी न होगी, और वेद शास्त्र में अवश्य श्रद्धा विश्वास करके आत्मनिष्ठ होना योग्य है। रोचक वाक्यों में नहीं अटकना, यही इस प्रकरण का अभिप्राय है ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अन्वय—केशव १ समाधिस्थस्य २ स्थितप्रज्ञस्य ३ का ४ भाषा ५ स्थितधीः ६ किम् ७ प्रभाषेत ८ किम् ९ आसीत १० किम् ११ व्रजेत १२।

अर्थ—ब्रह्म-ज्ञानी के लक्षण जानने की इच्छा करके अर्जुन श्रीभगवान् से प्रश्न करता है, हे केशव! १ सि० स्वभाव से ही जो * निर्विकल्प समाधि में स्थित है २ सि० और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्यार्थ में दृढ़ * स्थित है बुद्धि जिसकी,

उसकी ३ क्या ४ भाषा ५ सि० है, अर्थात् और लोग उसको कैसा कहते हैं। कहा जावे अन्य करके उसको भाषा कहते हैं।

तात्पर्य—उसका लक्षण क्या है; और आत्म-स्वरूप में ही * निश्चय है बुद्धि जिसकी, सो ६ कैसे ७ बोलता है ? ८ कैसे ९ बैठता है ? १० कैसे ११ चलता है ? १२ अर्थात् उस ज्ञानी का बोलना, बैठना और चलना किस प्रकार का है ? यह तीन प्रश्न उस ज्ञानी के प्रति हैं, जो सविकल्प समाधि में स्थित है। और पहला प्रश्न निर्विकल्प समाधिवाले ज्ञानी के प्रति है। तात्पर्य, ब्रह्म-ज्ञानी की समाधि किसी समय स्वाभाविक निर्विकल्प बनी रहती है और किसी समय प्रयत्न से और किसी समय सविकल्प अंतःकरण की वृत्ति हो जाती है। अर्जुन दोनों प्रकार के ज्ञानियों का लक्षण पूछता है ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

अन्वय—पार्थ १ यदा २ सर्वान् ३ कामान् ४ प्रजहाति ५ मनोगतान् ६ आत्मना ७ आत्मनि ८ एव ९ तुष्टः १० तदा ११ स्थितप्रज्ञः १२ उच्यते १३।

अर्थ—साधक के लिये जो ज्ञान के साधन हैं वे ही सिद्ध के स्वाभाविक लक्षण हैं। अर्जुन के प्रश्न अनुसार ज्ञानी का लक्षण श्रीमहाराज निरूपण करते हैं, और साधक के लिये यही अन्तरंग-ज्ञान के साधन हैं। अब प्रथम प्रश्न का उत्तर दो श्लोकों में कहते हैं, हे अर्जुन ! १ जिस काल में २ सब कामनाओं को ३। ४ त्याग देता है ५ सि० जो महापुरुष, कैसी हैं वे कामनाएँ, इस लोक के पदार्थों की सूक्ष्म वासना * मन में प्रवेश हो रही हैं ६ तात्पर्य, जिस काल में सूक्ष्म वासना सहित समस्त (इस लोक परलोक की) वासनाएँ त्याग देता है, और पूर्णानन्द-स्वरूप ऐसे आत्मा करके ७ आत्मा में ८ ही ९ तृप्त १० सि० है, जिस काल में जो महापुरुष उसको * उस काल में ११ स्थितप्रज्ञ १२ कहते हैं १३।

तात्पर्य—ब्रह्माकार वृत्ति में निश्चल हो रही है बुद्धि जिसकी, उसको महात्मा ब्रह्म-ज्ञानी कहते हैं और निर्विकल्प समाधि सहित ब्रह्म-ज्ञान का साधन समस्त वासना का त्याग. सार है "वासना संपरित्यागः" यही वसिष्ठजी ने भी कहा है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

अन्वय—दुःखेषु १ अनुद्विग्नमनाः २ सुखेषु ३ विगतस्पृहः ४ वीतरागभयक्रोधः ५ स्थितधीः ६ मुनिः ७ उच्यते ८ ।

अर्थ—दुःखों में १ नहीं होता है उद्विग्न या क्षोभित या विक्षिप्त मन जिसका २ सुखों में ३ नाश हो गई है इच्छा जिसकी ४ जाते रहे हैं राग भय और क्रोध जिसके ५ सि० ऐसे महात्मा को * ब्रह्म-ज्ञानी ६ परमहंस या संन्यासी ७ कहते हैं ८ सि० विद्वान् पंडित होना और दुःख सुख आदि में समान-भाव रहना, ये ही ब्रह्म-ज्ञान के साधन हैं * ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अन्वय—यः १ सर्वत्र २ अनभिस्नेहः ३ तत् ४ तत् ५ शुभाशुभम् ६ प्राप्य ७ न ८ अभिनन्दति ९ न १० द्वेष्टि ११ तस्य १२ प्रज्ञा १३ प्रतिष्ठिता १४ ।

अर्थ—ज्ञानी कौन है इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं । जो १ सर्वत्र २ सि० पुत्र, पोथी और देह आदि पदार्थों में * स्नेह (प्रीति) रहित ३ सि० है और * उस उस ४ । ५ शुभ और अशुभ को ६ प्राप्त होकर अर्थात् जो शुभ पदार्थ है याने अपने को इष्ट, प्रिय और अनुकूल है उसको प्राप्त होकर ७ न ८ हर्ष करता है ९ सि० और जो अशुभ पदार्थ है, याने अपने को अनिष्ट अर्थात् प्रतिकूल है, उसको प्राप्त होकर * न १० द्वेष करता है ११ सि० जो महापुरुष * उसकी १२ बुद्धि १३ निश्चल १४ सि० है ब्रह्म-स्वरूप में, और जो पूर्वोक्त साधन करेगा उसकी वृत्ति ब्रह्माकार हो जावेगी *

तात्पर्य—बोलने से राग-द्वेष आदि गुण-दोष सबके प्रतीत हो जाते हैं, यह बात प्रसिद्ध है। परंतु ज्ञानी के नहीं प्रतीत होते, क्योंकि ज्ञानी हर्ष-द्वेष आदि के कारण उपस्थित होने पर भी उनसे उदासीन रहता है। हर्ष-द्वेष आदि से उदासीन रहना ज्ञानी का लक्षण है ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

अन्वय—यदा १ अयम् २ सर्वशः ३ इन्द्रियाणि ४ इन्द्रियार्थेभ्यः ५ संहरते ६ च ७ तस्य ८ प्रज्ञा ९ प्रतिष्ठिता १० कूर्मः ११ अंगानि १२ इव १३ ।

अर्थ—जिस काल में १ यह २ सि० योगी * सब तरफ से ३ इन्द्रियों को ४ इन्द्रियों के अर्थों से ५ संकोच कर लेता है ६ और ७ सि० चित्त में स्मरण भी नहीं करता है, उस काल में * उस विद्वान् की ८ बुद्धि ९ निश्चल १० सि० सच्चिदानन्द-स्वरूप जैसे आत्मा में होती है और इसी साधन से मोक्ष की बुद्धि हो जायगी। इन्द्रियों के निरोध में विद्वान् को आयास वा दुःख नहीं होता है, इस बात को श्रीमहाराज दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं * कछुवा ११ सि० अपने हाथ पांव * अंगों को १२ जैसे १३ सि० स्वाभाविक संकोच कर लेता है, इसी प्रकार विद्वान् स्वाभाविक विषयों से इन्द्रियों को निरोध कर लेता है * ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

अन्वय—निराहारस्य १ देहिनः २ विषयाः ३ विनिवर्तन्ते ४ रसवर्जम् ५ अस्य ६ परम् ७ दृष्ट्वा ८ रसः ९ अपि १० निवर्तते ११ ।

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति न होना, यह ब्रह्म-ज्ञानी का जो लक्षण श्रीमहाराज ने कहा है, इसमें तो अतिव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि ऐसे तो निराहारी रोगी भी होते हैं। यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं कि निराहारी जीव के १।२ सि० भी * विषय ३ निवृत्त हो जाते हैं ४ सि० यह तो सत्य

है, परन्तु * रसवर्जित ५ सि० निवृत्त होते हैं * अर्थात् विषयों से उसका राग दूर नहीं होता है। तात्पर्य, विषयों में उसकी तृष्णा और सूक्ष्म कामना बनी रहती है और, इस ब्रह्म-ज्ञानी का ६ पूर्ण-ब्रह्म सच्चिदानंद आत्मा को ७ देखकर अर्थात् आनन्द-स्वरूप आत्मा को प्राप्त होकर ज्ञानी का ८ रस ९ भी १० निवृत्त हो जाता है ११ सि० इस प्रकार समझने से पूर्वोक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं आ सकता * ॥ ५६ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

अन्वय—कौन्तेय १ यततः २ हि ३ विपश्चितः ४ पुरुषस्य ५ अपि ६ प्रमाथीनि ७ इन्द्रियाणि ८ प्रसभम् ९ मनः १० हरन्ति ११ ।

अर्थ—इन्द्रियों का संयम किए विना ज्ञान होना दुर्लभ है, इसवास्ते साधन अवस्था में इन्द्रियों के निरोध करने का अत्यंत प्रयत्न करना योग्य है, यह दो श्लोकों में कहते हैं, हे अर्जुन ! १ सि० मोक्ष में * प्रयत्न करनेवाले की २ सि० इन्द्रिय * भी ३ सि० और * विद्वान् विवेकी पुरुष की ४ । ५ भी ६ प्रमथन स्वभाववाली याने क्षोभ करनेवाली ७ इन्द्रियां ८ बल करके ९ मन को १० हर लेती हैं ११ अर्थात् ज़बरदस्ती मन को विषयों में विक्षिप्त कर देती हैं। जब कि विद्वान् की इन्द्रियां भी विद्वान् के मन को विषयों में विक्षिप्त कर देती हैं, तो फिर मुमुक्षु साधक को तो साधन अवस्था में भले प्रकार चैतन्य रहकर प्रयत्न करना योग्य है । *

* इतिहास—एक समय व्यासजी जैमिनि (अपने शिष्य) को यही श्लोक सुना रहे थे। जैमिनिजी ने कहा कि आपका कहना तो सब सत्य है, परन्तु यह नहीं हो सकता कि जो इंद्रियां विद्वान् के मन को विषयों में विक्षिप्त कर दें, वे अविद्वान् के मन को भी विक्षिप्त कर सकती हैं। व्यासजी ने उनको बहुत समझाया, परन्तु व्यासजी के इस वाक्य में उनका विश्वास न आया। व्यासजी ने कहा कि इस श्लोक का अर्थ फिर किसी समय तुमको समझावेंगे। यह कहकर चल दिये। उसी दिन व्यासजी ने दो घड़ी दिन रहे ऐसी माया रची कि दस-ग्यारह युवती स्त्रियों के साथ आप भी सुन्दर स्त्री का वेष धारण कर जैमिनि की कुटी के सामने जाकर हँसी-खेल करने लगे। जिस समय इन स्त्रियों के महीन वस्त्र पवन से उड़े,

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

और गेंद उछालते हुए उनके हाथ ऊपर को उठे, तब जैमिनिजीने उदर, जंघा और स्तन आदि अंगों को देखा । फिर उसी काल में ऐसा बादल हो गया जैसा भादों में होता है । अँधेरा हो गया, मन्द-मन्द बरसने लगा और पवन चलने लगा । वे सब माया की स्त्रियां तो लोप हो गईं, व्यासजी का जो स्वरूप स्त्री का बना हुआ था, वहीं एक रह गया । सो वह स्त्री जैमिनिजी के पास गई और कहा कि महाराज मेरे संग की सहेलियां न जाने कहां गईं, मैं अकेली रह गई हूं, अब रात को कहां जाऊं, यदि आपकी आज्ञा हो, तो रात-भर एक मकान में मैं भी पड़ी रहूं । प्रथम तो जैमिनिजी ने रात्रि के समय अपने स्थान पर रहने को उसे बहुत मना किया, फिर उसके दीन वचन सुनकर कुछ दया आ गई । उस स्त्री से यह कहा कि इस दूसरे मकान में जाकर भीतर से साँकल लगा ले । कारण, यहां एक भूत रात्रि के समय आया करता है, वह हमारी तरह बोलेगा, उसके कहने से किवाड़ न खोलना, नहीं तो वह भूत तुझको खा जायगा । व्यासजी ने मन में कहा कि इसके विद्वान् होने में सन्देह नहीं, यत्न बहुत अच्छा किया है । जैमिनिजी का वह वाक्य सुनकर मकान के भीतर जाकर उस स्त्री ने भीतर से साँकल लगा ली । स्त्री-रूपी व्यास फिर निज स्वरूप (व्यास) होकर ध्यान में बैठ गए, जैमिनिजी जब ध्यान करने बैठे, तब उस स्त्री की याद हो गई । बार-बार मन को निरोध किया, किंतु मन शान्त न हुआ । जैमिनिजी ध्यान जप छोड़कर उठे, और उस मन्दिर के द्वार पर जाकर कहा कि हे प्रिये ! मैं जैमिनि हूं तुझसे बचने के लिये भूत की झूठी कथा तुझको सुनाई थी । अब तू भूत का भय छोड़कर कपाट खोल दे, तेरे विना मुझको निद्रा नहीं आती है । इसी प्रकार प्रार्थना करते-करते जब हार गए, तब काम और विरह से व्यथित होकर, कोठेपर आकर छत उखाड़कर भीतर कूद पड़े । व्यासजी ने जैमिनिजी के मुखपर एक थप्पड़ मारकर कहा कि तू विद्वान् है व अविद्वान् ? यह सुनकर जैमिनिजी बहुत लज्जित हुए । तब व्यासजी ने कहा कि तुम्हारी विद्वत्ता और साधुता में सन्देह नहीं, जो उचित था, वही तुमने किया । कदाचित कोई विद्वान् इस प्रकार धोखा खाकर अनर्थ कर बैठे, तो उसको कभी प्रत्यवाय अर्थात पातक नहीं होता ।

थोड़े दिन हुए ऐसी ही एक व्यवस्था दक्षिण-देश में हुई थी, उसको भी सुनो । दैव-योग से भूली हुई एक स्त्री रात्रि के समय किसी महात्मा की कुटी पर चली आई । महात्मा ने इसी प्रकार भूत की कथा सुनाकर उस स्त्री को दूसरे मकान में ठहरा दिया । थोड़ी रात जब रह गई, तो वह महात्मा भी छत उखाड़कर कूद पड़े । उनके शरीर में एक लकड़ी घुस गई, उससे बड़ा भारी घाव हो गया । वह स्त्री उनको पहचानकर घबराई । पछताती हुई कहने लगी कि मुझसे बड़ा अपराध हुआ, जो मैंने किवाड़ नहीं खोले । महात्मा ने उसको समझाया और कहा कि तू शोच मत कर, और जो मैं मर जाऊं तो मेरा लिखा हुआ यह पत्र लोगों को दिखा देना । यह कहकर उसी समय महात्मा ने अपने रक्त से वह सब व्यवस्था संस्कृत श्लोकों में लिख दी और उस व्यवस्था का नाम रक्त-गीता रखकर परमधाम को पधार गए । वह रक्त-गीता प्रसिद्ध है और संसार से उपराम करानेवाली है ।

अन्वय—तानि १ सर्वाणि २ संयम्य ३ युक्तः ४ मत्परः ५ आसीत ६ यस्य ७ इन्द्रियाणि ८ वशे ९ तस्य १० हि ११ प्रज्ञा १२ प्रतिष्ठिता १३।

अर्थ—इन्द्रियां अनर्थ करती हैं, इसीवास्ते उन सब इन्द्रियों को १।२ सि० विषयों से * रोककर ३ सावधान होकर ४ मुझ सच्चिदानन्द-परायण ५ सि० हो, अर्थात् मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप अद्वैत हूं, सिवाय मुझ सच्चिदानन्द-पूर्ण-ब्रह्म के और कुछ पदार्थ तीनों काल में नहीं है, इस ध्यान में तत्पर होकर * बैठना है ६ जिसकी ७ इन्द्रियां ८ वश में ९ सि० हैं * उसकी १० ही ११ बुद्धि १२ निश्चल १३ सि० है, सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्ण-ब्रह्म में वह ज्ञानी कैसे बैठता है, इस प्रश्न का उत्तर इस मंत्र में दिया गया है *।

तात्पर्य—ज्ञानी पुरुष सब इन्द्रियों का निरोध करके आत्मा में मग्न हो बैठा रहता है ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। *
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

अन्वय—विषयान् १ ध्यायतः २ पुंसः ३ तेषु ४ संगः ५ उपजायते ६ संगात् ७ कामः ८ संजायते ९ कामात् १० क्रोधः ११ अभिजायते १२ ॥ ६२ ॥ क्रोधात् १ संमोहः २ भवति ३ संमोहात् ४ स्मृतिविभ्रमः ५ स्मृतिभ्रंशात् ६ बुद्धिनाशः ७ बुद्धि-नाशात् ८ प्रणश्यति ९ ॥ ६३ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के निरोध न करने से जो अनर्थ होता है उसको तो निरूपण किया, अब अन्तःकरण के निरोध न करने से जो अनर्थ होता है, सो दो श्लोकों में कहते हैं। सि० गुण-बुद्धि-

* इन दोनों श्लोकों का अर्थ आनन्दामृतवर्षिणी के नवें अध्याय में और भी स्पष्ट लिखा गया है।

करके * विषयों का ध्यान करने से १ । २ पुरुष की ३ उनमें अर्थात् स्त्री-शब्द आदि विषयों में ४ आसक्ति ५ हो जाती है ६ आसक्त हो जाने से ७ सि० फिर अधिक * कामना ८ हो जाती है ६ कामना से १० क्रोध ११ उत्पन्न होता है १२ ॥ ६२ ॥ क्रोध से १ अविवेक २ हो जाता है ३ अर्थात् मुझको यह करना योग्य है, वा नहीं, इस विचार का अभाव हो जाता है ३ अविवेक होने से ४ स्मृति का विभ्रम ५ सि० हो जाता है अर्थात् जो कुछ शास्त्र आचार्यों से सुन रक्खा था, उस अर्थ की स्मृति का अभाव हो जाता है । उस समय कुछ नहीं स्मरण होता है सिवाय उस विषय के कि जिसका चिन्तवन करने से जिस विषय में चित्त आसक्त हो गया है, फिर * स्मृति का अभाव हो जाने से ६ वा विचल जाने से, वा भ्रंश हो जाने से ६ बुद्धि का नाश ७ सि० हो जाता है अर्थात् समझकर चैतन्य हो जावे यह बुद्धि नहीं रहती है * बुद्धि का नाश होने से ८ नाश हो जाता है ६ सि० विषयों में चिन्तन करने से जिस पुरुष का सूक्ष्म संग हो जाता है, वह पुरुष मोक्ष-मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है । उस तरफ से मानो वह मर गया । ऐसे आदमी को मुरदे के बराबर समझना चाहिये, जो सच्चिदानंद-रूप से विमुख होकर विषयों के सम्मुख है वह जीता हुआ ही मुरदा है, क्योंकि परम-पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसके योग्य नहीं है ॥ ६३ ॥

तात्पर्य—सब अनर्थों, पापों और दुःखों का मूल मनोराज्य है, क्योंकि प्रथम स्त्री-शब्द आदि पदार्थों में गुण समझकर अर्थात् स्त्री आदि को किसी एक अंश में सुख देनेवाला समझकर, जो पुरुष उन विषयों का मन में ध्यान करता रहता है, और चिन्तन करते-करते पदार्थों में सूक्ष्म आसक्ति होकर अधिक कामना हो जाती है फिर उसकी प्राप्ति के प्रयत्नों में नाना प्रकार के उपद्रव हो जाते हैं । उपाधि बढ़ते-बढ़ते मनुष्य पशुवत् हो जाता है ॥ ६३ ॥

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

अन्वय— विधेयात्मा १ † इन्द्रियैः २ विषयान् ३ चरन् ४ तु ५ प्रसादम् ६ अधिगच्छति ७ रागद्वेषविमुक्तैः ८ आत्मवश्यैः ९।

अर्थ—श्रोत्र आदि इन्द्रियों से शब्द आदि विषयों को न भोगता हो, ऐसा तो कोई भी ब्रह्म-ज्ञानी, भगवद्भक्त, उपासक, योगी, कर्मी इत्यादि नहीं दीखता है। और इन्द्रियों के असंयम से आप अनर्थ कहते हैं, तो फिर ब्रह्म-ज्ञानी में और अज्ञानी पुरुषों में क्या भेद हुआ? यह शंका करके श्रीमहाराज दो श्लोकों में ज्ञानी के भोगने की रीति फल के सहित निरूपण करते हैं। विवेकी ब्रह्म-ज्ञानी आत्मोपासक १ इन्द्रियों से २ विषयों को ३ भोगता हुआ ४ भी ५ निजानन्द को ६ प्राप्त होता है ७ सि० कैसी हैं वे इन्द्रियां कि जिनसे विषयों को भोगता हुआ मुक्त हो जाता है * रागद्वेषरहित ८ सि० हैं अर्थात् ज्ञानी को भोग के समय विषयों में राग-द्वेष नहीं रहता। एक तो ज्ञानी और अज्ञानी में यह भेद है और दूसरे ज्ञानी की इन्द्रियां * मन के वश में हैं ९ ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्वय—प्रसादे १ अस्य २ सर्वदुःखानाम् ३ हानिः ४ उपजायते ५ प्रसन्नचेतसः ६ हि ७ बुद्धिः ८ आशु ९ पर्यवतिष्ठते १०।

अर्थ—निजानन्द को प्राप्त होने से क्या होता है, इस अपेक्षा में श्रीमहाराज यह कहते हैं। निजानन्द को प्राप्त होने से १ इसके अर्थात् परमहंस ज्ञानी महापुरुष के २ दुःखों की ३ हानि ४ हो जाती है ५ अर्थात् आध्यात्मिक आदि सब दुःखों का नाश हो जाता है ५ सि० और * निजानन्द को प्राप्त हुआ है अन्तःकरण जिसका अर्थात् ‡ आत्मा में स्थित हुआ है चित्त जिसका उसकी ६ ही ७ बुद्धि ८ शीघ्र (जल्दी) ९ निश्चल होती है १० सि० उसी आत्मा में ॥ ६५ ॥

† "रागद्वेषविमुक्तैः" और "आत्मवश्यैः" ये दोनो पद "इन्द्रियैः" के विशेषण हैं।

‡ प्रसाद, प्रसन्नता, सुख, आनन्द, आत्मा इन शब्दों का एक ही अर्थ है। इस जगह विषयानन्द की प्रसन्नता से तात्पर्य नहीं है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

अन्वय--अयुक्तस्य १ बुद्धिः २ न ३ अस्ति ४ अयुक्तस्य ५ भावना ६ न ७ च ८ अभावयतः ९ शान्तिः १० न ११ च १२ अशान्तस्य १३ सुखम् १४ कुतः १५ ।

अर्थ—जो आनंद पीछे निरूपण किया गया है वह यति, अन्तर्मुख-ज्ञानी को ही होता है, अयति अर्थात् बहिर्मुख-अज्ञानी को नहीं होता, यह श्रीमहाराज इस मंत्र में कहते हैं । सि० प्रथम तो * अयति को १ बुद्धि २ सि० ही * नहीं ३ है ४ अर्थात् प्रथम तो आत्मा का निश्चय करनेवाली व्यवसायात्मिका बुद्धि बहिर्मुख-अज्ञानी को नहीं उदय होती है, इसीहेतु ४ अज्ञानी को ५ आत्मा का ध्यान ६ नहीं ७ अर्थात् जब वह आत्मा को जानता ही नहीं तो फिर आत्मा का ध्यान कैसे करेगा, इसीहेतु वह आत्मध्यान-रहित है ७ और ८ ध्यान-रहित को ९ शान्ति १० नहीं ११ फिर १२ विक्षिप्त चित्तवाले को १३ सुख १४ कहां से १५ अर्थात् किस प्रकार हो सकता है ? बिना ब्रह्म-ज्ञान के परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

अन्वय—चरताम् १ इन्द्रियाणाम् २ यत् ३ मनः ४ हि ५ अनुविधीयते ६ तत् ७ अस्य ८ प्रज्ञाम् ९ हरति १० अम्भसि ११ वायुः १२ नावम् १३ इव १४ ।

अर्थ—अयुक्त पुरुष की बुद्धि आत्मा में निश्चल क्यों नहीं होती, इस अपेक्षा में श्रीमहाराज यह कहते हैं । सि० जिस समय विषयों के साथ अज्ञानी की इन्द्रियों का संबंध होता है अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय जब शब्द को सुनता है, नेत्र जिस समय रूप को देखता है, इसीप्रकार सब इन्द्रियों को समझ लेना चाहिए, उस समय * विषय संबंधी १ इन्द्रियों के २ सि० साथ * जो ३ मन ४ भी ५ सि० कभी इन्द्रियों के साथ ही उसी विषय में *

प्रवृत्त हो जावे अर्थात् जिस समय रूप आदि विषयों में नेत्र आदि इन्द्रियां प्रवृत्त हों, उसी समय यदि मन भी उसी विषय में, उस इन्द्रिय के साथ प्रवृत्त हो जावे, तो ६ सो ७ सि० इंद्रिय, जिसका साथी मन हुआ है वही इंद्रिय * इस अज्ञानी की ८ बुद्धि को ९ हर लेना है १० अर्थात् विषयों में विक्षिप्त कर देता है १० सि० इसमें दृष्टांत यह है कि * जल में ११ पवन १२ नाव को १३ जैसे १४ सि० उलट पुलट करता है, झिकोर देता है और मल्लाह नाव को सँभालता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मन को सावधान करता है। अज्ञानी का ऐसा सामर्थ्य नहीं *

तात्पर्य—जब यह व्यवस्था है कि एक इंद्रिय के साथ लगा हुआ मन अनर्थ करता है, यदि सब इंद्रियों के साथ मिलकर मन अनर्थ करावे, तो फिर क्या कहना है। मृग, हस्ती, पतंग, मच्छी, भ्रमर ये पांचों, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध विषयों में क्रम से एक-एक विषय के मारे हुए मरते हैं। सारांश यह कि अज्ञानी की बुद्धि आत्मा में निश्चल नहीं होती है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अन्वय—महाबाहो १ यस्य २ इन्द्रियाणि ३ इन्द्रियार्थेभ्यः ४ सर्वशः ५ निगृहीतानि ६ तस्मात् ७ तस्य ८ प्रज्ञा ९ प्रतिष्ठिता १० ।

अर्थ—शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अंतःकरण इनका जो निरोध (संयम) अर्थात् इनको वश करना है, यही मोक्ष का अंतरंग साधन है और यही मुक्त-पुरुषों का लक्षण है। स्थित-प्रज्ञ के प्रकरण में पीछे जितने मंत्र कहे गए हैं, और आगे जितने कहे जायँगे उन सबका तात्पर्य यही है। और सोई तात्पर्य श्रीमहाराज इस मंत्र में कहते हैं, हे अर्जुन ! १ जिसकी २ इंद्रियां ३ शब्द आदि विषयों से ४ सब प्रकार ५ निरुद्ध हैं ६, इस कारण ७ उसकी अर्थात् परमहंस विद्वान् ब्रह्म-ज्ञानी की ८ बुद्धि ९ निश्चल १० सि० है। परमानंद-स्वरूप में ज्ञानी की बुद्धि श्रेष्ठ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है, यह जानना योग्य है। और साधक पक्ष में जिज्ञासु की बुद्धि ब्रह्म में इंद्रियादिकों का निरोध करने से निश्चल हो जाती है * ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६६ ॥

अन्वय—सर्वभूतानाम् १ या २ निशा ३ तस्याम् ४ संयमी ५ जागर्ति ६ यस्याम् ७ भूतानि ८ जाग्रति ९ सा १० निशा ११ पश्यतः १२ मुनेः १३ ।

अर्थ—सब प्रकार से इंद्रियों का निरोध होना, अर्थात् निष्कर्म होना, यह पूर्वोक्त लक्षण तो असंभावित प्रतीत होता है, यह शंका करके श्रीमहाराज यह मंत्र कहते हैं। तात्पर्य इस मंत्र का यह है कि ज्ञानी की जो ज्ञान-निष्ठा है, उसमें क्रिया और कारक का गंध-मात्र भी नहीं है। निष्क्रिय ब्रह्म-ज्ञानी को कोई ज्ञानी ही जान सकता है। कर्म-निष्ठ पुरुष नैष्कर्म्य ज्ञान-निष्ठा को क्या जाने, क्योंकि कर्म्म-निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा का दिन-रात्रिवत् अंतर है। इस हेतु अज्ञानी कर्म-निष्ठों का यह लक्षण असंभावित प्रतीत होता है, वही इस मंत्र में दिखाते हैं। सब भूतों की अर्थात् अज्ञानी कर्म-निष्ठों की १ जो २ सि० रात्रि-वत् ज्ञानी-निष्ठा * रात्रि ३ सि० है * उसमें अर्थात् ज्ञान-निष्ठा में ४ ब्रह्म-ज्ञानी सर्व-कर्म-संन्यास ५ जागता है ६ तात्पर्य, ज्ञान-निष्ठा अज्ञानी कर्म-निष्ठों के लिये रात्रिवत् है, क्योंकि ज्ञान-निष्ठा की अव्यवस्था अज्ञानी नहीं जानते हैं, और न उनका उसमें कुछ व्यापार होता है। और वही ज्ञान-निष्ठा ज्ञानियों को दिनवत् है, क्योंकि ज्ञानी उसमें ही विचरते हैं और जिसमें अर्थात् कर्म-निष्ठा में ७ अज्ञानी कर्म-निष्ठ प्राणी ८ जागते हैं ९ अर्थात् जिस कर्म-निष्ठा में कर्म-निष्ठ व्यापार करते हैं—कर्मों का अनुष्ठान करते हैं ९ सो अर्थात् कर्म-निष्ठा १० सि० रात्रि-वत् * रात्रि ११ सि० है। किसकी? ब्रह्म-तत्त्व को * देखते हुए ज्ञानी संन्यासी की १२। १३।

तात्पर्य—कर्म-निष्ठा में ज्ञानी का लेश-मात्र भी व्यापार नहीं, इसहेतु कर्म-निष्ठा विद्वान् की रात्रि है। इस मंत्र में समुच्चय का भी खंडन स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामायं प्रविशन्तिसर्वेस शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

अन्वय—यद्वत् १ आपः २ समुद्रम् ३ प्रविशन्ति ४ आपूर्यमाणम् ५ अचलप्रतिष्ठम् ६ तद्वत् ७ सर्वे ८ कामाः ९ यम् १० प्रविशन्ति ११ सः १२ शान्तिम् १३ आप्नोति १४ कामकामी १५ न १६ ।

अर्थ—ऐसे कर्म-संन्यासी कि जिनको कर्म-निष्ठा रात्रिवत् है, उनके शरीर का निर्वाह कैसा होता है, इस अपेक्षा में यह मंत्र कहते हैं, और चौंसठवें मंत्र में इस शंका का उत्तर अन्य प्रकार से दे भी चुके हैं। इस मंत्र का तात्पर्य यह है कि विना इच्छा किए हुए संसार के तुच्छ पदार्थ प्राप्त हो जाना तो कितनी बात है, प्रत्युत सब सिद्धि ऋद्धि महात्मा के सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। सदा यह इच्छा रखती हैं कि जिनके वास्ते परमेश्वर ने हमको रचा है, कभी कृपा करके वे भी तो हमको सफल करें। दृष्टान्त के सहित इस बात को श्रीमहाराज इस मंत्र में कहते हैं, जैसे १ सि० विना बुलाए नदी सरोवर आदि का * जल २ समुद्र में ३ प्रविष्ट होता है ४ सि० कैसा है वह समुद्र * सब तरफ से भरा हुआ पूर्ण है ५ सि० और * अचल है प्रतिष्ठा याने मर्यादा जिसकी ६ सि० यह तो दृष्टान्त है * वैसे ही ७ सब भोग ८ । ९ सि० प्रारब्ध के प्रेरे हुए * जिसको अर्थात् निष्काम ज्ञानी को १० प्राप्त होते हैं ११ सि० कैसा है * सो १२ सि० ज्ञानी * शांति को १३ प्राप्त है १४ भोगों की कामना करनेवाला १५ नहीं १६ अर्थात् जो भोगों की कामनावाला है सो शांति और ब्रह्मानंद को नहीं प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

अन्वय—यः १ पुमान् २ सर्वान् ३ कामान ४ विहाय ५ निःस्पृहः ६ निर्ममः ७ निरहंकारः ८ चरति ९ सः १० शान्तिम् ११ अधिगच्छति १२ ।

अर्थ—चतुर्थाश्रम संन्यासपूर्वक ज्ञान-निष्ठा से ही पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है। गृहस्थ अर्थात् कर्म-निष्ठ मोक्ष का भागी नहीं, शुभ कर्म करने से शुभ लोकों को प्राप्त होता है, यही नियम है। और जो कदाचित् कोई कहे कि कर्म-निष्ठ गृहस्थ भी बिना संन्यास किए मुक्त हो जाते हैं, तो चतुर्थाश्रम का माहात्म्य वृथा ही वेदों में प्रतिपादन किया गया है। क्या काम है शीत उष्ण आदि सहने का? क्यों संन्यास करना चाहिये? और जनक आदि की कथा का तात्पर्य परमार्थ में है, स्वार्थ में नहीं। अर्जुन ने पूछा था 'ज्ञानी कैसे चलता फिरता है?' इस चौथे प्रश्न का उत्तर इस मंत्र में देते हुए चतुर्थाश्रम संन्यासपूर्वक ज्ञान-निष्ठा का माहात्म्य और लक्षण श्रीमहाराज निरूपण करते हैं; जो १ पुरुष २ सब भोगों को ३। ४ त्यागकर ५ इच्छारहित ६ ममतारहित ७ अहंकाररहित ८ विचरता है ९ सो १० शांति को अर्थात मोक्ष को ११ प्राप्त होता है १२ अर्थात् जिसमें ये लक्षण नहीं वह मोक्ष को आशा न रक्खे, यह नियम है ७१।

तात्पर्य—कोई ज्ञानरहित त्यागी ऐसे होते हैं कि उनको त्यागने के पीछे फिर उस त्यागे हुए पदार्थ की इच्छा हो जाती है। ज्ञानी देहादिक पदार्थों के रहने की भी इच्छा नहीं रखते तो फिर त्यागे हुए पदार्थ की इच्छा क्यों करने लगे। इसवास्ते उसका 'निःस्पृहः' यह विशेषण है। और कोई ऐसे होते हैं कि उनको त्यागने के पीछे, आप ही आप बिना इच्छा किए पदार्थ प्राप्त होते हैं, परन्तु उनमें उनकी ममता हो जाती है। और ज्ञानी के पास जो बिना इच्छा पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनमें ज्ञानी की ममता नहीं होती। इसवास्ते 'निर्ममः' यह ज्ञानी का विशेषण है। और कोई ऐसे त्यागी होते हैं कि न तो उनको इच्छा होती है, और जो पराई इच्छा से पदार्थ आ जावे तो उसमें ममता भी नहीं होती है। परन्तु इन तीनों बातों का अहंकार बना रहता है। ज्ञानी को अहंकार भी नहीं होता। यह ज्ञानी का लक्षण है, इसको ज्ञान-निष्ठा कहते हैं ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

अन्वय—पार्थ १ एषा २ ब्राह्मीस्थितिः ३ एनाम् ४ प्राप्य ५

न ६ विमुह्यति ७ अन्तकाले ८ अपि ९ अस्याम् १० स्थित्वा ११ निर्वाणम् १२ ब्रह्म १३ ऋच्छति १४।

अर्थ—ज्ञान-निष्ठा की महिमा वर्णन करते हुए इस स्थितप्रज्ञ के प्रकरण को श्रीभगवान् समाप्त करते हैं। हे अर्जुन! १ यह २ सि० जो पूर्वोक्त सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक * ब्रह्म-ज्ञान-निष्ठा में स्थिति ३ सि० है * इसको ४ प्राप्त होकर ५ सि० कोई संन्यासी * नहीं ६ मोह को प्राप्त होता है ७ सि० ब्रह्मचर्याश्रम से ही जो संन्यासाश्रम ग्रहण करके ज्ञान-निष्ठा में स्थित रहते हैं वे महात्मा मोक्ष को प्राप्त होवें, तो इसमें क्या कहना है? * अन्तकाल में ८ भी अर्थात् अवस्था के चौथे भाग में भी ९ इसमें अर्थात् ब्रह्म-निष्ठा में चतुर्थाश्रम संन्यासपूर्वक १० स्थित होकर ११ निर्वाण ब्रह्म को १२। १३ अर्थात् समस्त अनर्थों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है लक्षण जिस मोक्ष का उसको १३ प्राप्त होता है १४॥ ७२॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ३

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥

अन्वय—केशव १ चेत् २ कर्मणः ३ बुद्धिः ४ ज्यायसी ५ ते ६ मता ७ जनार्दन ८ तत् ९ माम् १० घोरे ११ कर्मणि १२ किम् १३ नियोजयसि १४।

अर्थ—अर्जुन ने समझा कि श्रीभगवान् को ज्ञान-निष्ठा सम्मत है, क्योंकि द्वितीय अध्याय में ज्ञाननिष्ठा की बहुत प्रशंसा की है, और यह भी कहा है कि चतुर्थाश्रम संन्यास-पूर्वक ज्ञान-निष्ठा ही मोक्ष का हेतु है। जो श्रीमहाराज को

ज्ञान-निष्ठा ऐसी प्रिय है, तो मुझको कर्म में क्यों लगाते हैं ? यह विचारकर अर्जुन कहता है। हे केशव! १ जो २ कर्म से ३ ज्ञान ४ श्रेष्ठ ५ आपको ६ सम्मत ७ सि० है * हे जनार्दन! ८ तो ९ मुझको १० हिंसात्मक ११ कर्म में १२ क्यों १३ प्रेरित करते हो ? १४ अर्थात् जब आप ज्ञान-निष्ठा को ही मोक्ष का हेतु समझते हो, तो फिर मुझसे यह क्यों कहते हो कि तू कर्म ही कर, तेरा कर्म में ही अधिकार है ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अन्वय—व्यामिश्रेण १ इव २ वाक्येन ३ मे ४ बुद्धिम् ५ मोहयसि ६ इव ७ तत् ८ एकम् ९ निश्चित्य १० वद ११ येन १२ अहम् १३ श्रेयः १४ आप्नुयाम् १५ ।

अर्थ—किसी जगह तो श्रीमहाराज ज्ञान की महिमा कहते हैं, और किसी जगह कर्म की। इस मिले हुए वाक्य में स्पष्ट नहीं प्रतीत होता कि इन दोनों में श्रेष्ठ क्या है ? यह विचार-कर अब अर्जुन यह कहता है। मिले हुए वत् वाक्य से १ । २ । ३ मेरी बुद्धि को ४ । ५ मानो भ्रांति कराते हो ६ । ७ अर्थात् मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई मिले हुए वाक्य कहकर मोह को प्राप्त कराता है। वास्तव में न आप मुझको मोह कराते हैं, न आपका वाक्य मिला हुआ है और न सन्देह-जनक है। क्योंकि आप परम करुणा, दया और कृपा की खानि हैं। हे करुणाकर! मेरे इस अज्ञान को दूर करने के लिये इन दोनों (ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा) में जो श्रेष्ठ हो ७ उस एक को ८ । ९ निश्चय करके १० कहो ११ जिससे १२ अर्थात् ज्ञान से वा कर्म से १३ मैं कल्याण को १४ प्राप्त हूंगा १५ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

अन्वय—अनघ १ अस्मिन् २ लोके ३ द्विविधा ४ निष्ठा ५

मया ६ पुरा ७ प्रोक्ता ८ सांख्यानाम् ९ ज्ञानयोगेन १० योगिनाम् ११ कर्मयोगेन १२ ।

अर्थ--इस मंत्र में श्रीमहाराज का यह तात्पर्य है कि हे अर्जुन ! जो मैंने स्वतंत्र पृथक्-पृथक् दो निष्ठाएँ स्वतंत्र पुरुषों के निमित्त कही हों, तो तेरा यह प्रश्न हो सकता है कि कर्म-निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा इन दोनों में से एक श्रेष्ठ मुझसे कहो और जब मैंने एक निष्ठा को ही दो प्रकार की (एक पुरुष के निमित्त अधिकार भेद से उत्तरोत्तर) कही हैं, और एक पुरुष को ही अधिकार भेद से दो प्रकार का अधिकारी कहा है, तो यह तुम्हारा प्रश्न अयोग्य है । क्योंकि स्वतंत्र एक निष्ठा से कल्याण नहीं हो सकता, और न दोनों के सम-समुच्चय से हो सकता है । क्रमसमुच्चय से कल्याण होता है, यह मैंने पीछे कहा है मिला हुआ वाक्य नहीं कहा । फिर भी अब भले प्रकार स्पष्ट करता हूं, सावधान होकर सुन, हे अर्जुन ! १ इस जन के विषय २ । ३ अर्थात मुमुक्षु दोनों निष्ठाओं का अधिकारी पुरुष है, इस एक पुरुष के निमित्त ३ दो हैं प्रकार जिसके ४ सि० ऐसी एक ५ निष्ठा ५ मैंने ६ पहिले ७ अर्थात् द्वितीय अध्याय में वा वेदों में ७ कही है ८ सि० वे दो प्रकार ये हैं * विरक्त संन्यासी शुद्धान्तःकरणवालों को ९ ज्ञानयोग करके १० अर्थात् विरक्तों के लिये ज्ञान-निष्ठा कही है, और ज्ञान की प्रथम भूमिकावाले १० कर्मयोगियों को ११ कर्मयोग करके १२ अर्थात् मलिनान्तःकरणवालों को कर्म-निष्ठा कही है; क्योंकि कर्म करने से ही अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान होता है १२ ।

तात्पर्य—दोनों निष्ठाओं का आशय केवल एक ब्रह्म-निष्ठा ही में है । जब तक अन्तःकरण शुद्ध होकर उपरत अर्थात् विरक्त न हो जावे तब तक कर्म करना योग्य है, और जब अन्तःकरण शुद्ध होकर वैराग्य आदि का आविर्भाव हो जावे तब कर्मों का संन्यास करके ज्ञान-निष्ठ हो जाना उचित है॥ ३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

१ "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः । श्रीधरजी ने भी यही अर्थ किया है ।

अन्वय—कर्मणाम् १ अनारम्भात् २ पुरुषः ३ नैष्कर्म्यम् ४ न ५ अश्नुते ६ संन्यसनात् ७ एव ८ सिद्धिम् ९ च १० न ११ समधिगच्छति १२ ।

अर्थ—दो निष्ठाएँ आप कहते हैं, एक में तो कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है, और दूसरी में कर्म नहीं करने पड़ते हैं। मेरी समझ में पहिले मे ही दूसरी निष्ठा श्रेष्ठ है कि जिसमें कर्म करना न पड़े। यह शंका करके कहते हैं। सि० विना अन्तःकरण शुद्ध हुए * कर्मों के १ अनारम्भ से अर्थात् कर्मों के न करने से २ मनुष्य ३ ज्ञान-निष्ठा को ४ नहीं ५ प्राप्त होता है ६ अर्थात् विना अन्तःकरण शुद्ध हुए कर्मों के केवल त्याग से ७ ही ८ सि० विना ज्ञान हुए * मोक्ष को ९ भी १० नहीं ११ प्राप्त होता है १२ अथवा विना अन्तःकरण शुद्ध हुए केवल चतुर्थाश्रम अर्थात् संन्यास ग्रहण करने से कोई भी ज्ञान को वा मोक्ष को नहीं प्राप्त होता है १२।

तात्पर्य—विना अन्तःकरण शुद्ध हुए जो कर्म त्याग देता है, उसको न इस लोक में सुख होता है और न परलोक में। उसको न स्वर्ग, न मोक्ष, और न ज्ञान प्राप्त होता है। इसवास्ते जब तक अन्तःकरण भले प्रकार शुद्ध न होवे तब तक भगवत् आराधना आदि कर्मों का अनुष्ठान करना रहे। फिर ज्ञान-निष्ठा का अधिकारी हो जायगा ॥ ४ ॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्वय—जातु १ कश्चित् २ हि ३ क्षणम् ४ अपि ५ अकर्मकृत् ६ न ७ तिष्ठति ८ हि ९ सर्वैः १० प्रकृतिजैः ११ गुणैः १२ अवशः १३ कर्म १४ कार्यते १५ ।

अर्थ—अन्तरंग कर्मों को अज्ञानी नहीं त्याग सकता है, ज्ञानी ही उनके त्यागने में समर्थ है। क्योंकि उनका त्याग स्वरूप से नहीं हो सकता। विचार-दृष्टि से उनमें आसक्त न होना, उनको मिथ्याकल्पित, मायिक, अनात्मधर्म समझना, यही उनका त्याग है। यह अज्ञानी से नहीं हो सकता, सोई कहते हैं। कभी १ कोई २ भी ३ अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान-रहित कोई

अज्ञानी ३ पलमात्र ४ भी ५ अकर्मकृत् ६ नहीं ७ ठहरता है अर्थात् अज्ञानी कर्म न करता हुआ, अक्रिय होकर पल-भर भी किसी काल में नहीं रहता। तात्पर्य, सदा कुछ न कुछ करता ही रहता है ८ क्योंकि ९ सब अर्थात् अज्ञानी प्राणी-मात्र १० प्रकृति से उत्पत्ति है जिनकी उन सत्त्व, रज, तम गुणों करके ११। १२ सि० प्रेरा हुआ * अवश हुआ अर्थात् परतंत्र हुआ, गुणों के वश हुआ, अज्ञानी जीव १३ कर्म १४ करता है १५।

तात्पर्य—अज्ञानी जीव से सत्त्वादि गुण बल करके कर्म करवाते हैं। माया से प्रेरित, परवश हुआ कर्म करता है। यह माया की प्रबलता ज्ञान से ही दूर होती है ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

अन्वय—कर्मेन्द्रियाणि १ संयम्य २ मनसा ३ इन्द्रियार्थान् ४ स्मरन् ५ यः ६ आस्ते ७ सः ८ विमूढात्मा ९ मिथ्याचारः १० उच्यते ११।

अर्थ—मलिन अंतःकरणवाला जो कर्म त्याग देता है, उसकी श्रीभगवान् बुराई कहते हैं। कर्मेन्द्रियों को १ रोक करके २ सि० और * मन से ३ शब्द आदि विषयों को ४ स्मरण करता हुआ ५ जो ६ बैठता है अर्थात् कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता ७ सो ८ मलिन अन्तःकरणवाला ९ सि० कर्मत्यागी * मिथ्याचारी १० कहलाता है अर्थात् ऐसे त्यागी को दम्भी और कपटी कहते हैं, और उसके मौन आसन आदि आचार झूठे हैं ११ ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—यः १ तु २ इन्द्रियाणि ३ मनसा ४ नियम्य ५ अर्जुन ६ कर्मेन्द्रियैः ७ कर्मयोगम् ८ असक्तः ९ आरभते १० सः ११ विशिष्यते १२।

अर्थ—मलिन अन्तःकरणवाले कर्मत्यागी से कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है, सो कहते हैं सि० मलिन मनवाला तो कपटी है * और जो १ । २ ज्ञानेन्द्रियों को ३ मन करके ४ सि० विषयों से * रोककर ५ हे अर्जुन ! ६ कर्मेन्द्रियों से ७ कर्मयोग को ८ आसक्त हुआ ९ करता है १० सो ११ विशेष है १२ सि० पूर्वोक्त से *

तात्पर्य—फल की इच्छा से रहित है, और कर्मों में जो आसक्त है, सो अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त होगा, इसहेतु विशेष है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

अन्वय—हि १ अकर्मणः २ कर्म ३ ज्यायः ४ नियतम् ५ कर्म ६ त्वम् ७ कुरु ८ ते ९ अकर्मणः १० शरीरयात्रा ११ अपि १२ च १३ न १४ प्रसिध्येत् १५ ।

अर्थ—जब कि १ न करने से २ कर्म ३ श्रेष्ठ ४ सि० है, इसहेतु * वेदोक्त ५ निष्काम कर्म को ६ तू ७ कर ८ सि० नहीं तो * तुझ अकर्मी की ९ । १० देहयात्रा ११ भी १२ और १३ सि० मोक्ष भी * नहीं १४ सिद्ध होगा १५ ।

तात्पर्य—कर्मों का अनुष्ठान न करने से करना श्रेष्ठ है । जो तू अपना स्वधर्म युद्ध न करेगा, तो तुझको भोजन, वस्त्र आदि भी देह की रक्षा के लिये नहीं मिलेंगे, और विना अंतःकरण शुद्ध हुए, ज्ञान का अभाव होने से तू मुक्त भी न होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

अन्वय—यज्ञार्थात् १ कर्मणः २ अन्यत्र ३ कर्मबन्धनः ४ अयम् ५ लोकः ६ कौन्तेय ७ मुक्तसंगः ८ तदर्थं ९ कर्म १० समाचर ११ ।

अर्थ—इस लोक के वा परलोक के पदार्थों की कामना करके जो कर्म किया जाता है वह बन्धन का हेतु है सो कहते हैं । सि० "यज्ञो वै विष्णुः" यह श्रुति है । यज्ञ नाम विष्णु का है, विष्णु सच्चिदानन्द व्यापक को कहते हैं । यज्ञ शब्द का तात्प-

र्थार्थ 'तत्त्वं' पदों के लक्ष्यार्थ में है * यज्ञ नारायणार्थ १ कर्म से २ पृथक् ३ सि० जो और सकाम कर्म है उस * कर्म करके बन्धन को प्राप्त होता है ४ यह ५ जीव ६ हे अर्जुन! ७ सि० तू तो * निष्काम असंग हो ८ परमेश्वरार्थ ९ कर्म १० कर अर्थात् पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप जो आत्मा है उसकी प्राप्ति के लिये ११ ।

तात्पर्य—अज्ञान की निवृत्ति के लिये कर्मों का अनुष्ठान कर । अज्ञान की जो निवृत्ति है वही आत्मा की प्राप्ति है ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

अन्वय—प्रजापतिः १ सहयज्ञाः २ प्रजाः ३ सृष्ट्वा ४ पुरा ५ उवाच ६ अनेन ७ प्रसविष्यध्वम् ८ एषः ९ वः १० इष्टकामधुक् ११ अस्तु १२ ।

अर्थ—सर्वथा न करने से सकाम कर्म करना ही श्रेष्ठ है । अब चार श्लोकों में इसका वर्णन करते हैं । ब्रह्माजी का वाक्य इसमें प्रमाण है । ब्रह्माजी १ सहित यज्ञों के प्रजा को २ । ३ रचकर अर्थात् यज्ञ और प्रजा को रचकर ४ पहले ५ सि० प्रजा से यह * बोले ६ सि० कि हे कर्म-निष्ठावाली प्रजा! * इससे अर्थात् कर्म यज्ञ से ७ [तुम] उत्तरोत्तर बढ़ोगे ८ यह यज्ञ ९ तुमको १० इष्टकामधुक् ११ हो अर्थात् वांछित फल देनेवाला हो १२ यह मेरा आशीर्वाद है ॥ १० ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

अन्वय—अनेन १ देवान् २ भावयत ३ ते ४ देवाः ५ वः ६ भावयन्तु ७ परस्परम् ८ भावयन्तः ९ परम् १० श्रेयः ११ अवाप्स्यथ १२ ।

अर्थ—बढ़ने की विधि निरूपण करते हैं । इस यज्ञ से १ देवताओं को २ [तुम] बढ़ाओ ३ तात्पर्य, देवता यज्ञ करने से

बढ़ते हैं, उनका भोजन यज्ञ ही है सि० और यज्ञ का भाग पानेवाले, यज्ञ करने से * वे ४ देवता ५ तुमको ६ बढ़ावें अर्थात् वांछित फल देवें ७ सि० इस प्रकार * परस्पर आपस में ८ बढ़ते हुए ९ सि० तुम और देवता * परम कल्याण को अर्थात् स्वर्ग-जन्य सुख को १० । ११ प्राप्त होगे १२ ॥ ११ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

अन्वय—यज्ञभाविताः १ देवाः २ वः ३ इष्टान् ४ भोगान् ५ हि ६ दास्यन्ते ७ तैः ८ दत्तान् ९ एभ्यः १० अप्रदाय ११ यः १२ भुंक्ते १३ सः १४ स्तेनः १५ एव १६ ।

अर्थ—यज्ञ से बढ़े हुए वा प्रसन्न हुए १ देवता २ तुमको ३ सि० स्त्री, पुत्र, अन्न, वस्त्र इत्यादि * प्यारे ४ भोगों को ५ ही ६ देंगे ७ तात्पर्य, देवता मोक्ष नहीं दे सकते हैं । मोक्ष की प्राप्ति तो सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञान-निष्ठा से ही होती है । उनसे ८ दिए हुओं को अर्थात् देवताओं के दिए भोगों को ९ इनके अर्थ १० तात्पर्य, उन्हीं देवताओं के अर्थ; न देकर अर्थात् साधु को भोजन कराना इत्यादि पंचयज्ञ न करके ११ जो १२ भोजन करता है १३ सो १४ चोर १५ सि० है * निश्चय १६ अर्थात् नित्य पंच यज्ञ किए विना भोग भोगना अनर्थ का हेतु है ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

अन्वय—यज्ञशिष्टाशिनः १ सन्तः २ सर्वकिल्बिषैः ३ मुच्यन्ते ४ ये ५ तु ६ आत्मकारणात् ७ पचन्ति ८ ते ९ पापाः १० अघम् ११ भुञ्जते १२ ।

अर्थ—गृहस्थों को नित्य नियम करके पंचयज्ञ करना योग्य है । जो करते हैं उनकी श्रीमहाराज प्रशंसा करते हैं, और जो नहीं करते उनकी निन्दा करते हैं । यज्ञ का बचा हुआ अन्न भोजन करते हुए १ । २ सब पापों से ३ छूट जाते हैं ४ और

जो ५। ६ आत्मा के वास्ते अर्थात् केवल अपना और अपने कुटुम्ब का पेट भरने के वास्ते ही ७ पाक करते हैं ८ ('पचन्ति' यह क्रिया उपलक्षण-मात्र है) तात्पर्य, जो केवल कुटुम्ब के लिये रसोई, मन्दिर आदि बनाते हैं, वस्त्र आदिकों का भोग भोगते हैं, साधु वा परमेश्वर का उन पदार्थों में नाम-मात्र भी नहीं, वे ६ पापी १० पाप को ११ भोगते हैं १२ मि० "कंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी। पंचशूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति ॥" अर्थात् ओखली, चक्की, चूल्हा, जल रखने की जगह, बुहारी, जिसको सोहरनी, सोहनी और झाड़ू भी कहते हैं; इन पांच में प्रतिदिन अनेक हत्याएँ पांच प्रकार से होती रहती हैं, इसहेतु गृहस्थों का अन्तःकरण मलिन रहता है और स्वर्ग नहीं मिलता है। "स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञश्च पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो देवबलिर्यज्ञो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥" अर्थात् वेद, शास्त्र आदि के पढ़ने वा पाठ करने को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। तर्पण को पितृयज्ञ कहते हैं। हवन करना और बलिवैश्वदेव-कर्म करना, इन दोनों को देवयज्ञ कहते हैं। अतिथि अभ्यागतों का पूजन करके उनको भोजन कराना, वस्त्र आदि देना, इसको नरयज्ञ कहते हैं। तात्पर्य; पठन-पाठन, तर्पण, होम, बलिवैश्व-देव-कर्म, विरक्त साधुओं को भोजन कराना, इन पांच यज्ञों के करने से नित्य के नित्य पांचों हत्याएँ दूर हो जाती हैं, जो नहीं करते हैं उनकी बढ़ती रहती हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्वय—अन्नात् १ भूतानि २ भवन्ति ३ पर्जन्यात् ४ अन्न-सम्भवः ५ यज्ञात् ६ पर्जन्यः ७ भवति ८ यज्ञः ६ कर्मसमुद्भवः १०।

अर्थ—कर्म करने से ही वृष्टि द्वारा अन्न आदि पदार्थों की प्राप्ति होती है, इसहेतु से भी कर्म करना योग्य है, यह तीन श्लोकों में कहते हैं। अन्न से १ मनुष्य आदि प्राणी २ होते हैं अर्थात् अन्न का परिणाम जो शुक्र-शोणित, पुरुष-स्त्री का वीर्य-

रज, ये दोनों मिलकर मनुष्य आदि प्राणी उत्पन्न होते हैं ३ वर्षा से ४ अन्न होता है ५ यज्ञ से ६ वर्षा ७ होती है ८ यज्ञ ९ कर्म से होता है १० सि० ऋत्विज् और यजमान इनका जो व्यापार है वही कर्म है, उससे यज्ञ सिद्ध होता है * ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

अन्वय—कर्म १ ब्रह्मोद्भवम् २ विद्धि ३ ब्रह्म ४ अक्षरसमुद्भवम् ५ ब्रह्म ६ सर्वगतम् ७ तस्मात् ८ यज्ञे ९ नित्यम् १० प्रतिष्ठितम् ११ ।

अर्थ—कर्म को १ वेद से उत्पन्न हुआ २ जान ३ वेद को ४ मायोपहित ब्रह्म से उत्पन्न हुआ ५ सि० जान । माया मिथ्या है * ब्रह्म ६ पूर्ण है ७ इस कारण ८ यज्ञ में ९ नित्य १० स्थित है ११ सि० भूतादि जितने पदार्थ पीछे कहे गए हैं उन सबका कारण मायोपहित ब्रह्म है, सो पूर्ण है, इस कारण यज्ञ में भी स्थित है *

तात्पर्य—यद्यपि ब्रह्मपूर्ण है, परन्तु उसकी प्राप्ति निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्म-ज्ञान होने पर होती है, इसवास्ते यज्ञ में ब्रह्म नित्य स्थित है, यह कहा है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अन्वय—एवम् १ चक्रम् २ प्रवर्तितम् ३ यः ४ न ५ अनुवर्तयति ६ पार्थ ७ सः ८ इह ९ मोघम् १० जीवति ११ अघायुः १२ इन्द्रियारामः १३ ।

अर्थ—ईश्वर से वेद, वेद से कर्म, कर्म से मेघ, मेघ से अन्न, अन्न से प्राणी और प्राणी जब वेदोक्त कर्म करते हैं तब फिर मेघादि होते हैं । ऐसा ही फिर करते हैं और फिर होते हैं । इस प्रकार १ चक्र २ सि० परमेश्वर ने लोगों के पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये * प्रवृत्त किया है ३ जो ४ सि० कर्म का अधिकारी

इसमें * नहीं ५ प्रवृत्त होता अर्थात् कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता ६ हे अर्जुन ! ७ सो ८ इस संसार में ९ वृथा १० जीवित है ११ सि० कैसा है सो * पाप-रूप अवस्था है उसकी १२ सि० और * इन्द्रियों करके विषयों में विहार है जिसका १३ सि० वह पृथिवी पर भार-स्वरूप है । आप डूबा है, औरों को भी डुबाता है * ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

अन्वय—यः १ तु २ मानवः ३ आत्मरतिः ४ एव ५ आत्मतृप्तः ६ च ७ आत्मनि ८ एव ९ च १० सन्तुष्टः ११ स्यात् १२ तस्य १३ कार्यम् १४ न १५ विद्यते १६ ।

अर्थ—अज्ञानियों को अन्तःकरण की शुद्धि के लिये निष्काम कर्मयोग बतलाकर और सर्वथा न करने से सकाम कर्मयोग करना ही अच्छा है, यह कहकर, अब ज्ञानी को कर्म का अनुपयोग दो श्लोकों में कहते हैं अर्थात् ज्ञानी को कर्म करना कुछ आवश्यक नहीं, और जो आत्मा को यथार्थ पूर्णानन्द ब्रह्म-स्वरूप नहीं जानता है, उसको तो अज्ञान की निवृत्ति के लिये अवश्य ही निष्काम कर्म करना योग्य है । सो श्रीमहाराज कहते हैं । जो १ । २ मनुष्य ३ सि० ऐसा है कि * आत्मा ही में प्रीति है जिसकी अर्थात् आत्मा से पृथक् पदार्थ में जिसकी प्रीति नहीं है ४ । ५ और आत्मा ही में तृप्त है अर्थात् इस लोक के और परलोक के पदार्थों की प्राप्ति से तृप्त नहीं होता है ६ । ७ और आत्मा में ही ८ । ९ । १० संतुष्ट ११ है अर्थात् आत्मा से पृथक् पदार्थ की न इच्छा रखता है, और न उसकी दृष्टि में आत्मा के सिवाय श्रेष्ठ कोई पदार्थ है, ऐसा जो विरक्त ज्ञानी या संन्यासी है १२ उसको १३ करने के योग्य १४ सि० कुछ भी कर्म * नहीं १५ है १६ ।

तात्पर्य—कदाचित् कोई कर्मकांडी ब्राह्मण आदि संन्यासियों से कहे कि जैसे भिक्षाटन आदि कर्म तुम करते हो वैसे ही तीर्थयात्रा देव-पूजा आदि

कर्म करने में तुम्हारी क्या क्षति है ? तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिसकी जहां प्रीति होती है वह उसी में तत्पर रहता है । इसहेतु ज्ञानी आत्मा में परायण रहते हैं, उनको देव-पूजा आदि कर्म करने का सावकाश ही नहीं। और भिक्षाटन आदि विद्वान् का बाल्यभोजनवत् गौण कर्म है, उसके विना शरीर की स्थिति नहीं हो सकती। देव-पूजा आदि कर्म के विना विद्वान् की क्या क्षति होती है, जो सुन्दर सच्चिदानन्द देव को छोड़, जड़ पाषाण आदि देवता का आराधन करे ? आत्म-निष्ठा के सिवाय विद्वान का और कुछ कर्तव्य नहीं, सो वह निष्ठा ज्ञानी की स्वाभाविक है । ज्ञानी शुद्ध-स्वरूप, सच्चिदानन्द, नित्य-मुक्त, नित्य-निर्विकार, पूर्ण-ब्रह्म है "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

अन्वय—तस्य १ कृतेन २ एव ३ अर्थः ४ न ५ अकृतेन ६ इह ७ कश्चन ८ न ९ सर्वभूतेषु १० अस्य ११ कश्चित् १२ अर्थव्यपाश्रयः १३ च १४ न १५ ।

अर्थ—वेद में लिखा है कि ज्ञान-मार्ग में देवता विघ्न करते हैं, यह सत्य है, परन्तु ज्ञान से पहले विघ्न करते हैं । ज्ञान-मार्ग में प्रवृत्त नहीं होने देते । मत-मतान्तर के पंडितों की बुद्धि में बैठकर, और राजा आदिकों के मन में स्थित होकर प्राणी को कर्मों में प्रेरते हैं, और विघ्न करते हैं । परंतु ज्ञान होने के पीछे वही देवता ज्ञानी को अपना आत्मा मानते हैं, आत्मा के बराबर चाहते हैं; यह भी तो वेद में ही लिखा है । श्रीभगवान् भी सातवें अध्याय में कहेंगे—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।' यदि कोई यह शंका करे कि देवतों का भय करके, वा देवतों से कुछ आशा करके ज्ञानी को कर्म करना योग्य है, तो इस शंका को दूर करने के लिये श्रीमहाराज यह मंत्र कहते हैं । जब ज्ञानी देवतों को भी जीत चुका, तो अब उसको कर्म करने और न करने में क्या प्रयोजन है ? उसको अर्थात् ज्ञानी को १ सि० कर्म * करने से २ भी ३ सि० इस लोक वा

परलोक में कुछ * प्रयोजन ४ नहीं ५ सि० और * न करने से ६ सि० भी * इस लोक में ७ कुछ ८ सि० उस ज्ञानी को पाप * नहीं ९ सि० होता । और ब्रह्माजी से लेकर चींटी पर्यन्त * सब भूतों में १० इसका अर्थात् ज्ञानी का ११ किसी १२ अर्थ में आश्रय १३ भी १४ नहीं १५ ।

तात्पर्य—देवता और मनुष्य आदि से ज्ञानी का व्यवहार में वा परमार्थ में कुछ प्रयोजन नहीं, क्योंकि ज्ञानी के शरीर का निर्वाह प्रारब्धवशात् होता चला जाता है । उसको कोई अधिक वा न्यून नहीं कर सकता और न उसके स्वरूप को ही कोई अधिक वा न्यून कर सकता है । फिर कर्म न करने से उसकी क्या क्षति है और करने से उसको क्या लाभ है ? ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

अन्वयः—तस्मात् १ सततम् २ असक्तः ३ कार्यम् ४ कर्म ५ समाचर ६ असक्तः ७ पूरुषः ८ हि ९ कर्म १० आचरन् ११ परम् १२ आप्नोति १३ ।

अर्थ—विरक्त ज्ञानी को ही कर्म का अनुपयोग है, अज्ञानी वा गृहस्थ ज्ञानी को मैं नहीं कहता हूं । हे अर्जुन ! इस कारण १ निरन्तर २ असंग हो ३ करने के योग्य ४ कर्म को ५ तू कर ६ असक्त ७ पुरुष ८ ही ९ कर्म को १० करता हुआ ११ सि० अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञानी होकर * मोक्ष को १२ प्राप्त होता है १३ ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अन्वय—जनकादयः १ कर्मणा २ हि ३ एव ४ संसिद्धिम् ५ आस्थिताः ६ लोकसंग्रहम् ७ अपि ८ संपश्यन् ९ कर्तुम् १० अर्हसि ११ एव १२ ।

अर्थ—सदा से कर्म करके ही बड़े-बड़े महात्मा मुमुक्षु अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान को प्राप्त हुए हैं । जनक आदि १ कर्म करके २ ही ३ निश्चय से ४ सि० अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा *

ज्ञान को ५ प्राप्त हुए हैं ६ सि० और जो कदाचित् तू यह मानता हो कि मैं तो पहले ही ज्ञानी हूं, फिर अब कर्म क्यों करूं ? उत्तर इसका यह है कि * लोक-संग्रह को ७ ही ८ देखता हुआ अर्थात् यह विचारकर कि अज्ञानी जन भी महात्माओं की देखा-देखी आचरण करते हैं। ज्ञानियों के छोड़ देने से अज्ञानी भी कर्म को छोड़कर कुमार्ग में प्रवृत्त होंगे, उनसे कर्म कराने के लिये कर्म करना योग्य है। इस प्रयोजन को स्मरण करता हुआ ९ कर्म करने को १० तू योग्य है ११ निश्चय से १२।

तात्पर्य—श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो तू अज्ञानी है तब तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म कर, और जो ज्ञानी है तो लोक-संग्रह के लिये कर्म कर। गृहस्थाश्रम की शोभा कर्म से ही है, इसीवास्ते जनक आदि कर्म करते थे। सर्वथा कर्म का अनुपयोग मैंने विरक्त संन्यासियों के वास्ते कहा है ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

अन्वय—श्रेष्ठः १ यत् २ यत् ३ आचरति ४ तत् ५ तत् ६ एव ७ इतरः ८ जनः ९ सः १० यत् ११ प्रमाणम् १२ कुरुते १३ लोकः १४ तत् १५ अनुवर्तते १६।

अर्थ—अज्ञानी मनुष्य जो कर्म, पाप वा पुण्य करते हैं, उन कर्मों के भागी धनवान् पंडित और जाति के प्रधान इत्यादि होते हैं। क्योंकि जगत् में भले बुरे कर्मों का प्रचार इन्हीं के द्वारा होता है अज्ञानी इन्हीं की देखा-देखी कर्म करते हैं। सोई इस मंत्र में कहते हैं श्रेष्ठ १ सि० पुरुष * जो २ जो ३ आचरण करता है ४ सो सो ही ५। ६। ७ अन्य जन ८। ९ सि० कर्म करता है और * वह १० सि० प्रतिष्ठित जन * जिसका अर्थात कर्मयोग वा ज्ञानयोग का ११ प्रमाण करता है १२। १३ सि० अज्ञानी * जन १४ उसके ही अनुसार वर्तता है १५। १६ ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

अन्वय—पार्थ १ त्रिषु २ लोकेषु ३ मे ४ किञ्चन ५ कर्तव्यम् ६ न ७ अस्ति ८ अवाप्तव्यम् ९ अनवाप्तम् १० न ११ एव १२ च १३ कर्मणि १४ वर्ते १५।

अर्थ—ज्ञानी होकर लोक-संग्रह के लिये किसी ने कर्म किया है, इस अपेक्षा में श्रीमहाराज यह कहते हैं कि प्रथम तो मैं ही ऐसा हूं। हे अर्जुन! १ तीन लोक में २। ३ मुझको ४ कुछ भी ५ कर्तव्य ६ नहीं ७ है ८ मि० और * प्राप्त होने योग्य ९ सि० जो वस्तु चाहिये वह मुझको क्या * नहीं प्राप्त है १० न अर्थात् प्राप्त होने योग्य वस्तु प्राप्त है ११ तो भी १२। १३ कर्म में १४ [मैं] वर्तता हूं १५।

तात्पर्य—मोक्ष पर्यन्त मुझको सब पदार्थ प्राप्त हैं, और मुझको न किसी का खटका है, न मुझ पर किसी की आज्ञा है, तो भी मैं लोक-संग्रह के लिये कर्म करता हूं। कर्म न करना यह विधि केवल विरक्त साधुओं के लिये है॥ २२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

अन्वय—यदि १ जातु २ अतन्द्रितः ३ अहम् ४ हि ५ कर्मणि ६ न ७ वर्तेयम् ८ पार्थ ९ सर्वशः १० मनुष्याः ११ मम १२ वर्त्म १३ अनुवर्तन्ते १४।

अर्थ—आप अपनी इच्छा से कर्म करते हो, जो न करो तो क्या है? यह शंका करके कहते हैं, जो १ कभी २ अनालस्य हुआ अर्थात् आलस्यरहित होकर ३ मैं ४ ही ५ कर्म में ६ न ७ वर्तूं अर्थात् जो मैं ही कर्म न करूं तो ८ हे अर्जुन! ९ सब प्रकार करके १० मनुष्य ११ मेरे १२ मार्ग के १३ पीछे वर्तेंगे १४ अर्थात् सब लोग कर्म छोड़ देंगे। जिस रस्ते से मैं चलूंगा उसी रस्ते से चलेंगे॥ २३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

अन्वय—चेत् १ अहम् २ कर्म ३ न ४ कुर्याम् ५ इमे ६ लोकाः ७

उत्सीदेयुः ८ संकरस्य ९ च १० कर्ता ११ स्याम् १२ इमाः १३ प्रजाः १४ उपहन्याम् १५ ।

अर्थ—जो मनुष्य आपकी देखा-देखी कर्म छोड़ देंगे, तो उसमें आपने क्या किया, और आपकी क्या क्षति है ? यह शंका करके कहते हैं, जो १ मैं २ कर्म ३ न ४ करूं ५ सि० तो * ये ६ सि० अज्ञानी * जीव ७ सि० मेरी देखा-देखी कर्म न करने से * भ्रष्ट हो जावें अर्थात् वर्णसंकर हो जावें इसहेतु मैंने ही प्रजा को भ्रष्ट किया, और ८ वर्णसंकर का ९ भी १० कर्ता ११ सि० मैं ही * हुआ १२ सि० मेरा अवतार धर्म की रक्षा के वास्ते था, मैंने धर्म की रक्षा क्या की ? उलटा मनुष्यों को वर्णसंकर किया, और इसीहेतु * इस प्रजा को १३ । १४ भ्रष्ट करनेवाला मैं हुआ १५ अर्थात् उलटा प्रजा का अन्तःकरण मैला करनेवाला मैं हुआ । मैंने ही यह प्रजा मैली की ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

अन्वय—भारत १ यथा २ अविद्वांसः ३ कर्मणि ४ सक्ताः ५ कुर्वन्ति ६ तथा ७ विद्वान् ८ आसक्तः ९ कुर्यात् १० लोकसंग्रहम् ११ चिकीर्षुः १२ ।

अर्थ—अज्ञ जीवों पर कृपा करके लोक-संग्रह के लिये गृहस्थ ज्ञानी होकर भी कर्म करे, यह कहते हैं । हे अर्जुन ! १ जैसे २ अज्ञानी ३ कर्म में ४ सक्त हुए ५ सि० कर्म * करते हैं ६ वैसे ७ ज्ञानी ८ आसक्त होकर ९ करे १० कैसा है वह ज्ञानी * लोगों की रक्षा ११ करने की इच्छावाला १२ सि० है । वह ज्ञानी यह समझता है कि यह कर्म और लोगों के भले के वास्ते मैं करता हूं * ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

अन्वय—अज्ञानाम् १ कर्मसंगिनाम् २ बुद्धिभेदम् ३ न ४ जनयेत् ५ विद्वान् ६ युक्तः ७ सर्वकर्माणि ८ समाचरन् ९ जोषयेत् १० ।

अर्थ—जब अज्ञानियों पर कृपा करना ही है, तो फिर उनको कर्म में क्यों प्रवृत्त किया जाय ? उनको भी ब्रह्म-तत्त्व का उपदेश करना चाहिए, यह शंका करके श्रीभगवान् कहते हैं कि कर्मसंगी को अर्थात् अज्ञानियों को कभी भूलकर भी ब्रह्म-ज्ञान न सिखलाना चाहिये। ब्रह्म-ज्ञान के अधिकारी और ही मुमुक्षु शुद्धान्तःकरणवाले हैं। स्त्री, पुत्र और धन में जो आसक्त हैं वे इसके अधिकारी नहीं हैं। अज्ञानी १ कर्मसंगियों की २ बुद्धि का भेद ३ न ४ उत्पन्न करे ५ विद्वान् ६ सावधान होकर ७ सि० अपने स्वरूप में * सब कर्मों को ८ करता हुआ ६ सि० अज्ञानियों को कर्म में * प्रेरे अर्थात् आप भी करे और उनसे भी करावे १० ।

तात्पर्य—कर्मों में, पुत्र आदि पदार्थों में, और देह आदि में जो आसक्त हैं ज्ञानी उनकी बुद्धि को कर्मों से न हटावे अर्थात् उनसे यह न कहे कि आत्मा अकर्ता, अद्वैत, अभोक्ता, स्वतंत्र, शुद्ध, सच्चिदानंद, निर्विकार ऐसा है। कर्म क्यों करते हो ? कर्म तो जड़ है, इस प्रकार उनकी बुद्धि का भेद न करे। क्योंकि उनका अंतःकरण रागद्वेषादि सहित होने से उनको आत्मा का ज्ञान न होगा। कर्म छोड़ देने से उनको इस लोक में वा परलोक में; सुख न होगा। और न उनके अन्तःकरण से तम-रज और काम-क्रोध आदि दूर होंगे, इसहेतु अज्ञानी जन कर्म न करने से भ्रष्ट हो जायँगे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

अन्वय—सर्वशः १ कर्माणि २ प्रकृतेः ३ गुणैः ४ क्रियमाणानि ५ अहंकारविमूढात्मा ६ इति ७ मन्यते ८ अहम् ६ कर्ता १० ।

अर्थ—अज्ञानी कर्मों में मन से आसक्त हो जाता है, यह कहते हैं। सब प्रकार से १ कर्म २ प्रकृति के ३ गुणों करके ४ किये जाते हैं अर्थात् गुण ही कर्त्ता है ५ अहंकार करके विमूढ़ है अन्तःकरण जिसका ६ सि० वह * यह ७ मानता है ८ सि० कि * मैं ६ कर्ता १० सि० हूं, इसीहेतु कर्मों में आसक्त हो जाता है * ।

तात्पर्य—अहंकार करके अर्थात् इंद्रियादिकों में आत्मा का अध्यास करके अर्थात् मैं देखता हूं, खाता हूं, समझता हूं इत्यादि—इस प्रकार इन्द्रियादिकों के साथ आत्मा की एकता करके भ्रान्ति को प्राप्त हुई है बुद्धि जिसकी, वह यह मानता है कि मैं कर्ता हूं ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

अन्वय—महाबाहो १ गुणकर्मविभागयोः २ तत्त्ववित् ३ तु ४ इति ५ मत्वा ६ न ७ सज्जते ८ गुणाः ९ गुणेषु १० वर्तन्ते ११ ।

अर्थ—ज्ञानी कर्मों म मन से नहीं आसक्त होता है, यह कहते हैं । हे अर्जुन ! १ गुण और कर्मों के विभाग का २ तत्त्व जाननेवाला ३ तो ४ यह ५ मानकर ६ नहीं ७ आसक्त होता है ८ सि० वह कर्मों में क्या मानता है, इस अपेक्षा में कहते हैं कि * इंद्रिय ९ विषयों में १० वर्तती हैं ११ सि० आत्मा निर्विकार, शुद्ध है, ज्ञानी यह मानता है * ।

तात्पर्य—मैं गुणात्मक नहीं हूं अर्थात् मैं गुणरूप नहीं हूं, इस प्रकार गुणों से आत्मा को पृथक् समझता है । और ये कर्म मेरे नहीं हैं, इस प्रकार कर्मों से आत्मा को पृथक् समझता है ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

अन्वय—प्रकृतेः १ गुणसंमूढाः २ गुणकर्मसु ३ सज्जन्ते ४ तान् ५ अकृत्स्नविदः ६ मन्दान् ७ कृत्स्नवित् ८ न ९ विचालयेत् १० ।

अर्थ—कर्मसंगी मन्दमति हैं, इसहेतु भी उनको ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश नहीं करना चाहिए, यह कहते हैं । प्रकृति के १ सि० सत्त्वादि * गुणों से भ्रान्त हो २ गुणों के कर्मों में ३ आसक्त हैं ४ सि० जो * उन अल्पज्ञ मन्दमति पुरुषों को ५ । ६ । ७ सर्वज्ञ ज्ञानी ८ न ९ विचाले १० सि० कर्मों से * अर्थात् उनको ब्रह्म-तत्त्व का उपदेश नहीं करना चाहिए । वे ब्रह्म-ज्ञान के अभी

अधिकारी नहीं हैं। जब वे आप जिज्ञासा करें, तब उनको उपदेश करना योग्य है ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अन्वय--मयि १ अध्यात्मचेतसा २ सर्वाणि ३ कर्माणि ४ संन्यस्य ५ निराशीः ६ निर्ममः ७ विगतज्वरः ८ भूत्वा ९ युद्ध्यस्व १० ।

अर्थ—मुमुक्षु को किस प्रकार कर्म करना चाहिये सो कहते हैं। मुझ सर्वज्ञत्व आदि गुणविशिष्ट सर्वात्मा में १ विवेक बुद्धि अर्थात् अन्तर्यामी के अधीन हो मैं यह कर्म करता हूं, यह कर्म परमेश्वरार्थ है, मुझको फल की इच्छा नहीं, इस बुद्धि से २ सब कर्मों को अर्थात् सब कर्मों के फल को ३। ४ सि० परमेश्वर * में अर्पण करके ५ आशारहित ६ ममतारहित ७ सन्तापरहित ८ होकर ९ युद्ध कर १० सि० क्षत्रियों का युद्ध ही स्वधर्म और कर्म है; सो इस प्रकार कर, जैसे ऊपर कहा है *

तात्पर्य—कर्म करने के समय किसी प्रकार के फल की इच्छा या आशा नहीं रखना चाहिये। कर्मों के फल में ममतारहित इस वास्ते होना चाहिये कि उनका फल परमेश्वर को अर्पण हो चुका है। अभाव-पदार्थ में ममता नहीं हो सकती। कर्म करने के समय धीरज और उत्साह रखना चाहिए ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

अन्वय--ये १ श्रद्धावन्तः २ अनसूयन्तः ३ मानवाः ४ मे ५ इदम् ६ मतम् ७ नित्यम् ८ अनुतिष्ठन्ति ९ ते १० अपि ११ कर्मभिः १२ मुच्यन्ते १३ ।

अर्थ--श्रीमहाराज कहते हैं मैंने प्रमाणों के सहित यह उपदेश किया है, इसके अनुष्ठान करने में बड़ा गुण है, जो १ श्रद्धावाले २ असूयारहित ३ मनुष्य ४ मेरे ५ सि० मैंने जो पीछे उपदेश किया है * इस ६ मत को ७ नित्य ८ अनुष्ठान करते

हैं ६ अर्थात् जबतक भले प्रकार उनके अन्तःकरण से राग द्वेष आदि दूर नहीं हो जाते, तब तक जो कर्म मेरी आज्ञा से करते हैं ६ वे कर्माधिकारी कर्मसंगी १० भी ११ कर्मों से १२ छूट जाते हैं अर्थात् कर्म करने से उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, फिर वे अपने आप कर्मों को त्याग कर ज्ञान-निष्ठ हो जाते हैं १३ ।

तात्पर्य—जो श्रीमहाराज कहते हैं, सो सत्य है, निःसन्देह भगवत्-आराधन आदि कर्मों का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान द्वारा मुक्ति होती है, इसको श्रद्धा कहते हैं । गुणों में दोष निकालना, इसको असूया कहते हैं । जो भगवत् के उपदेश में यह दोष नहीं निकालते हैं कि परमेश्वर फल का तो त्याग कराते हैं, और कर्म करने को कहते हैं, ऐसे दोषरहित पुरुषों को असूयारहित कहते हैं । श्रद्धावान् और असूयारहित जो मनुष्य मेरे पूर्वोक्त उपदेश के अनुसार चलते हैं, वे कर्मों के अधिकारी होने पर भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

अन्वय—ये १ तु २ मे ३ एतत् ४ मतम् ५ न ६ अनुतिष्ठन्ति ७ अभ्यसूयन्तः ८ तान् ९ अचेतसः १० नष्टान् ११ सर्वज्ञानविमूढान् १२ विद्धि १३ ।

अर्थ—गुण में जो दोष की कल्पना करते हैं वे महानीच हैं, सोई कहते हैं । जो मेरे मत का अनुष्ठान करते हैं वे तो विद्वान् हैं, और जो १ । २ मेरे ३ इस मत का ४ । ५ नहीं ६ अनुष्ठान करते हैं ७ सि० प्रत्युत * असूया करते हैं ८ उन अल्पज्ञ मुरदों को ९ । १० । ११ सब ज्ञान के विषय मूढ हैं १२ सि० यह * जानो १३ ।

तात्पर्य—मोक्ष-मार्ग में मुरदे के तुल्य हैं, इसवास्ते उनको नष्ट कहा है । कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है, तमोगुण दूर होता है और उपासना से चित्त एकाग्र होता है, रजोगुण दूर होता है, यही कर्म, उपासना और अष्टांग योग आदि का परम प्रयोजन है । फिर ज्ञान से मोक्ष होता है, यह

मेरा मत है । इससे पृथक् जो किसी का पन्थ, मत का सम्प्रदाय है, उन सबको सर्वरूप ब्रह्म-ज्ञान के विषय व्यर्थ जानो । गुणों में जो अवगुणों की कल्पना करते हैं उनको 'अभ्यसूयन्तः' कहते हैं । वे ऐसी कल्पना करते हैं कि जो शुभ उपदेश करे उसको वाक्यवादी कहते हैं; जो मौन रहे उसको पाखंडी, मूर्ख और अभिमानी कहते हैं; जो संतोष से बैठा रहे उसको आलसी कहते हैं और जो उद्यम करे, उसको लोभी कहते हैं । सारांश यह कि मैंने बहुत विचार किया विद्वानों का कोई ऐसा गुण नहीं, जिसको दुष्टों ने दूषित न किया हो । यदि अक्षरों का अर्थ फेरकर अनर्थ करें, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

अन्वय--भूतानि १ प्रकृतिम् २ यान्ति ३ स्वस्याः ४ प्रकृतेः ५ सदृशम् ६ ज्ञानवान् ७ अपि ८ चेष्टते ९ निग्रहः १० किम् ११ करिष्यति १२ ।

अर्थ--सब ही मनुष्य प्रथम कर्मों का अनुष्ठान कर, अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान-निष्ठ क्यों नहीं होते हैं ? जिससे पूर्ण, परमानन्द, नित्य, निर्विकार की प्राप्ति होती है, इस सीधे रास्ते पर प्राणी क्यों नहीं चलते हैं ? नाना प्रकार के अर्थों की कल्पना करके आपकी आज्ञा को क्यों नहीं मानते हैं ? इस अपेक्षा में श्रीमहाराज यह कहते हैं कि, सब प्राणी १ सि० अपनी * प्रकृति को २ प्राप्त हो रहे हैं ३ अपनी ४ प्रकृति के ५ सदृश ६ ज्ञानवान् ७ भी ८ चेष्टा करता है ९ सि० जो अज्ञानी जीव अपने स्वभाव के अनुसार चले, तो इसमें क्या कहना है ? फिर मेरा वा किसी का * निग्रह १० क्या ११ करेगा ? १२ ।

तात्पर्य—पूर्व कर्मों के संस्कारों से जो स्वभाव जीवों का हो रहा है (रजोगुणी, तमोगुणी वा सत्त्वगुणी) उसी स्वभाव को सब प्राप्त हो रहे हैं और वैसे ही कर्म करते हैं । जो पुरुष अपने स्वभाव के अनुसार कुमार्ग में प्राप्त हो रहा है, उसको किसी का उपदेश क्या फल देगा ? क्योंकि स्वभाव बलवान् है । इसहेतु मेरा उपदेश भी नहीं मानते हैं ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अन्वय—इन्द्रियस्य १ इन्द्रियस्य २ अर्थे ३ रागद्वेषौ ४ व्यवस्थितौ ५ तयोः ६ वशम् ७ न ८ आगच्छेत् ९ तौ १० हि ११ अस्य १२ परिपन्थिनौ १३ ।

अर्थ—जब कि आप स्वभाव को ही बलवान् कहते हो, तो वेद आदि का विधि निषेध वृथा ही है । यह शंका करके कहते हैं, इन्द्रिय इन्द्रिय का १ । २ सि० अर्थात् सब इन्द्रियों का अपने अपने * अर्थ में अर्थात् शब्द आदि पदार्थों में ३ राग द्वेष ४ स्थित हैं अर्थात् सब इन्द्रियों के विषयों में राग भी है, और द्वेष भी है ५ उनके अर्थात् राग द्वेष के ६ वश को ७ नहीं ८ प्राप्त हो अर्थात् राग द्वेष के वश न हो जावे ९ सि० क्योंकि * वे १० ही अर्थात् राग द्वेष ही ११ इसके अर्थात् मुमुक्षु के मोक्ष-मार्ग में १२ चोर हैं १३ सि० लूटनेवाले हैं * ।

तात्पर्य—सब इन्द्रियों को अनुकूल पदार्थ में तो राग है और प्रतिकूल में द्वेष है । यह बात ज्ञानी की भी होती है और अज्ञानी की भी होती है । यहां तक तो स्वभाव बलवान् है, किन्तु राग द्वेष के वश हो जाना, अज्ञानी का काम है और वश में न होना यह ज्ञानी का काम है । जैसे निर्मल और गम्भीर जल में एक मणि पड़ा है, उसको देखकर ज्ञानी का भी मन चला, और अज्ञानी का भी मन चला, यहां तक तो स्वभाव की प्रबलता है । क्योंकि रजोगुण के प्रभाव से मणि में दोनों का राग हो गया अर्थात् इच्छा उत्पन्न हो गई । परन्तु ज्ञानी ने तो यह समझा कि जल बहुत है, जो मैं इसमें कूदा तो डूब जाऊंगा । अज्ञानी को यह समझ न थी कि बहुत जल में डूब जाते हैं, वह रजोगुण के वश से, तृष्णा राग आदि का दबाया हुआ, कूदकर डूब गया । इस जगह ज्ञानी और अज्ञानी, इन दोनों शब्दों का तात्पर्य बतलाया गया है, ब्रह्म-ज्ञानी का प्रसंग नहीं है । इसी प्रकार स्त्री आदि पदार्थों में सबका राग द्वेष है । परन्तु जिन्होंने शास्त्र के द्वारा और गुरु के द्वारा यह निश्चय कर रक्खा है कि कांचन और कान्ता आदि पदार्थ मोक्ष-मार्ग के वैरी हैं, वे तो राग आदि होने पर भी उनमें प्रवृत्त नहीं होते,

और जिन्होंने शास्त्र नहीं श्रवण किया, वे धोखा (धक्के) खाते हैं । इसहेतु शास्त्र की विधि निषेध स्वभाव से बलवान् है । शास्त्र का श्रवण करने का तात्पर्य अनुष्ठान करने से है, नहीं तो हजारों मनुष्य दिन में श्रवण करते हैं और रात्रि को भूलकर फिर वही खोटा काम करते हैं । पदार्थों में राग द्वेष होना, यह तो स्वभाव की प्रबलता है, परन्तु इनमें प्रवृत्त होना, वा न होना, यह निश्चय शास्त्र द्वारा होता है । शीत आदि के सहने में प्रवृत्ति, स्त्री और धन इत्यादि पदार्थों से निवृत्ति शास्त्र द्वारा होती है ॥ ३४ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् १ परधर्मात् २ स्वधर्मः ३ विगुणः ४ श्रेयान् ५ स्वधर्मे ६ निधनम् ७ श्रेयः ८ परधर्मः ९ भयावहः १० ।

अर्थ—स्वभाव के ही वश होकर मनुष्य डूबता है, इसलिये पहिले स्वभाव को जीतना चाहिए । स्वभाव वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करने से ही जीता जाता है, सोई कहते हैं । सद्गुणों से युक्त पराये धर्म से १ । २ अपना धर्म ३ किसी गुण से रहित ४ सि० भी हो, तो भी * श्रेष्ठ ५ सि० है * अपने धर्म में ६ मरना ७ श्रेष्ठ ८ सि० है * पराया धर्म ९ भय को प्राप्त करानेवाला है १० ।

तात्पर्य—जो अपना निवृत्ति धर्म है वा प्रवृत्ति, वही श्रेष्ठ है । निवृत्ति-धर्मवाले को तो प्रवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान न करना चाहिये और प्रवृत्ति-धर्म-वाले को निवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान न करना चाहिये । जो धर्म अपने वर्ण वा आश्रम का है, वही वर्तना योग्य है । अपने धर्म का अनुष्ठान करने से स्वभाव जीता जा सकता है अथवा अपना धर्म जो सच्चिदानन्द-रूप, निर्विकार, त्रिगुण भी है अर्थात् सत्त्व, तम और रज ये गुण उसमें नहीं हैं, तो भी गुणवाले पर-धर्म से श्रेष्ठ है । इन्द्रियादिकों का जो धर्म है वह आत्मा का धर्म नहीं है, वही पर-धर्म कहलाता है । उस पर-धर्म में मरना अर्थात् कर्ता होकर, इन्द्रियादिकों के साथ मिलकर, जो देह का त्याग करना है, वह संसार को प्राप्त करानेवाला है । 'भय' यह नाम संसार का ही है । और अपने धर्म में मरना अर्थात् ज्ञान-निष्ठा, ब्रह्माकार, वृत्ति-स्वरूप में जो

देह का त्याग है, वह श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मुक्ति का हेतु है। यहां श्रुति प्रमाण है—"काश्यां तु मरणान्मुक्तिः। काशः ब्रह्मतत्त्वप्रकाशः यस्यां अवस्थायां सा काशी" काशी उस अवस्था का नाम है, जिसमें ब्रह्म-तत्त्व का प्रकाश होता है। उस काशी में मरने से मुक्ति होती है॥ ३५॥

अर्जुन उवाच।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३६॥

अन्वय—अथ १ वार्ष्णेय २ अनिच्छन् ३ अपि ४ अयम् ५ पूरुषः ६ केन ७ प्रयुक्तः ८ पापम् ९ चरति १० बलात् ११ इव १२ नियोजितः १३।

अर्थ—श्रीभगवान् ने कहा है कि राग-द्वेष के वश न होना, पाप न करना, और पर-धर्म का अनुष्ठान न करना चाहिए। अपने-ही धर्म का पालन करना और वेदोक्त मार्ग पर चलना चाहिए। यह सब सत्य है, परन्तु जीव तो परतंत्र प्रतीत होता है, जो स्वतंत्र हो तो सब कुछ कर सकता है। कोई ऐसा प्रबल प्रतीत होता है कि जो जीव से जबरदस्ती पाप कराता है। यह विचारकर अर्जुन श्रीमहाराज से प्रश्न करता है कि हे महाराज! वह कौन है, जिसके वश होकर जीव पाप करता है? 'अथ' यह शब्द प्रश्न में आता है १ हे कृष्णचंद्र! २ नहीं इच्छा करता हुआ ३ भी ४ यह ५ जीव ६ किस करके ७ प्रेरा हुआ ८ पाप को ९ करता है? १० सि० ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने * बल से ११ जैसे १२ सि० पाप में * जोड़ दिया है १३ सि० जैसे बैल को जबरदस्ती गाड़ी में जोड़ देते हैं, वैसे ही जीव से कोई जबरदस्ती पाप कराता है, ऐसा प्रतीत होता है *।

तात्पर्य—पाप करने में क्या हेतु है, यह अर्जुन का प्रश्न है॥ ३६॥

श्रीभगवानुवाच।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥३७॥

अन्वय—एषः १ कामः २ एषः ३ क्रोधः ४ रजोगुणसमुद्भवः ५

महाशनः ६ महापाप्मा ७ एनम् ८ इह ९ वैरिणम् १० विद्धि ११

अर्थ—श्रीभगवान् कहते हैं कि, हे अर्जुन ! तूने जो पूछा कि पाप करने में क्या हेतु है सो सुन, यह १ काम २ सि० और * यह ३ क्रोध ४ सि० यही दोनों पाप करने में हेतु हैं । यही जबर-दस्ती जीव से पाप कराते हैं । इस लोक और परलोक के पदार्थों की जो कामना है, यही पाप की जड़ है । यही काम और क्रोध का आकार हो जाता है । कैसा है यह काम * रजोगुण से उत्पत्ति है जिसकी अर्थात् काम की भी जड़ रजोगुण है । इस विशे-षण का यह तात्पर्य है कि रजोगुण के जीतने से काम भी जीता जा सकता है, और काम के जीतने से क्रोध जीता जा सकता है । सत्त्वगुण बढ़ने से रजोगुण कम होना है ५ फिर कैसा है वह काम ? बड़ा भोजन है जिसका अर्थात् कितना ही भोग भोगो, कभी इच्छा पूर्ण न होगी, प्रत्युत दूनी आग लगेगी । इसहेतु वह काम ६ महापापी ७ सि० है । काम से ही यह जीव पाप करता है * इसको अर्थात् काम को ८ मोक्ष-मार्ग में ९ वैरी १० जानो ११ ।

तात्पर्य—कामना को वैरी (विष से भी सिवाय) समझकर, इस लोक और परलोक की कामना का त्याग करना यही मोक्ष का हेतु है ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यथा १ धूमेन २ वह्निः ३ आव्रियते ४ यथा ५ च ६ आदर्शः ७ मलेन ८ उल्बेन ९ गर्भः १० आवृतः ११ तथा १२ तेन १३ इदम् १४ आवृतम् १५ ।

अर्थ—काम की शत्रुता यह है, जैसे १ धूम से २ अग्नि ३ ढका है ४ और जैसे ५ । ६ दर्पण (शीशा) ७ मल से ८ सि० मैला हो रहा है, और जैसे * जरायु से ९ गर्भ १० ढका रहता है ११ वैसे ही १२ उससे अर्थात् काम से १३ यह अर्थात् विवेक, ज्ञान वा आत्मा १४ ढका हुआ है १५ ।

• तात्पर्य—जैसे धूम आदि ने अग्नि आदि को ढक रक्खा है, वैसे ही

काम ने विचार, विवेक और ज्ञान को ढक रक्खा है। ये तीन दृष्टान्त उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ, इन तीन अधिकारियों के वास्ते हैं। जरायु के भीतर जो बच्चा होता है, उसका नाम गर्भ है। बच्चे के ऊपर से जरायु दूर करने में थोड़ा ही यत्न करना पड़ता है, इसलिये यह दृष्टान्त उत्तम के वास्ते है। बीच का मध्यम के वास्ते और शेष कनिष्ठ के वास्ते है॥ ३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

अन्वय—कौन्तेय १ एतेन २ कामरूपेण ३ ज्ञानम् ४ आवृतम् ५ ज्ञानिनः ६ नित्यवैरिणा ७ दुष्पूरेण ८ अनलेन ९ च १०।

अर्थ—हे अर्जुन! १ इस काम-रूप ने २। ३ ज्ञान को ४ ढक रक्खा है ५ सि० अर्थात् इस लोक और परलोक के पदार्थों की कामना ज्ञान को नहीं होने देता है, कैसा है यह काम कि अज्ञानियों को तो भोगों की प्राप्ति का प्रयत्न करने में, और प्राप्त हुए भोगों के नाश करने में वैरी-सा प्रतीत होता है, और भोगने के समय तो जीव से भी प्यारा है और ज्ञानी को तो भोग के समय भी वैरी प्रतीत होता है। इस हेतु * ज्ञानी का ६ नित्य-वैरी है ७ सि० ज्ञानी यह समझता है कि इन भोगों ने ही परमानन्द-स्वरूप परमात्मा से विमुख कर रक्खा है, इसवास्ते सब काल में ज्ञानी को भोग वैरी प्रतीत होते हैं। फिर कैसा है यह काम * भोगों से कभी पूर्ण नहीं होता है ८ और अग्नि के सदृश स्वभाव है जिसका ९। १०

तात्पर्य—जैसे अग्नि में जितना घी और ईंधन डाला जाता है उतना ही अधिक प्रचण्ड होता है, ऐसी ही काम की गति है। भोगों की जितनी अधिक प्राप्ति होती है, उतनी ही तृष्णा और कामना बढ़ती जाती है। सातवां, आठवां और नवां ये तीनों पद 'कामरूपेण' इस पद के विशेषण हैं॥ ३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

अन्वय—अस्य १ अधिष्ठानम् २ इन्द्रियाणि ३ मनः ४ बुद्धिः ५

उच्यते ६ एषः ७ ज्ञानम् ८ आवृत्य ९ एतैः १० देहिनम् ११ विमोहयति १२।

अर्थ—काम के जीतने के वास्ते काम का अधिष्ठान बताते हैं अर्थात् काम जहां रहता है उन स्थानों को बताते हैं। क्योंकि जब तक वैरी का घर न जाना जावे तब तक कैसे जीता जावे, इसका अर्थात् काम का १ अधिष्ठान, रहने की जगह २ इन्द्रिय ३ मन ४ बुद्धि ५ कहते हैं अर्थात् महात्मा यह कहते हैं कि इन्द्रिय मन बुद्धि काम के रहने की जगहें हैं। क्योंकि प्रथम विषयों को देखा, सुना और फिर यह संकल्प विकल्प किया कि इस पदार्थ को भोगना चाहिए वा नहीं। फिर यह निश्चय कर लिया कि अवश्य इस पदार्थ को प्राप्त करके भोगेंगे ६ सो यह ७ सि० काम *ज्ञान को ८ ढककर ९ इन करके अर्थात् इन्द्रिय आदि करके १० जीव को ११ भ्रान्त कर देता है अर्थात् काम करके जीव अन्धा-सा हो जाता है। कामना के वश होकर बुरे-भले की सुधि नहीं रहती है १२ ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—तस्मात् १ भरतर्षभ २ आदौ ३ इन्द्रियाणि ४ नियम्य ५ एनम् ६ पाप्मानम् ७ त्वम् ८ प्रजहि ९ हि १० ज्ञानविज्ञाननाशनम् ११।

अर्थ—जब कि यह काम इन्द्रियादिकों में रहता है, इस कारण १ हे अर्जुन! २ सि० मोह होने से * प्रथम (आदि में) ३ सि० ही * इन्द्रियों को ४ रोककर ५ इस ६ पापी को अर्थात् काम को ७ तू ८ मार (दूर कर) ९ क्योंकि १० सि० यही * ज्ञानविज्ञान का नाश करनेवाला है ११।

तात्पर्य—शास्त्र आचार्यों से जो सुन समझ रक्खा है, उसको इस जगह ज्ञान कहते हैं और विशेष युक्तियों से जो उसी ज्ञान का निश्चय है, उसको विज्ञान कहते हैं। परंतु यहां ब्रह्म-ज्ञान और उसका प्रत्यक्ष अनुभव विज्ञान का ग्रहण नहीं है; क्योंकि उनको कोई नाश नहीं कर सकता। ब्रह्म-ज्ञान

और विज्ञान के पीछे काम आदि का उदय विद्वान् के अन्तःकरण में होता ही नहीं, और जो अज्ञानी को प्रतीत हो, तो उसको कामाभास समझना चाहिए । "रागो लिङ्गमबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे" अर्थात् रागादि अज्ञान के चिह्न हैं, क्योंकि रागादि ज्ञान[१] और विज्ञान को उदय नहीं होने देते, किन्तु ये रागादि यदि विद्वान् में हों, तो उसकी कुछ हानि नहीं कर सकते । जब तक इन्द्रिय और विषय का संबंध हो, उससे पहले ही विचार करके इन्द्रियों का निरोध करना चाहिये । जब विषय का संबंध हो जाता है तब फिर इन्द्रियां नहीं रुक सकतीं, और इन्द्रियों के रोकने से ही मन और बुद्धि से काम जाता रहता है ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

अन्वय—इन्द्रियाणि १ पराणि २ आहुः ३ इन्द्रियेभ्यः ४ मनः ५ परम् ६ बुद्धिः ७ मनसः ८ तु ९ परा १० यः ११ बुद्धेः १२ तु १३ परतः १४ सः १५ ।

अर्थ—कुछ आश्रय भी चाहिए कि जिससे इन्द्रियों को विषयों से रोका जावे, और काम को जीता जावे । इस अपेक्षा में श्रीमहाराज आश्रय बतलाते हैं । स्थूल देह से, इन्द्रियों को १ श्रेष्ठ २ कहते हैं ३ सि० विद्वान्; क्योंकि सूक्ष्म हैं और प्रकाशक हैं, और * इन्द्रियों से ४ मन को ५ श्रेष्ठ ६ सि० कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियों का प्रेरक है और * बुद्धि ७ मन से ८ भी ९ श्रेष्ठ १० सि० है, क्योंकि मन की मालिक है । बुद्धि को मनीषा कहते हैं * जो ११ बुद्धि से १२ भी १३ श्रेष्ठ १४ सि० है अर्थात् सबका जो परम प्रकाश है * सो १५ सि० आश्रय रक्षक आत्मा है । इसी को परमपुरुष, उत्तमपुरुष, पूर्णब्रह्म, परमगति, परमधाम और राम कहते हैं । इससे परे पृथक् श्रेष्ठ पदार्थ कुछ नहीं * "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः।" यह श्रुति है । "सबकर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवधपति सोई" ॥ ४२ ॥

---

१ आनन्दामृतवर्षिणी के तीसरे अध्याय में ज्ञानविज्ञान का लक्षण भले प्रकार निरूपण किया गया है ।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

अन्वय—महाबाहो १ एवम् २ बुद्धेः ३ परम् ४ बुद्ध्वा ५ आत्मना ६ आत्मानम् ७ संस्तभ्य ८ कामरूपम् ९ शत्रुम् १० जहि ११ दुरासदम् १२ ।

अर्थ—सि० आत्मा बुद्धि आदिकों का साक्षी, प्रेरक, अक्रिय, निर्विकार और बुद्धि आदि पदार्थों से विलक्षण है * हे अर्जुन ! १ इस प्रकार २ बुद्धि से ३ परम श्रेष्ठ ४ सि० परमानन्द-स्वरूप परमात्मा को * जानकर ५ सि० और फिर उसी * बुद्धि से ६ मन को ७ सि० आत्मा में * निश्चल करके ८ काम-रूप वैरी को ९ । १० मार, त्याग कर, दूर कर ११ सि० कैसा है यह काम * दुःख से प्राप्ति है जिसकी १२ अर्थात् बड़े-बड़े दुःखों से काम (भोग) प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ४

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

अन्वय—इमम् १ अव्ययम् २ योगम् ३ विवस्वते ४ अहम् ५ प्रोक्तवान् ६ विवस्वान् ७ मनवे ८ प्राह ९ मनुः १० इक्ष्वाकवे ११ अब्रवीत् १२ ।

अर्थ—पीछे दो अध्यायों में जो कर्म-संन्यास-योग, अर्थात् ज्ञान योग, ज्ञान-निष्ठा और उसका साधन (उपाय) कर्म-योग-निरूपण किया गया है, इसी में सब वेदों का अर्थ हो गया । प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण यही दो प्रकार का धर्म समस्त पदार्थ है । यह कह चुके हैं कि ये दोनों धर्म अनादि हैं, सोई

श्रीभगवान् कहते हैं। इस अव्यय योग को १।२।३ सि० प्रथम सृष्टि के आदि में * आदित्य के अर्थ ४ मैंने ५ कहा अर्थात् यह ज्ञान-योग साधन सहित पहले मैंने आदित्य से कहा ६ आदित्य ने ७ मनु के अर्थ ८ कहा अर्थात् आदित्य ने मनु से कहा ९ मनु ने १० इक्ष्वाकु के अर्थ ११ कहा १२ अर्थात् मनु ने इक्ष्वाकु से कहा।

तात्पर्य—कर्म-योग और ज्ञान-योग को पृथक्-पृथक् स्वतंत्र मोक्ष के साधन दो योग नहीं समझना चाहिए, किन्तु केवल एक ज्ञान-योग ही मोक्ष का साधन है और कर्म-योग उसका अंग है। इसी वास्ते श्रीभगवान् ने योग शब्द के विषय में एक वचन कहा द्विवचन का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि मोक्ष-मार्ग दो नहीं हैं। इस ज्ञान-योग का अव्यय अविनाशी फल है, इसवास्ते योग को भी अव्यय कहा है ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

अन्वय—एवम् १ परम्पराप्राप्तम् २ इमम् ३ राजर्षयः ४ विदुः ५ परन्तप ६ महता ७ कालेन ८ इह ९ सः १० योगः ११ नष्टः १२।

अर्थ—पिछले मंत्र में जैसे कहा, इस प्रकार १ परम्परा से प्राप्त है २ सि० यह ज्ञान-योग * इसको ३ सि० पहिले से ही बड़े-बड़े * राजऋषि ४ जानते हैं ५ तात्पर्य, तू भी क्षत्रिय है, तुझको भी यह ज्ञान-योग उपाय सहित जानकर इसका अनुष्ठान करना योग्य है। हे अर्जुन! ६ बहुत ७ काल से ८ इस लोक में ९ वह १० योग अर्थात् ज्ञान-योग ११ छिप गया है १२।

तात्पर्य—भेदवादियों का राजबल हो जाने से, और भेदवादी पंडितों के अनर्थ करने से, यह वेदोक्त ज्ञान-योग साक्षात् मोक्ष का साधन लुप्त हो गया है, नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि उसका उपदेश करनेवाला अविनाशी अच्युत मैं विद्यमान हूं। इसीहेतु वह ज्ञान-योग भी अव्यय नित्य है ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अन्वय—सः १ एव २ पुरातनः ३ अयम् ४ योगः ५ मया ६

ते ७ अद्य ८ प्रोक्तः ९ मे १० भक्तः ११ सखा १२ च १३ असि १४ इति १५ हि १६ एतत् १७ उत्तमम् १८ रहस्यम् १९ ।

अर्थ—जो ज्ञान मैंने आदित्य से कहा था, सोई १ । २ पहिला अनादि ३ यह ४ योग ५ मैंने ६ तेरे अर्थ ७ (तुझसे ७) अब ८ कहा है ९ [तू] मेरा १० भक्त ११ और सखा १२ । १३ है १४ यह १५ निश्चय १६ सि० रख, इसी वास्ते * यह १७ उत्तम १८ रहस्य १९ अर्थात् ज्ञान-योग मैंने तुझसे कहा । अथवा यह ज्ञान-योग ही श्रेष्ठ निश्चित श्रेय है, इसी वास्ते मैंने तुझसे कहा, तूने द्वितीय अध्याय में मुझसे पूछा था कि जो निश्चित श्रेय हो, सो मुझसे कहो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अन्वय—भवतः १ जन्म २ अपरम् ३ विवस्वतः ४ जन्म ५ परम् ६ एतत् ७ कथम् ८ विजानीयाम् ९ त्वम् १० आदौ ११ प्रोक्तवान् १२ इति १३ ।

अर्थ—श्रीभगवान् के कहने को असंभव मानता हुआ अर्जुन कहता है कि हे महाराज ! आपका १ जन्म २ पीछे ३ सि० द्वापर के अन्त में अब हुआ, और * आदित्य का ४ जन्म ५ पहिले ६ सि० सत्ययुग में हुआ था * यह ७ कैसे ८ मैं जानूं ९ आपने १० सि० सृष्टि के * आदि में ११ सि० आदित्य से * कहा था अर्थात् पहिले आपने आदित्य से किस प्रकार कहा १२ यह १३ सि० मेरा प्रश्न है । अर्जुन के इस प्रश्न से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अर्जुन को ब्रह्म का ज्ञान नहीं है, क्योंकि पूर्णब्रह्म, अनादि, अज, अमर को अब तक वसुदेवजी का पुत्र ही समझता है * ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

अन्वय—अर्जुन १ मे २ बहूनि ३ जन्मानि ४ व्यतीतानि ५ तव ६ च ७ तानि ८ सर्वाणि ९ अहम् १० वेद ११ परन्तप १२ त्वम् १३ न १४ वेत्थ १५ ।

अर्थ—अर्जुन के प्रश्न का अभिप्राय समझकर श्रीभगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! १ मेरे २ बहुत ३ जन्म ४ व्यतीत हुए हैं ५ सि० और * तेरे ६ भी ७ उन सबको ८ । ९ मैं १० जानता हूं ११ सि० शुद्ध सत्त्व-प्रधान मायोपहित होने से * हे अर्जुन ! १२ तू १३ नहीं १४ जानता है १५ सि० मलिन सत्त्वप्रधान अविद्योपहित होने से * ।

तात्पर्य—आदित्य को मैंने दूसरे रूप मे पहिले जन्म में उपदेश किया है ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अन्वय—अव्ययात्मा १ अजः २ अपि ३ सन् ४ भूतानाम् ५ ईश्वरः ६ अपि ७ सन् ८ स्वाम् ९ प्रकृतिम् १० अधिष्ठाय ११ आत्ममायया १२ संभवामि १३ ।

अर्थ—जब कि ईश्वर निर्विकार जन्मादि रहित है, तो उसका जन्म बार-बार कैसे हो सकता है ? यह शंका करके कहते हैं । निर्विकार है आत्मा जिसका अर्थात् मैं १ सि० सो मैं निर्विकार * जन्मरहित २ भी ३ होता हुआ ४ भूतों का ५ ईश्वर ६ भी ७ होकर ८ अपनी ९ माया का १० आश्रय करके ११ अपनी शक्ति सामर्थ्य से १२ प्रकट होता हूं १३ ।

तात्पर्य—त्रिगुणात्मक त्रिगुणवाली शुद्ध सत्त्वप्रधान माया को अपने अधीन करके माया के सम्बन्ध से मायोपहित होकर अवतार लेता हूं । ज्ञान, बल, वीर्य आदि अलौकिक, अचिंत्य, शक्ति से अपनी इच्छापूर्वक अवतार लेता हूं । वास्तव में जीववत् मैं देहधारी नहीं हूं । यद्यपि जन्मरहित निर्विकार ईश्वर भी मैं हूं, तो भी मेरा जन्म मायामात्र है, वास्तव में मैं अज हूं ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अन्वय—भारत १ यदा २ यदा ३ धर्मस्य ४ ग्लानिः ५ भवति ६ अधर्मस्य ७ अभ्युत्थानम् ८ तदा ९ हि १० अहम् ११ आत्मानम् १२ सृजामि १३ ।

अर्थ—किस काल में आपका जन्म होता है, इस अपेक्षा में कहते हैं, हे अर्जुन ! १ जिस जिस काल में २ । ३ धर्म की ४ हानि ५ होती है ६ सि० और * अधर्म की ७ अधिकता ८ सि० होती है * उस काल में ९ ही १० मैं ११ आत्मा को प्रकट करता हूं अर्थात् मैं अवतार लेता हूं १२ । १३ ।

तात्पर्य—साधन के सहित ज्ञान-योग जब कम हो जाता है, तब ही मैं अवतार लेता हूं । मेरे अवतार दो प्रकार के हैं ; एक नित्य अवतार, और दूसरा निमित्त अवतार । ज्ञानी, विरक्त, महात्मा और साधु मेरे नित्य अवतार हैं, और रामकृष्णादि निमित्त अवतार हैं । मनुष्यों के कल्पित पाखंड, पंथ, सम्प्रदायों की जब वृद्धि होती है, तब ही नित्य वा निमित्त अवतार लेता हूं ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

अन्वय—साधूनाम् १ परित्राणाय २ दुष्कृताम ३ च ४ विनाशाय ५ धर्मसंस्थापनार्थाय ६ युगे युगे ७ । ८ संभवामि ९ ।

अर्थ—आप अवतार क्यों लेते हो, इस अपेक्षा में कहते हैं । साधु महात्माओं की १ रक्षा (सहाय) के लिये २ और दुष्टों का ३ । ४ नाश करने के लिये अथवा साधनों के सहित ज्ञान-योग को स्थिर करने के वास्ते ६ युग युग में ७ । ८ सत्ययुग आदि हर एक युग में जब दुष्ट लोग साधु-लोगों से वैर (विरोध) करते हैं, तब मैं उसी काल में ८ अवतार लेता हूं ९ ।

तात्पर्य—साधु-जनों की रक्षा करने से धर्म की रक्षा होती है, धर्म के स्थिर रहने से अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती है । दुष्टों को जो दंड देना है, यह भी नारायण की उन पर कृपा है । क्योंकि जैसे माता पिता जब तक बालक को ताड़ना नहीं करते, तब तक वह नहीं सुधरता । जैसे माता पिता की ताड़ना निर्दयता से नहीं होती, ऐसे ही महेश्वर की ताड़ना दया

से ही होती है। जो लोग लोक-वासना आदि को त्यागकर केवल ब्रह्म-परायण हैं, सिवाय परमेश्वर के और किसी राजा, मित्र, धन आदि का आश्रय नहीं रखते, एस ही साधु महात्माओं के वास्ते अवतार होता है ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

अन्वय—दिव्यम् १ मे २ जन्म ३ कर्म ४ च ५ एवम् ६ यः ७ तत्त्वतः ८ वेत्ति ९ अर्जुन १० सः ११ देहम् १२ त्यक्त्वा १३ पुनः १४ जन्म १५ न १६ एति १७ मां १८ एति १९।

अर्थ—परमेश्वर के जन्म कर्मों को जो यथार्थ जानता है, वह परमपद मोक्ष को प्राप्त होता है, सोई कहते हैं। माया-मात्र अलौकिक १ मेरे २ जन्म ३ और कर्म को ४। ५ इस प्रकार ६ अर्थात् जब धर्म का नाश होने लगता है तब, और धर्म-प्रचारक साधु लोगों की रक्षा करने के लिये, और दुष्टों के नाश करने के लिये अवतार लेता हूं, इस प्रकार ६ जो ७ यथार्थ पर-मार्थदृष्टि से ८ जानता है ९ हे अर्जुन! १० वह ११ देह को १२ त्यागकर १३ फिर १४ जन्म को १५ नहीं १६ प्राप्त होता है १७ सि० वह * मुझ शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा को १८ प्राप्त होता है १९।

तात्पर्य—वास्तव में न परमेश्वर का जन्म होना बन सकता है और न उनमें कर्म का करना ही बन सकता है क्योंकि परमेश्वर निर्विकार है। अध्यारोप में व्यवहार-मात्र दृष्टि से तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिये भगवन् के जन्म, कर्म विद्वानों ने निरूपण किए हैं, और जो सिद्धान्त में भी कहते हैं कि भगवत् के जन्म, कर्म वास्तव में सत्य हैं। ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तियों द्वारा अपने अधीन अपनी इच्छा से ही जन्म लेता है, और दूसरों के भले के लिये कर्म करता है वह आप्तकाम है। प्रथम तो इस अर्थ में यह शंका है कि ईश्वर नित्य निर्विकार न रहा, ऐसा प्रतीत होता है कि किसी काल में (प्रलय आदि काल में) ईश्वर निर्विकार कहा जाता होगा अब तो ईश्वर रक्षा आदि कर्म करने से विकारवान स्पष्ट प्रतीत होता है। और प्रलय के समय में तो जीव भी निर्विकार होता है, इस प्रकार जीव को भी निर्विकार

कहना चाहिये । दूसरी शंका यह है कि यह कौन नहीं जानता है कि ईश्वर के जन्म, कर्म अपने वास्ते नहीं, पराए वास्ते होते हैं । ईश्वर आप्तकाम, अचिन्त्य, शक्तिमान्, स्वतंत्र, और स्वाधीन है, यह बात भी सब जानते हैं । परन्तु केवल इतने जानने से कोई परमेश्वर को प्राप्त नहीं होता ; क्योंकि यह ज्ञान ऐसा है कि बालकों को भी है, तो सबही को मुक्त हो जाना चाहिए । श्रीमहाराज के कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवत् की प्राप्ति केवल ईश्वर के ज्ञान से ही होती है । जिस ज्ञान से परमेश्वर की प्राप्ति होती है, वह ईश्वर का ज्ञान यह है कि परमेश्वर को नित्य, निर्विकार, शुद्ध, सच्चिदानन्द आत्मा से अभिन्न, जानना योग्य है । और परमेश्वर के जन्म, कर्म वास्तव में नहीं हैं, केवल मायामात्र हैं, तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिये अध्यारोप में कहे जाते हैं । यही वेदों का आशय है, और विद्वानों का अनुभव भी है ॥ ६ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अन्वय—ज्ञानतपसा १ पूताः २ माम् ३ उपाश्रिताः ४ मन्मयाः ५ वीतरागभयक्रोधाः ६ बहवः ७ मद्भावम् ८ आगताः ६ ।

अर्थ—ब्रह्म-ज्ञान से पृथक् किसी साधन की भी अपेक्षा न रखकर, केवल ब्रह्म-ज्ञान से ही असंख्यात जीव मुक्त हो गए । ब्रह्म-ज्ञान ही सनातन से मोक्ष-मार्ग है । सोई कहते हैं, ज्ञान-रूप तप करके अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान से १ पवित्र २ मुझको अर्थात् शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप आत्मा को ३ आश्रित अर्थात् केवल ज्ञाननिष्ठा से ही ४ ब्रह्म-स्वरूप ५ दूर हो गए हैं राग, भय, क्रोध जिनसे ६ सि० ऐसे ब्रह्म-ज्ञानी ✱ बहुत ७ मोक्ष को ८ प्राप्त हो गए हैं ६ ।

तात्पर्य—तप नाम विचार का है (तप विमर्शने इति धातुपाठ द्रष्टव्यम्) ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म-विचार इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है । ज्ञान और तप शब्द का अर्थ एक करने से अभिप्राय यह है कि ज्ञान स्वतंत्र मोक्ष का हेतु है, किसी और साधन की इच्छा नहीं रखता । शास्त्र में जो यह सुना जाता है कि तप करके ज्ञान होता है, इसका तात्पर्य यही है कि ब्रह्म-विचार के स्वरूप से ज्ञान होता है । विचार का स्वरूप यह है कि वह ब्रह्म निर्गुण है,

निर्विकार है, मुझसे भिन्न है या अभिन्न है, साकार है वा निराकार ? इस प्रकार मनन करने का नाम विचार है । इस विचार से निराकार, निर्गुण, ब्रह्म-स्वरूप, आत्मा से अभिन्न जानकर, पवित्र होकर ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं। ज्ञान के बराबर कोई साधन पवित्र नहीं है । पवित्र से ही पवित्र हो सकता है इस कारण ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है । पढ़ना और सुनना साधन हैं, कर्म और उपासना अन्य प्रकार हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

अन्वय—ये १ माम् २ यथा ३ प्रपद्यन्ते ४ तान् ५ तथा ६ एव ७ अहम् ८ भजामि ९ पार्थ १० सर्वशः ११ मनुष्याः १२ मम १३ वर्त्म १४ अनुवर्तन्ते १५ ।

अर्थ—अष्टांगयोग, सांख्य, कर्म, भेदभक्ति, अभेदभक्ति, ब्रह्म-ज्ञान पर्यन्त ये सब क्रम से मोक्ष-मार्ग हैं; परन्तु साक्षात् स्वतंत्र मुक्ति ब्रह्म-ज्ञानियों को ही प्राप्त होती है । दूसरों को क्रम से ज्ञान-द्वारा मुक्ति होती है, सोई कहते हैं । जो १ मुझ शुद्ध सच्चिदानंद को २ जैसे ३ भजते हैं ४ उनको ५ वैसे ही ६ ।७ मैं ८ भजता हूं ९ अर्थात् जैसे फल की मन में भावना करके मेरी उपासना करते हैं उनको मैं वैसा ही फल देता हूं । जो मुक्ति चाहते हैं उनको मैं मुक्त करता हूं और जो वृन्दावन के वृक्ष, गीदड़ आदि बना चाहते हैं, मुक्ति नहीं चाहते, उनको मैं वही फल देता हूं ९ सि० परन्तु * हे अर्जुन ! १० सब प्रकार के ११ मनुष्य १२ मेरे १३ सि० ही * मार्ग में अर्थात् ज्ञान-मार्ग में १४ पीछे वर्तते हैं अर्थात् चलते हैं १५ सि० तब मुक्त होते हैं *

तात्पर्य—योग, कर्म, भक्ति, तप आदि सब साधनों का अनुष्ठान करके, जब ज्ञान-निष्ठा का अनुष्ठान करते हैं, तब मुक्त होते हैं ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

अन्वय—कर्मणाम् १ सिद्धिम् २ काङ्क्षन्तः ३ इह ४ देवताः ५

यजन्ते ६ मानुषे ७ लोके ८ क्षिप्रम् ९ हि १० सिद्धिः ११ भवति १२ कर्मजा १३ ।

अर्थ—मोक्ष के वास्ते जो सब लोग भजन नहीं करते उसका कारण यह है कि लोगों को ज्ञान में निष्ठा और श्रद्धा नहीं होती, और इसी हेतु ज्ञान को थोथा और तुषों का कूटना कहते हैं। कर्मों की सिद्धि १ । २ चाहनेवाले अर्थात् शब्दादि भोग और स्त्री पुत्रादि के चाहनेवाले ३ इस लोक में ४ साकार देवताओं का ५ पूजन करते हैं ६ सि० साक्षात् पूर्णब्रह्म शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा की उपासना नहीं करते जिससे साक्षात् परमपद की प्राप्ति होती है * मनुष्य लोक में ७ । ८ शीघ्र ९ ही १० सिद्धि ११ होती है १२ कर्मजा अर्थात् कर्मों से उत्पत्ति है जिस सिद्धि की अर्थात् कर्मों का फल (स्त्री, पुत्र, धन आदि) मनुष्य लोक में ही शीघ्र प्राप्त हो जाता है १३ ।

तात्पर्य—कर्मों के करने से धन पुत्र आदि फल की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है, ज्ञान का फल परमपद है, वह तितिक्षा, वैराग्य और त्याग चाहता है अर्थात् परमपद की प्राप्ति शब्दादि भोगों के त्यागने से होती है । इसहेतु उनकी ज्ञान में निष्ठा नहीं होती और ज्ञान को थोथा, भूसे का कूटना बताते हैं। इसके सिवाय ब्रह्म-ज्ञान विना विद्या के मूर्खों की समझ में भी नहीं आता, उसका अनुष्ठान करना तो दूर रहा। मूर्ख आलसी और विषयी होते हैं, ज्ञान में श्रद्धा नहीं रखते, अनित्य पदार्थों में निष्ठा करके अनित्य फल को ही प्राप्त होते हैं और ज्ञान-निष्ठावाले परमपद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय—गुणकर्मविभागशः १ चातुर्वर्ण्यम् २ मया ३ सृष्टम् ४ तस्य ५ कर्तारम् ६ अपि ७ माम् ८ विद्धि ९ अकर्तारम् १० अव्ययम् ११ ।

अर्थ—जो निष्काम वेदोक्त अनुष्ठान करते हैं, और जो सकाम भजन करते हैं, ये सब चारों वर्ण आपके ही रचे हुए हैं। इन चारों वर्णों में जो विषमता आपने कर दी है, इसी हेतु कोई

सकाम हैं और कोई निष्काम हैं। इस दोष के कारण आप ही हैं, मनुष्यों का कुछ दोष नहीं। यह शंका करके कहते हैं। सत्त्वादि गुणों के विभाग से कर्मों का विभाग करके १ अर्थात् 'गुणविभागेन कर्मविभागः तेन इति समासः' जिसमें जैसा गुण देखा उसी के अनुसार उसके कर्मों का विभाग कर दिया। जैसे एक जीव को सत्त्वगुण-प्रधान देखा तो उसी सत्त्वगुण के अनुसार शम दम आदि उसके कर्मों का विभाग कर दिया, और ब्राह्मण उसका नाम प्रसिद्ध कर दिया। इसी प्रकार १ चारों वर्ण २ मैंने ३ रचे हैं ४ अध्यारोप में माया-मात्र, उनका ५ कर्ता ६ भी ७ मुझको ८ जानो ९ सि० और परमार्थ में * अकर्ता १० निर्विकार ११ सि० मुझको जानो। पीछे भी इसी अध्याय में परमेश्वर का निर्विकार सिद्ध कर चुके हैं, और आगे पंचम आदि अध्यायों में भले प्रकार सिद्ध करेंगे। और चारों वर्णों का भेद अठारहवें अध्याय में स्पष्ट लिखा है * ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

अन्वय—कर्माणि १ माम् २ न ३ लिम्पन्ति ४ न ५ मे ६ कर्मफले ७ स्पृहा ८ यः ९ माम् १० इति ११ अभिजानाति १२ सः १३ कर्मभिः १४ न १५ बध्यते १६ ।

अर्थ—वास्तव में अकर्ता होने से ही कर्म १ मुझको २ नहीं ३ स्पर्श करते ४ सि० और * न मुझको ६ कर्मों के फल में ७ चाह ८ सि० है * जो ९ मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को १० इस प्रकार ११ जानता है १२ सो १३ कर्मों करके १४ नहीं १५ बन्धन को प्राप्त होता है १६ ।

तात्पर्य—जैसे ईश्वर वास्तव में अकर्ता है ऐसे ही जीवात्मा को समझना चाहिए। ईश्वर को तो कोई भी विकारवान् नहीं जानता, किन्तु ईश्वर को अकर्ता निर्विकार जानने से जीव मोक्ष को नहीं प्राप्त होता। आत्मा को अकर्ता निर्विकार जानने से मोक्ष होता है ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अन्वय—एवम् १ ज्ञात्वा २ पूर्वैः ३ मुमुक्षुभिः ४ अपि ५ कर्म ६ कृतम् ७ पूर्वैः ८ पूर्वतरम् ९ कृतम् १० तस्मात् ११ त्वम् १२ एव १३ कर्म १४ कुरु १५।

अर्थ—अहंकार आदि रहित होकर किया हुआ कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता। आत्मा वास्तव में अकर्ता है, इस प्रकार १ जानकर २ पहिले जनक आदि मुक्ति की इच्छावालों ने ३। ४ भी ५ कर्म ६ किया है ७ मि० अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कुछ अभी नया यह कर्म-योग तुझको मैं उपदेश नहीं करता हूं। जब कि * पहिले जनक आदि ने ८ पहिले त्रेता आदि युगों में ९ किया है १० इस कारण ११ तू १२ भी १३ कर्म को १४ कर १५।

तात्पर्य—प्रथम सत्यादि युगों में जो मुक्ति की इच्छावाले हुए हैं, उन्होंने भी कर्म किया है। जो तुझको ब्रह्म-ज्ञान है तो लोकसंग्रह के लिये कर्म कर, और जो ज्ञान नहीं है, तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म कर, यह श्रीमहाराज का आशय है ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

अन्वय—कर्म १ किम् २ अकर्म ३ किम् ४ इति ५ अत्र ६ कवयः ७ अपि ८ मोहिताः ९ तत् १० कर्म ११ ते १२ प्रवक्ष्यामि १३ यत् १४ ज्ञात्वा १५ अशुभात् १६ मोक्ष्यसे १७।

अर्थ—स्नान, संध्या, पाठ, पूजा, जप, साधु-सेवा इत्यादि कर्म कहलाते हैं। जिस विधि से इनको पूर्व-मीमांसावाले करते हैं, उसी विधि से मैं भी करता हूं। कर्म करने में और क्या विचित्रता (विशेषता) है, जो बार-बार आप मुझसे कहते हो कि जैसे पहिले लोग कर्म करते आये हैं, उस प्रकार तू कर्म कर। यह शंका करके श्रीमहाराज कहते हैं कि लोक-प्रसिद्ध परम्परागत कर्म मुक्ति का हेतु नहीं होता, विद्वान् ज्ञानी जैसा

उपदेश करें, उस प्रकार कर्म करने से, वह कर्म मुक्ति का हेतु होता है। कर्म का स्वरूप समझना कठिन है, मैं तुझको समझाऊंगा। कर्म १ क्या २ सि० है और * अकर्म ३ क्या ४ सि० है * यह ५ सि० जो बात है * इसमें ६ कवि पंडित ७ भी ८ भ्रान्त हो गये हैं ९ उस कर्म को १० । ११ [मैं] तुझसे १२ कहूंगा १३ जिसको १४ जानकर १५ संसार से १६ [तू] मुक्त हो जायगा १७ ।

तात्पर्य—कौन कर्म करना चाहिये, और किस प्रकार करना चाहिये, और कौन-सा कर्म न करना चाहिए, इस बात के समझने में पंडित भी सन्देह और विपर्यय को प्राप्त हो जाते हैं। दृष्टान्त से इस बात को स्पष्ट करते हैं। जैसे एक औषध गरमी को दूर करती है, तब भी उसके खाने की रीति, तौल और समय बुद्धिमान् वैद्य से पूछना योग्य है, क्योंकि बुद्धिमान् वैद्य देश, काल और वस्तु का विचार करके कहेगा। प्रसिद्ध है कि एक ही दवा किसी देश में फल करती है, किसी में नहीं, वा दूसरे देश में उलटा फल भी कर देती है। इसी प्रकार काल और वस्तु में समझ लेना चाहिए। दवा के साथ जल आदि मिल जाने से और का और फल हो जाता है। इसी प्रकार कर्मों की व्यवस्था है। शास्त्र में जो यह बार-बार उपदेश किया गया है कि गुरु के बिना सब कर्म निष्फल हैं, यह सत्य है। क्योंकि देश, काल और वस्तु का विचार, ऐसी-ऐसी और बहुत सी बातें, केवल शास्त्र के पढ़ने सुनने से नहीं मिलती हैं। सद्गुरु महापुरुषों से एकान्त में मिलती हैं, और सत्पुरुषों का यह नियम है कि वे अपने अनन्य भक्त को बतलाते हैं। संसार में यह कहानी सच्ची है कि "जैसे जिसका गाना वैसा ही दूसरे का बजाना" अर्थात् जैसे दुनिया के लोग चतुर हैं, उनसे अधिक विद्वान् चतुर हैं ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

अन्वय—कर्मणः १ अपि २ बोद्धव्यम् ३ विकर्मणः ४ च ५ बोद्धव्यम् ६ अकर्मणः ७ च ८ बोद्धव्यम् ९ हि १० कर्मणः ११ गतिः १२ गहना १३ ।

अर्थ—कर्म का यथार्थ स्वरूप जानकर कर्म करना चाहिए। भेड़ की-सी चाल अच्छी नहीं यह श्रीमहाराज समझाते हैं। कर्म का १ सि० तत्त्व * भी २ जानना योग्य है ३ और विकर्म[२] का ४। ५ सि० तत्त्व भी * जानना योग्य है ६ और अकर्म का ७। ८ सि० तत्त्व भी * जानना योग्य है ९ क्योंकि १० कर्म की ११ गति १२ गहना १३ अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीनों की व्यवस्था गम्भीर (कठिन-विषम) है। भले प्रकार समझकर इन कर्मों को करना चाहिए॥ १७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

अन्वय— यः १ कर्मणि २ अकर्म ३ पश्येत् ४ यः ५ च ६ अकर्मणि ७ कर्म ८ सः ९ मनुष्येषु १० बुद्धिमान् ११ सः १२ कृत्स्नकर्मकृत् १३ युक्तः १४।

अर्थ—श्रीभगवान् ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जिस कर्म को जानकर तू संसार से मुक्त हो जायगा, वह कर्म तुझसे मैं कहूंगा, सो अब कहते हैं, और ज्ञानी का लक्षण भी निरूपण करते हैं। जो १ कर्म में २ अकर्म ३ देखता है ४ और जो ५। ६ अकर्म में ७ कर्म ८ सि० देखता है * वह ९ मनुष्यों में १० ज्ञानी ११ सि० है, क्योंकि * वह १२ समस्त कर्म करता हुआ १३ सि० भी * युक्त १४ सि० रहता है * अर्थात् समाहित, सावधान रहता है, आत्मा को अकर्ता जानता हुआ समाधि-निष्ठ रहता है।

तात्पर्य—शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण के व्यापार कर्म में आत्मा को कर्म-रहित, अकर्ता, अकर्म, जो जानता है, और जो अकर्म-रूप ब्रह्म में संसार-रूप कर्म को कल्पित मानता है, वही ज्ञानी है, वही समस्त कर्मों का कर्ता है, वही सावधान है। अथवा निष्काम-कर्म में जो अकर्म देखता है, अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा और ज्ञानद्वारा मुक्ति की प्राप्ति जो मानता है और अकर्म में अर्थात् विना ज्ञान कर्म न करने में, जो कर्म को

१ वेदोक्त विधि को कर्म कहते हैं। २ वेदोक्त निषेध को विकर्म कहते हैं। ३ कुछ न करने को अकर्म कहते हैं।

अर्थात् संसार को देखता है, अन्तःकरण शुद्ध न होने से और ब्रह्म-ज्ञान न होने से कर्मों का करना संसार के बन्धन का हेतु जो समझता है, वह मनुष्यों में चतुर है, और समस्त कर्म करता हुआ भी युक्त योगी है। ज्ञानावस्था में, आत्मा को अकर्ता समझने में तो कुछ सन्देह नहीं, परन्तु अज्ञानावस्था में भी आत्मा को अकर्ता समझना योग्य है अर्थात् कर्मों का अनुष्ठान करने के समय भी आत्मा अकर्ता निर्विकार है यह समझना चाहिए। और जब तक ज्ञान न हो तब तक निष्काम असंग होकर आसक्ति-रहित कर्मों का अनुष्ठान करना योग्य है। ज्ञानकाल में, ज्ञानी की दृष्टि में कर्म अकर्म और विकर्म ये सब सम हैं। यह इस मंत्र का अभिप्राय है, और इसी अर्थ को अगले पांच श्लोकों में और दूसरे प्रकार से स्पष्ट निरूपण करेंगे ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

अन्वय—यस्य १ सर्वे २ समारम्भाः ३ कामसंकल्पवर्जिताः ४ तम् ५ बुधाः ६ पण्डितम् ७ आहुः ८ ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम् ९ ।

अर्थ—जिसके १ समस्त २ कर्म ३ काम संकल्प से वर्जित अर्थात् बिना कामना और संकल्प के ४ सि० आभास-मात्र होते हैं अर्थात् ज्ञानी जो कर्म करता है, वह कर्म न कुछ दृढ़ इच्छा से करता है, और न कुछ संकल्प करके, किसी फल भोग की कामना कल्पना से करता है, स्वाभाविक जिसके सब कर्म होते हैं उसको ५ विद्वान् लोग ६ विद्वान् ७ कहते हैं ८ सि० कैसा है वह विद्वान् * ज्ञान-रूप अग्नि से भस्म कर दिए हैं कर्म जिसने ९ अर्थात् ज्ञानी के कर्म भी अकर्म हैं। जिनका प्रारम्भ किया जावे, उनको ही कर्म कहते हैं। इच्छा, और उस इच्छा का कारण संकल्प, इन दोनों से रहित विद्वान् के कर्म हैं, इसीहेतु वे कर्म अकर्म हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंञ्चित् करोति सः ॥ २० ॥

अन्वय—कर्मफलासङ्गम् १ त्यक्त्वा २ नित्यतृप्तः ३ निराश्रयः ४ सः ५ कर्मणि ६ अभिप्रवृत्तः ७ अपि ८ किञ्चित् ९ एव १० न ११ करोति १२ ।

अर्थ—स्वरूप से समस्त कर्मों का त्याग होना असम्भव है। उसमें आसक्ति और फल का त्याग कर देना, यही कर्म-त्याग कहलाता है, और इस प्रकार कर्म करनेवाले त्यागी संन्यासी कहलाते हैं। सोई कहते हैं। कर्मों के फल में आसक्ति को १ त्यागकर २ नित्य-स्वरूप में तृप्त अर्थात् नित्य जो आत्मा है उस नित्य निजानन्द में तृप्त ३ आश्रय-रहित अर्थात् सिवाय आत्मानन्द के और किसी विषय का नहीं है आलम्बन (आश्रय) जिसको ४ वह ५ कर्म में ६ सब तरफ से भले प्रकार प्रवृत्त भी सि० है * अर्थात् दिनरात कर्मों को करता भी है ७ । ८ सि० तो भी वह * कुछ ६ भी १० नहीं ११ करता १२ ।

तात्पर्य —जो लोक-वासना आदि से रहित, शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अंतःकरण से यथायोग्य कर्मों को भी करता है, और आत्मा के साथ उन कर्मों का लेश-मात्र भी संबंध नहीं समझता, वह विद्वान् है, और ऐसे कर्म करनेवाले महात्मा को ज्ञानी कहते हैं ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

अन्वय—निराशीः १ यतचित्तात्मा २ त्यक्तसर्वपरिग्रहः ३ केवलम् ४ शारीरम् ५ कर्म ६ कुर्वन् ७ किल्बिषम् ८ न ६ आप्नोति १० ।

अर्थ—आशा-रहित १ जीत लिया है अन्तःकरण और शरीर को जिसने २ त्याग दिया है सब परिग्रह जिसने ३ सि० सो * केवल ४ शरीर के निर्वाह-मात्र ५ कर्म को ६ करता हुआ ७ पाप को ८ नहीं ६ प्राप्त होता १० ।

तात्पर्य—जिसको इस लोक और परलोक के पदार्थों की कोई आशा नहीं है, जिसने इन्द्रियादि को वश कर लिया है, उसको देह-यात्रा के सिवाय सब व्यर्थ प्रतीत होता है । फटा पुराना वस्त्र और रूखे-सूखे अन्न के बिना तो निर्विक्षेप शरीर का निर्वाह होना कठिन है, अन्न वस्त्र का ग्रहण भी विक्षेप दूर करने के लिये है । क्योंकि जो शीत-काल में शीत निवारण के लिये वस्त्र न हो, वा अन्न न खावे, तो अतिविक्षेप होता है, विचार नहीं हो सकता । देह-

यात्रा-मात्र अन्न वस्त्र से विक्षेप नहीं होता। इसके सिवाय सब परिग्रह कहलाता है। जिसने उसे त्याग दिया है, वह पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट-बुद्धिरहित होकर केवल शरीर का निर्वाह करता हुआ कर्म, अकर्म, विकर्म करके बन्धन को नहीं प्राप्त होता। वेद की विधि का भी तात्पर्य निवृत्ति में है, सो निवृत्ति विद्वान् का बाना है। वेद की विधि निषेध कामियों के वास्ते है, निष्काम पुरुषों पर किसी की विधि निषेध नहीं है ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

अन्वय—यदृच्छालाभसन्तुष्टः १ द्वन्द्वातीतः २ विमत्सरः ३ सिद्धौ ४ असिद्धौ ५ च ६ समः ७ कृत्वा ८ अपि ९ न १० निबध्यते ११।

अर्थ—विना इच्छा, विना संकल्प, विना मांगे जो पदार्थ प्राप्त हो, उसको यदृच्छालाभ कहते हैं। यदृच्छालाभ करके तृप्त १ † द्वन्द्व-रहित २ निर्वैर ३ सि० कर्मों की * सिद्धि और असिद्धि में ४। ५। ६ सम ७ सि० जो है, ऐसा महापुरुष कर्म, अकर्म, विकर्म * करके ८ भी ९ नहीं १० बन्धन को प्राप्त होता है ११ ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

अन्वय—गतसंगस्य १ मुक्तस्य २ ज्ञानावस्थितचेतसः ३ यज्ञाय ४ आचरतः ५ कर्म ६ समग्रम् ७ प्रविलीयते ८।

अर्थ—दूर हो गई है सब पदार्थों से आसक्ति जिसकी अर्थात् न इस लोक के पदार्थों में जिसका मन आसक्त है, और न परलोक के पदार्थों में १ सि० धर्म-अधर्म से * छूटा हुआ २ ब्रह्मज्ञान में ही स्थित है चित्त जिसका ३ परमेश्वरार्थ वा लोकसंग्रह (धर्म की रक्षा) के लिये ४ सि० जो * कर्म करता है उसका ५ कर्म ६ समस्त ७ सि० कर्म, अकर्म, विकर्म ब्रह्म में * लय हो जाता है ८ अर्थात् जिस महात्मा के लिये चार विशेषण हैं उस विद्वान

† हर्ष-विषाद, शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख इत्यादि जोड़ों को द्वन्द्व कहते हैं।

के कर्म विकर्म सब नाश हो जाते हैं। ऐसे महात्मा जीवन्मुक्त हैं॥ २३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

अन्वय—अर्पणम् १ ब्रह्म २ हविः ३ ब्रह्म ४ अग्नौ ५ ब्रह्मणा ६ हुतम् ७ ब्रह्म ८ तेन ९ ब्रह्म १० एव ११ गन्तव्यम् १२ ब्रह्मकर्मसमाधिना १३।

अर्थ—अठारहवें श्लोक में जो ज्ञानी का लक्षण संक्षेप में कहा, और उन्नीस से लेकर तेईसवें श्लोक तक उसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये विस्तारपूर्वक निरूपण किया। जिस कारण ज्ञानी कर्म करता हुआ भी ब्रह्म ही को प्राप्त होता है, सो अब कहते हैं। अर्पण किया जावे जिस करके १ सि० सो स्रुवादि पदार्थ (करण) * ब्रह्म २ सि० ही हैं * घृतादि ३ सि० भी * ब्रह्म ४ सि० ही हैं * अग्नि में ५ ब्रह्म ने अर्थात् कर्ता ने ६ होम ७ सि० जो किया है सो भी * ब्रह्म ८ सि० ही है * अर्थात् क्रिया, कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण यह सब ब्रह्म है, ऐसा जो समझता है, उसको ९ ब्रह्म १० ही ११ प्राप्त होना योग्य है अर्थात् उसको ब्रह्म प्राप्त होगा १२ सि० क्योंकि * ब्रह्म-रूप कर्म में समाधान है चित्त जिसका १३ अर्थात् क्रिया कारक आदि सब पदार्थों को ब्रह्म-रूप जानता है, इस कारण वह ब्रह्म ही को प्राप्त होगा। नरक स्वर्ग आदि (कर्म अकर्म विकर्मों के) फल उसको स्पर्श नहीं करेंगे।

तात्पर्य—करण १ कर्म ३ कर्ता ६ अधिकरण ५ क्रिया ७ अर्पण आदि शब्दों का करण आदि शब्दों से तात्पर्य है। पाठ-क्रम से अर्थ-क्रम बलवान् होता है। कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण आदि को कारक कहते हैं। हवन आदि को क्रिया कहते हैं। क्रिया, करण आदि पदार्थ सब ब्रह्म है, इस ज्ञान से जीव ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ २४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अन्वय—अपरे १ ब्रह्माग्नौ २ यज्ञम् ३ यज्ञेनव ४ उपजुह्वति५ अपरे ६ योगिनः ७ दैवम् ८ यज्ञम् ९ एव १० पर्युपासते ११।

अर्थ—सर्वत्र ब्रह्मदर्शन को यज्ञ का रूपक बांधकर यज्ञ-रूप वर्णन किया। अब इस ज्ञान-यज्ञ की स्तुति करने के लिये, और ज्ञान-यज्ञ की महिमा प्रसिद्ध करने के लिये, ज्ञान-यज्ञ के सहित बारह यज्ञ का वर्णन करते हैं अर्थात् ग्यारह यज्ञ के सिवाय ज्ञान-यज्ञ का जो वर्णन करेंगे वह ज्ञान-यज्ञ की प्राप्ति का उपाय है। ज्ञान-यज्ञ उपेय है। साक्षात् मोक्ष के देने में ज्ञान-यज्ञ ही समर्थ है। कोई प्रथम कहते हैं। इस मंत्र में दो यज्ञों का निरूपण है। पाठ-क्रम से अर्थ-क्रम बलवान् होता है, इस हेतु प्रथम ज्ञान-यज्ञ का अर्थ लिखते हैं। ब्रह्म-ज्ञानी महात्मा १ ब्रह्म-रूप अग्नि में २ आत्मा को ३ ब्रह्म-यज्ञ करके अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान करके ४ हवन करते हैं ५ अर्थात् आत्मा को शुद्ध, सच्चिदानन्द, पूर्ण, निर्विकार ब्रह्म जो समझते हैं , वे ज्ञानी हैं। उनके लिये ज्ञान-यज्ञ का वर्णन करते हैं। एक ज्ञान-यज्ञ तो निरूपण हो चुका, अब दूसरा यज्ञ निरूपण करते हैं। कोई ६ योगी अर्थात् कोई कर्म-योगी ७ दैव ८ यज्ञ की ९ ही १० उपासना करते हैं ११।

तात्पर्य—जिस यज्ञ में, साकार रामादि देवताओं का आराधन किया जाता है उसको दैव-यज्ञ कहते हैं, साकार देवताओं की उपासना का नाम दैव-यज्ञ है। 'एव' शब्द का यह तात्पर्य है कि भेदवादी रामादि देवताओं को वास्तव में मूर्तिमान् देवता समझते हैं। नित्य, निराकार, निर्विकार नहीं समझते हैं। नहीं तो ज्ञानी और उपासकों में भेद क्या हुआ, और ज्ञान-यज्ञ से दैव-यज्ञ को पृथक् क्यों निरूपण करते? श्रीमहाराज रामादि देवताओं को ज्ञानी, नित्य, निराकार जानते हैं। उपासक उनको वास्तव में मूर्तिमान् समझते हैं। मूर्तियों को कल्पित, मायिक नहीं समझते, यही भेद उपासक और ज्ञानियों में है॥ २५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्वय—अन्ये १ श्रोत्रादीन् २ इन्द्रियाणि ३ संयमाग्निषु ४ जुह्वति ५ अन्ये ६ शब्दादीन् ७ विषयान् ८ इन्द्रियाग्निषु ९ जुह्वति १०।

अर्थ—इस मंत्र में दो यज्ञ निरूपण करेंगे। तीसरा यज्ञ कहते हैं। और कोई १ श्रोत्र आदि इन्द्रियों को २। ३ संयम-रूप अग्नि में ४ हवन करते हैं ५ इन्द्रियों का संयम करना, यही यज्ञ है। कोई यही यज्ञ करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से निरोध करते हैं। चौथा यज्ञ यह है, जो अब कहते हैं। कोई ६ शब्द आदि ७ विषयों का ८ इन्द्रिय-रूप अग्नि में ९ हवन करते हैं १०।

तात्पर्य—वेदोक्त विषयों का भोगना भी यज्ञ है, जैसे शास्त्र में भोजन आदि का निरूपण किया गया है, नियम करके जो उसी प्रकार वर्तते हैं, वह भी यज्ञ है। इसका भी तात्पर्य इन्द्रियों के दमन में ही है ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

अन्वय—अपरे १ सर्वाणि २ इन्द्रियकर्माणि ३ प्राणकर्माणि ४ च ५ आत्मसंयमयोगाग्नौ ६ जुह्वति ७ ज्ञानदीपिते ८।

अर्थ—पांचवां यज्ञ इस श्लोक में निरूपण करेंगे। और कोई १ सब इन्द्रियों के कर्मों को २। ३ और प्राण अपान आदि के कर्मों को ४। ५ आत्मसंयमयोगाग्नि में ६ हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रिय और प्राण आदि की गति का जो आत्मा में संयम (निरोध या उपराम) करना है, यही हवि योग-रूप अग्नि में उपराम (शान्त) करते हैं अर्थात् आत्म-ध्यान में स्थिर होकर प्राण आदि की गति का निरोध करते हैं ७ सि० कैसी है वह आत्मसंयमयोगाग्नि * ज्ञान करके प्रज्वलित है ८।

तात्पर्य—इन्द्रियों की वृत्तियों को रोककर, और कर्मेन्द्रियों और प्राण अपान आदि के कर्मों को रोककर, आत्म-स्वरूप (सच्चिदानन्द) में जो तत्पर होना है, यह भी एक यज्ञ है। इन्द्रिय और प्राण आदि के कर्म आनन्दामृतवर्षिणी के द्वितीय अध्याय में लिखे हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

अन्वय—द्रव्ययज्ञाः १ तपोयज्ञाः २ योगयज्ञाः ३ तथा ४ अपरे ५ स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः ६ च ७ यतयः ८ संशितव्रताः ९।

अर्थ—पांच यज्ञ इस मंत्र में कहेंगे। सि० तीर्थ-यात्रा, साधु-सेवा आदि शुभ कर्मों में द्रव्य-व्यय (खर्च) करना यही * द्रव्य यज्ञ है जिनका १ सि० यह छठा यज्ञ हुआ। व्रत, नियम, मौन आदि को तप कहते हैं * तप यज्ञ है जिनका २ सि० यह सातवां यज्ञ हुआ * अष्टांग योग यज्ञ है जिनका ३ सि० यह आठवां यज्ञ हुआ * और वैसे ही ४। ५ सि० कोई ऐसे हैं कि * स्वाध्याय और ज्ञान ये यज्ञ हैं जिनके अर्थात् स्वाध्याय यज्ञ है जिनका कोई ऐसे हैं, और ज्ञान यज्ञ है जिनका कोई ऐसे हैं ६ सि० वेद-शास्त्रों का पढ़ना, पाठ करना, इसको स्वाध्याय कहते हैं, यह एक नवां यज्ञ है और वेद-शास्त्र के अर्थ समझने को भी ज्ञान-यज्ञ कहते हैं, यह दशवां यज्ञ हुआ * और ७ सि० प्रथम यज्ञ का नाम भी ज्ञान-यज्ञ है उसका तात्पर्य ब्रह्म-ज्ञान से है। कैसे हैं यह यज्ञ के करनेवाले * यत्नशीलवाले ८ सि० हैं * अर्थात् यज्ञ करने में प्रयत्न करनेवाले हैं। तीक्ष्ण व्रत हैं जिनके अर्थात् जैसे तलवार की धार पर चलना बड़ा तीक्ष्ण काम है, वैसे ही इन यज्ञों का अनुष्ठान करना है ९ ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अन्वय—तथा १ अपरे २ अपाने ३ प्राणम् ४ प्राणे ५ अपानम् ६ जुह्वति ७ प्राणापानगती ८ रुद्ध्वा ९ प्राणायामपरायणाः १०।

अर्थ—ग्यारहवां यज्ञ इस मंत्र में निरूपण करते हैं। और कोई १। २ अपान में ३ प्राण को ४ सि० और * प्राण में ५ अपान को ६ हवन करते हैं, वा लय करते हैं अर्थात् मिलाते हैं, प्राण और अपान की गति को एक करते हैं ७ प्राण और अपान की गति को ८ निरोध करके ९ प्राणायाम में परायण १०

सि० हैं, यह भी एक यज्ञ है अर्थात् प्राणों का जो निरोध है यही परम आश्रय है जिनको, ऐसे कोई हैं। प्राण की गति रोकने से मन उसके साथ ही रुकता है, इसवास्ते प्राणायाम में तत्पर रहते हैं * ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अन्वय—अपरे १ नियताहाराः २ प्राणान् ३ प्राणेषु ४ जुह्वति ५ एते ६ सर्वे ७ अपि ८ यज्ञविदः ९ यज्ञक्षयितकल्मषाः १० ।

अर्थ—आधे मंत्र में बारहवां यज्ञ निरूपण करते हैं। फिर आधे मंत्र में सब यज्ञ करनेवालों का माहात्म्य कहते हैं। और कोई १ नियताहारी अर्थात् थोड़ा भोजन करनेवाले २ प्राणों को ३ प्राणों में ४ सि० ही * लय करते हैं अर्थात् भोजन का संकोच करने से प्राण की गति भी संकुचित हो जाती है, और प्राण की गति कम होने से मन की गति का निरोध होता है। यज्ञ समझकर कोई आहार करने में संकोच करते हैं, यह बारहवां यज्ञ है ५ ये ६ सब ७ ही ८ सि० बारह * यज्ञों के जाननेवाले अर्थात् यज्ञों के करनेवाले ९ यज्ञों करके नाश कर दिया है पाप जिन्होंने १० ।

तात्पर्य—वे सब सनातन-ब्रह्म को प्राप्त होंगे। अगले मंत्र के साथ इस आधे मंत्र का अन्वय है। ब्रह्म-ज्ञानी साक्षात् प्राप्त होंगे, और कर्मकांडी (उपासक योगी) ब्रह्म-ज्ञान द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होंगे ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

अन्वय—यज्ञशिष्टामृतभुजः १ सनातनम् २ ब्रह्म ३ यान्ति ४ कुरुसत्तम ५ अयज्ञस्य ६ अयम् ७ लोकः ८ न ९ अस्ति १० अन्यः ११ कुतः १२ ।

अर्थ—आधे मंत्र में यज्ञ करनेवालों का माहात्म्य कहते हैं, और आधे मंत्र में जो बारह यज्ञों में से एक भी यज्ञ नहीं करते

हैं, उनकी श्रीमहाराज निन्दा करते हैं अर्थात् जो अयज्ञों को फल होगा सो कहते हैं। यज्ञशिष्टामृत का भोजन करनेवाले १ सनातन २ ब्रह्म को ३ प्राप्त होते हैं ४ हे अर्जुन! ५ यज्ञ न करने-वाले को अर्थात् जो यज्ञ नहीं करता है उसको ६ यह ७ लोक ८ सि० भी * नहीं ९ है १० सि० तो फिर * परलोक ११ कहां से १२ सि० होगा *

तात्पर्य—जो एक भी यज्ञ नहीं करता है उसको जब इस लोक में ही सुख नहीं, तो परलोक में कैसे हो सकता है? न उसको इस लोक में सुख है, और न परलोक में सुख मिलेगा, वह पशुवत् संसार में उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

अन्वय—एवम् १ ब्रह्मणः २ मुखे ३ बहुविधाः ४ यज्ञाः ५ वितताः ६ तान् ७ सर्वान् ८ कर्मजान् ९ विद्धि १० एवम् ११ ज्ञात्वा १२ विमोक्ष्यसे १३ ।

अर्थ—जिस प्रकार बारह यज्ञ पीछे कहे गए हैं, इसी प्रकार १ वेद के २ मुख में ३ सि० अर्थात् वेदों में * बहुत प्रकार के ४ यज्ञ ५ विस्तार अर्थात् बहुत प्रकार के यज्ञों का वेदों में विस्तार है ६ उन सबको ७ । ८ अर्थात् उक्त अनुक्तों को शरीर, मन, वाणी के ८ कर्मों से उत्पन्न हुआ ९ जानो १० अर्थात् आत्म-स्वरूप से स्पर्श-रहित जानो। इस प्रकार ११ सि० आत्मा को * जानकर १२ सि० ज्ञान-निष्ठ होकर संसार से * छूट जाओगे १३ अर्थात् परमानन्द-स्वरूप मुक्ति को प्राप्त होगे।

तात्पर्य—ये सब यज्ञ कायिक, वाचिक, मानसिक हैं। आत्मा इनका विषय भी नहीं है ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अन्वय—परन्तप १ द्रव्यमयात् २ यज्ञात् ३ ज्ञानयज्ञः ४ श्रेयान् ५ पार्थ ६ सर्वम् ७ कर्म ८ अखिलम् ९ ज्ञाने १० परिसमाप्यते ११ ।

अर्थ--सब यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है अर्थात् कर्म, भक्ति, उपासना और योग आदि से ब्रह्म-ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि साक्षात् मुक्ति का हेतु है, सोई कहते हैं । हे अर्जुन ! १ दैव-यज्ञ आदि से २ । ३ ज्ञान-यज्ञ ४ श्रेष्ठ ५ ।मि० है, जो सब यज्ञों से प्रथम निरूपण किया है, क्योंकि * हे अर्जुन ! ६ सब कर्म ७ । ८ सम्पूर्ण ९ ब्रह्म-ज्ञान में १० समाप्त होते हैं ११ अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान में ही दुःख-रूप कर्मों का नाश होता है, और कोई उपाय कर्मों की जड़ का नाश करनेवाला नहीं है ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

अन्वय—तत् १ विद्धि २ प्रणिपातेन ३ परिप्रश्नेन ४ सेवया ५ ज्ञानिनः ६ तत्त्वदर्शिनः ७ ते ८ ज्ञानम् ९ उपदेक्ष्यन्ति १० ।

अर्थ—ज्ञान प्राप्त होने के मुख्य साधन कहते हैं । ब्रह्म-ज्ञान प्राप्ति का मार्ग यही है, जो श्रीभगवान् इस श्लोक में कहते हैं । ब्रह्म-ज्ञान साक्षात् मुक्ति का हेतु है, और सब कर्म, उपासना योग आदि से श्रेष्ठ है । उसको १ [तू] जान अर्थात् उस ब्रह्म को प्राप्त हो, जो तू परमानन्द की इच्छा रखता है २ मि० उस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का उपाय यह है कि ज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ पुरुषों से प्राप्त हो सकता है । जो त्रिकांड वेदों के तात्पर्य को जानते हैं, और जिनको ब्रह्म भी साक्षात् (अनुभव-अपरोक्ष) प्रत्यक्ष है, उनको श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ कहते हैं । जो ऐसे पंडित, विरक्त, संन्यासी, परमहंस हैं, वे ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश कर सकते हैं, और जो केवल श्रोत्रिय, शास्त्रार्थ के जाननेवाले हैं, ब्रह्म-निष्ठ नहीं, ब्रह्म-ज्ञान-रहित हैं, वे ब्रह्म-ज्ञान का अनुभवसहित उपदेश नहीं कर सकते । साक्षात् ब्रह्म को अपरोक्ष नहीं बना सकते । और जो केवल ब्रह्म-निष्ठ ही हैं, शास्त्र नहीं पढ़े हैं, वे दृष्टान्तयुक्ति, अनुमान और शंका-समाधानपूर्वक उपदेश नहीं कर सकते । इस हेतु ब्रह्म-तत्त्व का उपदेश करने के योग्य, अर्थात् ब्रह्मतत्त्वोपदेश करने में समर्थ, श्रोत्रिय ब्रह्म-

निष्ठ ही हैं अर्थात् श्रोत्रिय भी हों और ब्रह्म-निष्ठ भी हों। श्रीभगवान् कहते हैं कि ऐसे ब्रह्म-निष्ठों के पास जाकर प्रथम उनको * दंडवत् नमस्कार करके ३ सि० और फिर * प्रश्न करके ४ सि० बहुत काल * सेवा करके ५ सि० ज्ञान सीख, अर्थात् प्रथम साधु-महात्मा के पास जाकर उनको आदर के सहित प्रणाम कर, फिर उनसे यह प्रश्न कर कि हे भगवन्! मुझको कृपा करके ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश कीजिये, और बहुत दिनों तक तन, धन, मन और वाणी से उनकी सेवा कर, तब * ज्ञानी ६ तत्त्वदर्शी अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ ७ तुझको ८ ज्ञान ९ उपदेश करेंगे १०।

तात्पर्य—यह तीनों साधन अवश्य होना चाहिए। इनमें से यदि एक साधन भी कम होगा, तो ज्ञान का प्राप्त होना कठिन है। प्रथम तो साधन-रहित पुरुष को महात्मा उपदेश ही न करेंगे, और जो वे दया करके साधन-रहित को उपदेश भी कर देंगे, तो उसको कभी बोध न होगा। क्योंकि यह बात स्पष्ट प्रसिद्ध है कि लोग बहुत वर्षों तक वेदान्त-शास्त्र पढ़ते-सुनते हैं, और ब्रह्म-वार्ता में बहुत चतुर हो जाते हैं, परन्तु छोकरे लुगाई और कुपात्र धनवालों के दास ही बने रहते हैं। उनमें ही ममता रखते हैं। केवल नमस्कार-मात्र करने से, विना प्रश्न और सेवा के, महात्मा उपदेश नहीं करेंगे, क्योंकि दंडवत् सब कर सकते हैं। प्रश्न करने से जिज्ञासु का तात्पर्य प्रतीत होता है। न जाने कैसा अधिकारी है। इसके सिवाय धर्म-शास्त्र में निषेध है। और बहुत लोग ब्रह्म-वार्ता में जो कुशल होते हैं, वे प्रश्न भी भले-भले किया करते हैं, परन्तु महात्मा विना चिरकाल सेवा के उपदेश नहीं करते, क्योंकि मंत्र का उपदेश करना, विना एक वर्ष परीक्षा किए निषेध है। और यह तो साक्षात् ब्रह्म-विद्या है, इसवास्ते चिरकाल सेवा करने, और दंडवत्-नमस्कार करने से ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

अन्वय—पाण्डव १ यत् २ ज्ञात्वा ३ एवम् ४ पुनः ५ मोहम् ६ न ७ यास्यसि ८ येन ९ अशेषेण १० भूतानि ११ आत्मनि १२ द्रक्ष्यसि १३ अथो १४ मयि १५।

अर्थ—चार श्लोकों में ज्ञान का फल और महिमा कहते हैं। हे अर्जुन! १ जिसको २ जानकर अर्थात् ज्ञान को प्राप्त होकर ३ इस प्रकार ४ फिर ५ मोह को ६ नहीं ७ प्राप्त होगा ८ सि० जैसा अब मोह तुझको प्राप्त हो रहा है और * जिस करके अर्थात् उसी ज्ञान करके ९ समस्त १० भूतों को ११ सि० ब्रह्माजी से लेकर चींटी पर्यन्त * आत्मा में १२ देखेगा अर्थात् यह समझेगा कि यह समस्त संसार मुझ सच्चिदानन्द में ही नामरूप करके कल्पित है १३ उसके पीछे १४ मुझ शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप में १५ सि० आत्मा की एकता तू जानेगा अर्थात् आत्मा को नित्य, निर्विकार, शुद्ध, सच्चिदानन्द जानेगा। केवल आत्मा ही से बुद्धि आदि से नहीं, क्योंकि शुद्ध बुद्धि में जड़ बुद्धि की गति नहीं है * ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अन्वय—चेत् १ सर्वेभ्यः २ पापेभ्यः ३ अपि ४ पापकृत्तमः ५ असि ६ ज्ञानप्लवेन ७ एव ८ सर्वं ९ वृजिनम् १० संतरिष्यसि ११।

अर्थ—जो [तू] १ सब पापियों से २। ३ भी ४ बड़ा पाप करनेवाला ५ है ६ सि० तो भी * ज्ञान-रूप जहाज से ७ निश्चय ८ सब ९ पाप-रूप समुद्र को १० तर जायगा ११।

तात्पर्य—यह संसार, समुद्रवत् अथाह पाप-रूप है। इससे पार हो जायगा अर्थात् ज्ञान से तेरे सब पाप नाश हो जायँगे ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३६ ॥

अन्वय—यथा १ एधांसि २ समिद्धः ३ अग्निः ४ भस्मसात् ५ कुरुते ६ अर्जुन ७ तथा ८ ज्ञानाग्निः ९ सर्वकर्माणि १० भस्मसात् ११ कुरुते १२।

अर्थ—जैसे १ सि० सूखी * लकड़ियों को २ प्रज्वलित ३ अग्नि ४ राख कर देती है ५। ६ हे अर्जुन! ७ वैसे ही ८

ज्ञान-रूप अग्नि ९ सब कर्मों को १० नाश ११ कर देती है १२ ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

अन्वय—इह १ ज्ञानेन २ सदृशम् ३ पवित्रम् ४ हि ५ न ६ विद्यते ७ तत् ८ योगसंसिद्धः ९ कालेन १० आत्मनि ११ स्वयम् १२ विन्दति १३ ।

अर्थ—कर्म, भेद-भक्ति, योग आदि साधनों के बीच में अर्थात् मोक्ष-मार्ग में १ ब्रह्म-ज्ञान के सदृश २ । ३ सि० दूसरा कोई मोक्ष का साधन * पवित्र ४ ही ५ नहीं ६ है ७ साधन * उस ब्रह्म-ज्ञान को ८ समाधि योग करके सिद्ध हुआ ९ काल करके १० आत्मा के विषय ११ अपने आप १२ प्राप्त हो जाता है १३ ।

तात्पर्य—आत्मा का ध्यान करते-करते साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान थोड़े ही काल में अपने आप प्राप्त हो जाता है, इस वास्ते सदा आत्मा का ध्यान करना चाहिए ॥ ३८ ॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

अन्वय—श्रद्धावान् १ तत्परः २ संयतेन्द्रियः ३ ज्ञानम् ४ लभते ५ ज्ञानम् ६ लब्ध्वा ७ पराम् ८ शान्तिम् ९ अचिरेण १० अधिगच्छति ११ ।

अर्थ—ज्ञान की प्राप्ति के बहिरंग साधन चौंतीसवें मंत्र में नमस्कार, प्रश्न और सेवा ये तीन कहे गए । इन तीनों को तो मायावी भी कर सकता है, यह शंका करके इस मंत्र में ज्ञान के तीन अंतरंग साधन कहते हैं । ये साधन जिसमें होंगे वह अवश्य ही निःसन्देह ज्ञान को प्राप्त होकर मुक्त होगा । श्रद्धावाला १ सि० ब्रह्म-ज्ञान में * तत्पर (परायण) २ भले प्रकार जीती हैं इन्द्रियां जिसने ३ सि० सो इन तीन साधनों से संपन्न * ज्ञान को ४ सि० अवश्य ही * प्राप्त होता है ५ ज्ञान

को ६ प्राप्त होकर ७ परम शान्ति को ८ । ९ जल्दी १० प्राप्त होता है ११ ।

तात्पर्य—ये तीनों साधन परस्पर सापेक्ष हैं। तीनों ही से ज्ञान होता है। एक साधन से वा दो साधनों से निर्बलता रह जाती है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अन्वय—अज्ञः १ च २ अश्रद्दधानः ३ च ४ संशयात्मा ५ विनश्यति ६ संशयात्मनः ७ न ८ अयम् ९ लोकः १० न ११ परः १२ न १३ सुखम् १४ अस्ति १५ ।

अर्थ—वेदों के महावाक्य सुनकर, और ब्रह्म-विद्या वेदान्त-शास्त्र को भी सुनकर जिसको यह संशय है कि मैं पूर्णब्रह्म, शुद्धसच्चिदानन्द हूं, वा नहीं, उसको न इस लोक में सुख होगा, न परलोक में। क्योंकि जिसको स्वयं प्रकाश आत्मा में संशय है, उसको परोक्ष वाक्यों में कैसे विश्वास होगा। इस हेतु वह संशयात्मा सदा दुःखी रहेगा। यद्यपि मन्द-बुद्धि और श्रद्धा-रहित पुरुषों को भी ज्ञान नहीं होता, परंतु वहां यह आशा रहती है कि कभी न कभी मन्द-बुद्धि बुद्धिमान् हो जायगा और श्रद्धा-रहित श्रद्धावान् हो जायगा, केवल संशयात्मा ही भ्रष्ट होगा। मंद-बुद्धि, श्रद्धा-रहित और संशयात्मा ये तीनों ज्ञान के अनधिकारी हैं, और इन तीनों में भी संशयात्मा सबसे निकम्मा है। सोई श्रीभगवान् इस मंत्र में कहते हैं। मन्द-बुद्धि १ और २ श्रद्धा-रहित ३ और ४ संशयात्मा ५ नष्ट हो जाता है अर्थात् आनन्द से भ्रष्ट हो जाता है। ये तीनों ब्रह्मानन्द के लिये मुरदे के बराबर हैं और इन तीनों में से संशयात्मा तो अवश्य ही भ्रष्ट होता है ६ संशयात्मा को ७ न ८ यह ९ लोक १० न ११ परलोक १२ न १३ सुख १४ है १५ ।

तात्पर्य—जो पुरुष अज्ञ होता है, उसका गुरु और शास्त्र में विश्वास होता है। काल पाकर सुधर सकता है। और अज्ञ हो, और श्रद्धा-रहित भी हो, वह भी किसी काल में श्रद्धावान् और बुद्धिमान् होकर सुधर जाता है। और

जो जान बूझकर तर्क करता है, अपने विपर्यय-पक्ष में दुराग्रह करता है; उस तर्क-वादी दुराग्रही को कभी सुख न होगा। जब कि संशयात्मा, कुतर्की, दुराग्रही इनको इसी लोक में सुख नहीं, तो परलोक का सुख कैसे होगा। उसमें सदा तर्क, दुराग्रह और संशय बना ही रहेगा। महात्मा को कभी ऐसे दुष्टों को ज्ञान की एक बात भी सुनाना न चाहिए क्योंकि वह कुछ न कुछ उसमें झूठा कुतर्क करेगा। संशयात्मा उसको भी कहते हैं, जिसको यह संशय है कि मैं कर्मों का अनुष्ठान करूं वा न करूं, अकर्म ज्ञान में निष्ठा करूं, वा न करूं। 'संशयात्मा' इस पद का अक्षरार्थ यह है कि संशय है अन्तःकरण में जिसके, सो संशयात्मा वह संशय दो प्रकार का है—प्रमाण-गत और प्रमेय-गत, सो ऊपर लिखा गया है। श्रीमहाराज के उपदेश में जो संशय करेगा उसका नाश हो जायगा, यह भगवान् का शाप है निःसंदेह आत्मा को शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप जानना चाहिए ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

अन्वय—धनंजय १ योगसंन्यस्तकर्माणम् २ ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ३ आत्मवन्तम् ४ कर्माणि ५ न ६ निबध्नन्ति ७ ।

अर्थ—इस अध्याय में पहिले जो अर्थ विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है, उसीको समस्त अध्याय का तात्पर्यार्थ समझने के लिये इस मंत्र में संक्षेप से कहते हैं। हे अर्जुन ! १ ज्ञान-योग से संन्यस्त किए हैं कर्म जिसने २ सि० और * ब्रह्म-ज्ञान से छेदन किए हैं संशय जिसने ३ सि० ऐसे * अप्रमत्त आत्म-निष्ठ को ४ कर्म ५ नहीं ६ बन्धन करते हैं ७ ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

अन्वय—भारत १ तस्मात् २ अज्ञानसंभूतम् ३ हृत्स्थम् ४ आत्मनः ५ एनम् ६ संशयम् ७ ज्ञानासिना ८ छित्त्वा ९ योगम् १० आतिष्ठ ११ उत्तिष्ठ १२ ।

अर्थ—जब संशयात्मा को न इस लोक में सुख होता है, न परलोक में, हे अर्जुन ! १ इस कारण २ अज्ञान से उत्पन्न ३ अन्तः-

करण में स्थित ४ सि० जो यह संशय है कि मैं युद्ध करूं वा न करूं, और मैं सदा निर्विकार हूं वा नहीं ※ अपने ५ इस ६ संशय को ७ ब्रह्म-ज्ञान-रूप तलवार से ८ छेदन करके ९ कर्मयोग का १० अनुष्ठान कर ११ खड़ा हो १२ सि० युद्ध करने के लिये ※ ।

तात्पर्य—आत्मा को शुद्ध, सच्चिदानन्द, नित्य, निर्विकार, पूर्णब्रह्म समझकर युद्ध कर ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अन्वय—कृष्ण १ कर्मणाम् २ संन्यासम् ३ पुनः ४ योगम् ५ च ६ शंससि ७ एतयोः ८ एकम् ९ यत् १० सुनिश्चितम् ११ श्रेयः १२ तत् १३ मे १४ ब्रूहि १५ ।

अर्थ—चतुर्थ अध्याय में अर्जुन को समुच्चय प्रतीत हुआ, इसवास्ते प्रश्न करता है, हे कृष्णचन्द्र ! १ कर्मों का २ त्याग ३ सि० भी आप कहते हो और ※ फिर ४ योग ५ भी ६ आप कहते हो ७ सि० इन दोनों के स्वरूप दिनरात्रिवत् विरुद्ध हैं । एक पुरुष से एक समय में इन दोनों का अनुष्ठान कैसे हो सकता है ※ इन दोनों में ८ एक ९ जो १० भले प्रकार निश्चय किया हुआ ११ श्रेष्ठ है १२ सो १३ मुझसे १४ कहो १५ ।

तात्पर्य—कर्म-योग और कर्म-संन्यास इन दोनों में से मेरे वास्ते क्या श्रेष्ठ है । यह तो मैं तृतीय अध्याय में समझ गया हूं कि अधिकारी के लिये दोनों श्रेष्ठ हैं किन्तु मैं किस निष्ठा का अधिकारी हूं, यह जानना चाहता हूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—संन्यासः १ कर्मयोगः २ च ३ उभौ ४ निःश्रेयसकरौ ५ तयोः ६ तु ७ कर्मसंन्यासात् ८ कर्मयोगः ९ विशिष्यते १० ।

अर्थ—श्रीभगवान् कहते हैं कि पीछे जो हमने कर्मों का अनुष्ठान करना, और त्याग करना कहा है, उनमें कुछ विरोध नहीं है। क्योंकि सम-समुच्चय मैंने नहीं कहा, अधिकारी के लिये कर्म-समुच्चय कहा है। शोक-मोह-रहित ज्ञान-निष्ठावाले पुरुषों को तो ज्ञान-निष्ठा परिपाक होने के लिये कर्मों का त्याग करना श्रेष्ठ है; और तमोगुणी वा रजोगुणी पुरुषों को ज्ञान-निष्ठा की प्राप्ति के लिये कर्मों का अनुष्ठान करना श्रेष्ठ है सि० इस प्रकार कर्मों का *त्याग १ और कर्म-योग २। ३ सि० ये क्रम से दोनों ४ मोक्ष को प्राप्त करानेवाले हैं ५ सि० यथायोग्य अधिकारियों को, और तू जो यह पूछता है कि इन दोनों में से मेरे वास्ते क्या श्रेष्ठ है, सो सुन। तुझको * उन दोनों के ६ सि० बीच में * तो अर्थात् कर्म-योग और कर्म-संन्यास इन दोनों के बीच में ६। ७ कर्म-संन्यास से ८ कर्म-योग ९ विशेष है१० अर्थात् क्षत्रियों का धर्म जो युद्ध करना है, अभी उसका अनुष्ठान करना ही तुझको श्रेष्ठ है। कदाचित् इस मंत्र का कोई यह अर्थ करे कि कर्म-संन्यास से कर्म-योग सबके वास्ते विशेष है, तो इस अर्थ में वदतो व्याघात दोष आता है। क्योंकि श्रीभगवान् ने पीछे बारं-बार कर्म-संन्यासपूर्वक ज्ञान-निष्ठा की प्रशंसा की है और आगे भी करेंगे। जिसकी प्रथम आप स्तुति करें, फिर उसीको आप निकृष्ट बतावें, इसी को वदतो व्याघात दोष कहते हैं अर्थात् अपने कहे हुए को आप ही खंडन करना, यह बड़ा दोष है "श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप"। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इत्यादि ऐसे वाक्य और भी बहुत हैं। इस जगह श्रीभगवान् का यही तात्पर्य है कि रजोगुणी और तमोगुणी पुरुषों के वास्ते कर्मों का अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि तमोगुणी और रजोगुणी पुरुषों के कर्मों का अनुष्ठान करना अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु है। और सत्त्वगुणी पुरुषों के

लिये कर्मों का त्याग करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उनको अब कर्मों का अनुष्ठान करना विक्षेप का हेतु और ज्ञान-निष्ठा के परिपाक होने में प्रतिबंध है । और दोनों का अनुष्ठान एक काल में एक पुरुष से नहीं हो सकता । कर्म-निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा का स्वरूप दिनरात्रिवत् विरुद्ध है । प्रथम अन्तःकरण की शुद्धि के लिये तुझको कर्म-योग विशेष है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—यः १ न २ द्वेष्टि ३ न ४ कांक्षति ५ सः ६ नित्यसंन्यासी ७ ज्ञेयः ८ महाबाहो ९ निर्द्वन्द्वः १० हि ११ सुखम् १२ बन्धात् १३ प्रमुच्यते १४ ।

अर्थ—राग-द्वेष-रहित निष्काम जो कर्मों का अनुष्ठान करता है उसको नित्य संन्यासी समझना चाहिये, इस प्रकार श्रीभगवान् अब कर्म-योग की स्तुति करते हैं । मि० प्रतिकूल पदार्थों में * जो १ नहीं २ द्वेष करता है ३ सि० और अनुकूल पदार्थों की * नहीं ४ इच्छा करता है ५ सो ६ सि० कर्म योगी * नित्यसंन्यासी ७ सि० निष्काम कर्म-योगी * जानने योग्य है ८ हे अर्जुन ! ९ द्वन्द्व-रहित १० ही ११ सुखपूर्वक १२ बन्धन से १३ छूटता है १४ ।

तात्पर्य—राग-द्वेष आदि द्वन्द्व-रहित होकर तू कर्मों का अनुष्ठान कर ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

अन्वय—सांख्ययोगौ १ पृथक् २ बालाः ३ प्रवदन्ति ४ पंडिताः ५ न ६ सम्यक् ७ एकम् ८ अपि ९ आस्थितः १० उभयोः ११ फलम् १२ विन्दते १३ ।

अर्थ—अवस्था भेद से कर्म-योग और ज्ञान-योग इन दोनों का क्रम-समुच्चय है । अर्थात् प्रथम निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए और फिर अन्तःकरण शुद्ध होने पर कर्मों को त्याग देना चाहिए, यही सिद्धान्त सब शास्त्र और महात्मा

पुरुषों का है। और जो प्रश्न करता है कि इन दोनों में एक स्वतंत्र मुक्ति का देनेवाला बताओ, यह प्रश्न कम समझवालों का है। कर्म-योग और ज्ञान-योग इन दोनों का तात्पर्य एक परमानन्द में ही है, इसहेतु इन दोनों को फल में पृथक् न समझना चाहिए। सोई कहते हैं। ज्ञान-योग और कर्म-योग को १ पृथक् २ सि० एक स्वतंत्र निरपेक्ष मोक्ष का देनेवाला * कम समझवाले ३ कहते हैं ४ सि० पूर्वापर शास्त्र का तात्पर्य समझे हुए * विद्वान् ५ नहीं ६ सि० पृथक्, स्वतंत्र कहते। क्योंकि * भले प्रकार ७ एक का ८ भी ९ आश्रय किया हुआ अर्थात् सांगोपांग एक का भी अनुष्ठान किया हुआ १० दोनों के ११ फल को १२ प्राप्त करता है १३ अर्थात् दोनों का फल परमानन्द है वह दोनों को प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य—जो कर्मों का अनुष्ठान निष्काम करेगा, उसका अवश्य ही अन्तःकरण शुद्ध होकर, उसको ज्ञान प्राप्त होगा। और उसके पीछे मोक्ष परमानन्द की प्राप्ति होगी, यही दोनों का फल है। और ज्ञान का अनुष्ठान जो भले प्रकार करेगा; निःसन्देह पहिले उसने इस जन्म में वा जन्मांतर में कर्म-योग करके अन्तःकरण शुद्ध कर लिया है। उसको भी मोक्ष परमानन्द की प्राप्ति होगी, यही दोनों का फल है। ज्ञान-योग साक्षात् सच्चिदानन्द को प्राप्त कराता है, और कर्म-योग अन्तःकरण शुद्ध करके ज्ञानद्वारा सच्चिदानन्द को प्राप्त कराता है। इस प्रकार ये दोनों फल में एक हैं, केवल स्वरूप में भेद है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अन्वय—सांख्यैः १ यत् २ स्थानम् ३ प्राप्यते ४ तत् ५ अपि ६ योगैः ७ गम्यते ८ सांख्यम् ९ च १० योगम् ११ च १२ एकम् १३ यः १४ पश्यति १५ सः १६ पश्यति १७।

अर्थ—पिछले मंत्र में जो कहा गया है उसी को फिर भले प्रकार स्पष्ट करते हैं। ज्ञानी १ जिस स्थान को २। ३ सि० साक्षात् अर्थात् व्यवधान-रहित * प्राप्त होते हैं ४ उसको ५ ही ६ कर्म-योगी ७ सि० ज्ञान द्वारा * प्राप्त होते हैं ८ ज्ञान-योग

को ९ और १० कर्म-योग को भी ११। १२ सि० फल में * एक १३ जो १४ देखता है १५ सो १६ सि० शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को * देखता है १७।

तात्पर्य—जो यह समझता है कि दोनों का फल एक (अद्वैत, शुद्ध, सच्चिदानन्द-स्वरूप, पूर्णब्रह्म, आत्मा) है, वह महात्मा यथार्थ आत्मा को और परमात्मा को जानता है। जैसे दो पुरुष जगन्नाथजी को जाते हैं, उनमें से एक काशीजी में है और दूसरा प्रयागराज में है। कहनेवाले दोनों को यही कहते हैं कि ये दोनों जगन्नाथजी को जाते हैं, पहुँचेंगे, और जानेवाला भी सब जगह प्रतिदिन यही कहता है कि मैं जगन्नाथजी को जाता हूँ। एक मंजिलवाला भी यही कहता है और ज्यादा मंजिलवाला भी यही कहता है। यह बात यथार्थ है कि दोनों एक जगह पहुँचेंगे, परन्तु इसमें भेद भी है। जो सब मंजिल तै कर चुका है, एक ही मंजिल बाकी रह गई है, वह उसी मंजिल में, उसी दिन साक्षात् व्यवधान-रहित जगन्नाथजी में पहुँचेगा। इस प्रकार ज्ञानी की गति है। और जिसको दो मंजिल बाकी हैं, वह प्रथम बीच की मंजिल पहुँचकर फिर जगन्नाथजी में पहुँचेगा। इस प्रकार कर्म-योगी की गति है। शुद्ध, सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्णब्रह्म, आत्मा को दोनों प्राप्त होंगे, यही दोनों का स्थान परमपद है। बिना ब्रह्म-ज्ञान के कर्म-योगी स्वतंत्र मुक्त नहीं हो सकता। और जो स्वतंत्र कर्म-योग से मुक्त होने को कहते हैं या तो उनको पूर्वापर अर्थ की समझ नहीं, वा हठ करके, वा रुचि बढ़ाने के लिये कहते हैं। सच्चा अर्थ वही है जिसमें पूर्वापर से विरोध न आवे, नहीं तो एक श्लोक का अर्थ तो बालक भी कह सकता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अन्वय—महाबाहो १ संन्यासः २ तु ३ अयोगतः ४ दुःखम् ५ आप्तुम् ६ योगयुक्तः ७ मुनिः ८ ब्रह्म ९ न १० चिरेण ११ अधिगच्छति १२।

अर्थ—कर्म-योग तो ज्ञानद्वारा परमानन्द मुक्त-पद को प्राप्त कराता है, और कर्मों का संन्यास ज्ञान साक्षात् मुक्त-पद देता है, तो कर्म-योग क्यों करना चाहिए, संन्यास ही करे अर्थात् ज्ञान का ही अनुष्ठान करे। यह शंका करके श्रीमहाराज कहते

हैं, हे अर्जुन ! १ सि० विना राग-द्वेष आदि दूर हुए प्रथम ही कर्मों का * संन्यास २ तो ३ सि० अर्थात् प्रथम * विना कर्म-योग का अनुष्ठान किए ४ दुःखपूर्वक ५ प्राप्त होने को ६ सि० शक्य है * अर्थात् विना कर्म-योग किए ज्ञान प्राप्त होना कठिन है। कर्मों के अनुष्ठान करने में बहुत देर लगती है, इस हेतु ब्रह्म की प्राप्ति बहुत देर में होगी, यह शंका करके कहते हैं, योगयुक्त ७ मुमुक्षु ८ ब्रह्म को ९ नहीं १० देर करके ११ प्राप्त होता है १२।

तात्पर्य – कर्म-योगी मुमुक्षु, संन्यासी, ज्ञान-निष्ठ होकर ब्रह्म को शीघ्र ही प्राप्त होता है अथवा इस जगह ब्रह्म संन्यास का ही नाम है। योग-युक्त मुनि संन्यास को शीघ्र और सुखपूर्वक प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—योगयुक्तः १ विशुद्धात्मा २ विजितात्मा ३ जिते-न्द्रियः ४ सर्वभूतात्मभूतात्मा ५ कुर्वन् ६ अपि ७ न ८ लिप्यते ९।

अर्थ—कर्म-योगी बन्धन को प्राप्त होता है, यह शंका करके कहते हैं कि योगी अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा ज्ञानी हो जाता है, इस हेतु बन्धन को नहीं प्राप्त होता। योगयुक्त १ विशेष करके शुद्ध है अन्तःकरण जिसका २ विशेष करके जीता है शरीर जिसने ३ जीती हैं इन्द्रियाँ जिसने ४ सब भूतों का आत्मभूत है आत्मा जिसका अर्थात् ब्रह्माजी से लेकर चींटी पर्यन्त सब भूतों का आत्मा उसी का आत्मा है ५ सि० सो लोक-रक्षा के लिये अथवा स्वभाव से ही कर्म * करता हुआ ६ भी ७ नहीं ८ बन्धन को प्राप्त होता ९ ॥ ७ ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

अन्वय--किञ्चित् १ एव २ न ३ करोमि ४ इति ५ युक्तः ६ तत्त्ववित् ७ मन्येत ८ इन्द्रियाणि ९ इन्द्रियार्थेषु १० वर्तन्ते ११ इति १२ धारयन् १३ पश्यन् १४ शृण्वन् १५ स्पृशन् १६ जिघ्रन् १७ अश्नन् १८ गच्छन् १९ स्वपन् २० श्वसन् २१ प्रलपन् २२ विसृजन् २३ गृह्णन् २४ उन्मिषन् २५ निमिषन् २६ अपि २७ ।

अर्थ--जिस समझ से कर्मों के साथ बन्धन नहीं होता, सो कहते हैं। कुछ १ भी २ नहीं ३ करता हूँ ४ यह ५ समाहित अर्थात् सावधान ६ ज्ञानी ७ मानता है ८ इन्द्रियाँ इन्द्रियों के अर्थों में वर्तती हैं अर्थात् शब्द आदि विषयों का भोगना इन्द्रियों का धर्म है । आत्मा असंग निर्विकार और शुद्ध है ९ । १० । ११ यह १२ धारण करता हुआ अर्थात् पूर्वोक्त निश्चय करके १३ कौन-से वे कर्म हैं कि जिनको करता हुआ यह मानता है कि मैं असंग हूँ, सो कहते हैं । देखता हुआ १४ सुनता हुआ १५ स्पर्श करता हुआ १६ सूँघता हुआ १७ खाता हुआ १८ चलता हुआ १९ सोता हुआ २० श्वास लेता हुआ २१ बोलता हुआ २२ त्यागता हुआ २३ ग्रहण करता हुआ २४ नेत्रों को खोलता हुआ २५ मीचता हुआ २६ अपि शब्द से अनुक्तों को भी जान लेना २७ ।

तात्पर्य—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में जितनी क्रियाएँ होती हैं, वे सब इस संघात के विषय अनात्म धर्म हैं । किस प्रकार, इस अपेक्षा में कहते हैं, सुनो । दर्शन आदि नेत्र आदि इन्द्रियों का धर्म है, आत्मा का नहीं । चलना पैरों का धर्म है, सोना बुद्धि का, श्वास लेना प्राण का, बोलना वाणी का, त्यागना गुदा और उपस्थ का, ग्रहण करना हाथों का, खोलना और मीचना नेत्रों का, ये सब कर्म प्राण के धर्म हैं । आत्मा सदा अकर्ता है । ज्ञानी यही समझते हैं, इसी समझ से निर्बंध हो जाते हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

अन्वय—यः १ कर्माणि २ ब्रह्मणि ३ आधाय ४ सङ्गम् ५ त्यक्त्वा ६ करोति ७ सः ८ पापेन ९ न १० लिप्यते ११ पद्म-पत्रम् १२ इव १३ अम्भसा १४।

अर्थ—जिसको यह अभिमान है कि मैं कर्ता हूँ अर्थात् जो आत्मा को अकर्ता नहीं जानता, वह ब्रह्म-ज्ञान-रहित है, उसको कर्म का बन्धन होगा। और अन्तःकरण शुद्ध न होने से उसको कर्मों के संन्यास और ज्ञान-निष्ठा में अधिकार नहीं है। वह तो बड़े संकट में फँसा, यह शंका करके श्रीभगवान् उसके वास्ते कहते हैं कि जो १ कर्मों को २ परमेश्वर में ३ अर्पण करके ४ सि० और कर्मों के फल * संग को अर्थात् आसक्ति को ५ त्याग-कर ६ करता है ७ वह ८ पाप से ९ नहीं १० स्पर्श किया जाता अर्थात् पाप-पुण्य दोनों उसको छूते भी नहीं ११ कमल का पत्र १२ जैसे १३ जल से १४ सि० नहीं भीगता * ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

अन्वय—कायेन १ मनसा २ बुद्ध्या ३ इन्द्रियैः ४ केवलैः ५ अपि ६ योगिनः ७ कर्म ८ कुर्वन्ति ९ सङ्गम् १० त्यक्त्वा ११ आत्मशुद्धये १२।

अर्थ—अन्तःकरण की शुद्धि के लिये जो कर्म करते हैं, वे बंधन को नहीं प्राप्त होते, यह श्रीमहाराज कहते हैं। शरीर से १ मन से २ बुद्धि से ३ इन्द्रियों से ४ ममता वर्जित अर्थात् मैं केवल ब्रह्मार्पण करता हूँ, यह समझ करके ५। ६ कर्म-योगी ७ कर्म को ८ करते हैं ९ सि० कर्मों के फल की * आसक्ति को १० त्यागकर ११ अन्तःकरण की शुद्धि के लिये १२ सि० 'अपि' पद पूरणार्थ है *।

तात्पर्य—स्नान, ध्यान, तत्त्व का विचार और श्रवण आदि ये कर्म केवल अन्तःकरण की शुद्धि और चित्त की एकाग्रता के लिये करते हैं। इसके सिवाय और कुछ फल चाहना बन्धन का हेतु है। इन कर्मों में अभिनिवेश-रहित होकर कर्म करना, यही इस पाँचवें पद का तात्पर्यार्थ है ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

अन्वय—युक्तः १ कर्मफलम् २ त्यक्त्वा ३ नैष्ठिकीम् ४ शान्तिम् ५ आप्नोति ६ अयुक्तः ७ कामकारेण ८ फले ९ सक्तः १० निबध्यते ११।

अर्थ—कर्म एक है, कोई उसको करके मुक्त होता है, और कोई उसको करके बद्ध होता है। यह कैसी व्यवस्था है, ऐसी शंका करके श्रीभगवान कहते हैं। समाहित, सावधान १ सि० ऐसा भगवद्भक्त * कर्मों के फल को २ त्यागकर ३ मोक्ष-रूप शान्ति को ४। ५ सि० ज्ञानद्वारा * प्राप्त होता है ६ बहिर्मुख अर्थात् विषयी, कामी ७ काम की प्रेरणा से ८ फल में ९ आसक्त १० सदा बन्धन को प्राप्त रहता है ११।

तात्पर्य—निष्काम कर्म ज्ञानद्वारा मुक्त कर देता है और उसी कर्म में जो इस लोक वा परलोक के पदार्थों की चाहना होती है, तो वह कर्म बन्धन को प्राप्त कर देता है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्वय—वशी १ देही २ सर्वकर्माणि ३ मनसा ४ संन्यस्य ५ सुखम् ६ नवद्वारे ७ पुरे ८ आस्ते ९ न १० एव ११ कुर्वन् १२ न १३ कारयन् १४।

अर्थ—जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं, उनको कर्म संन्यास से कर्म-योग विशेष है, यह विस्तारपूर्वक निरूपण किया। अब यह कहते हैं कि जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, उनको कर्म-संन्यास श्रेष्ठ है। शुद्धअन्तःकरणवाला १ देह का स्वामी जीव शुद्ध सच्चिदानन्द-रूप अर्थात् ज्ञानी २ सब कर्मों को ३ मन से ४ त्यागकर ५ सुखपूर्वक ६ नव[१]द्वार पुर में ७ नव दरवाजे हैं जिसमें ऐसे पुर में अर्थात् देह में ८ बैठा है ९ सि० किस प्रकार बैठा

१ दो कान में, दो नाक में, दो नेत्रों में, और एक मुख में, ये सात द्वार तो शिर में हैं और दो नीचे हैं, इस प्रकार नवद्वार हैं।

है, और क्या करता है, इस अपेक्षा में कहते हैं * न १० तो ११ सि० कुछ * करता हुआ १२ न १३ कराता हुआ सि० बैठा है * अर्थात् ज्ञानी इस देह में न कुछ करता है, न कुछ कराता है १४।

तात्पर्य—न कर्ता है, न प्रेरक है, अपने स्वरूप में ही मग्न है। न आपको कर्ता मानता है, और न शरीर आदि के साथ ममता करता है; यही उसका न करना, और न कराना है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

अन्वय—प्रभुः १ लोकस्य २ कर्तृत्वम् ३ न ४ सृजति ५ न ६ कर्माणि ७ न ८ कर्मफलसंयोगम् ९ स्वभावः १० तु ११ प्रवर्तते १२।

अर्थ—त्वं पदार्थ जीव को तो निर्विकार निरूपण किया, अब तत्पदार्थ ईश्वर को भी निर्विकार निरूपण करते हैं अर्थात् परमार्थ में ये दोनों निर्विकार हैं। क्योंकि नाम-मात्र ही दो हैं, वास्तव में दोनों एक हैं, यह दो श्लोकों में कहते हैं। ईश्वर अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप निर्विकार १ सि० यह * जीव के २ कर्तृत्व को ३ सि० वास्तव में * नहीं ४ रचता है ५ सि० और * न ६ कर्मों को ७ सि० और * न ८ कर्मों के फल संयोग को ९ सि० रचता है और यह जो कुछ देखा सुना जाता है, वह सब * अविद्या १० ही ११ प्रवृत्त हो रही है १२।

तात्पर्य—क्रिया, कारक, फल आदि सब अविद्या करके कल्पित हैं। न किसी ने रचे हैं, और न वास्तव में हैं। यह सब जीव का अज्ञान अध्यारोप में विस्तृत हो रहा है। वास्तव में जीव भी शुद्ध है। जगत् का कर्ता ईश्वर है, ऐसा जो कहते हैं वे अध्यारोप में कहते हैं। वास्तव में ईश्वर निर्विकार है। जगत् नहीं है ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

अन्वय—विभुः १ कस्यचित् २ पापम् ३ एव ४ न ५ आदत्ते ६ न ७ च ८ सुकृतम् ९ अज्ञानेन १० ज्ञानम् ११ आवृतम् १२ तेन १३ जन्तवः १४ मुह्यन्ति १५।

अर्थ—ईश्वर १ किसी के २ पाप को ३ भी ४ नहीं ५ ग्रहण करता ६ और न ७। ८ पुण्य को ९ अज्ञान से १० सि० जीव का * ज्ञान ११ ढक गया है १२ उससे अर्थात् उस अज्ञान से १३ जीव १४ भ्रान्ति को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् ईश्वर को भी कर्ता विकारवान् मानते हैं और अपने को भी ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

अन्वय—ज्ञानेन १ तु २ तत् ३ अज्ञानम् ४ येषाम् ५ नाशितम् ६ तेषाम् ७ आत्मनः ८ तत्परम् ९ ज्ञानम् १० आदित्यवत् ११ प्रकाशयति १२।

अर्थ—ज्ञानी को भ्रांति नहीं होती, यह कहते हैं। सि० और * ब्रह्म-ज्ञान से १। २ वह ३ अज्ञान ४ सि० पूर्वमंत्रोक्त * जिनका ५ नाश होगया है ६ उनको ७ आत्मा का ८ परमार्थ-तत्त्व ९ ज्ञान १० सूर्यवत् ११ सि० प्रकाश करके परमार्थ-तत्त्व-रूप आत्मा को * प्रकाशित कर देता है १२।

तात्पर्य—जैसे सूर्य अंधकार का नाश करके दृश्य पदार्थों को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही ज्ञान से अज्ञान का नाश होकर आत्म-तत्त्व का प्रकाश हो जाता है ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

अन्वय—तद्बुद्धयः १ तदात्मानः २ तन्निष्ठाः ३ तत्परायणाः ४ ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ५ अपुनरावृत्तिम् ६ गच्छन्ति ७।

अर्थ—जिन पुरुषों को आत्म-तत्त्व का ज्ञान होता है, उनका लक्षण कहते हैं; और ज्ञान का फल निरूपण करते हैं। उसी में है बुद्धि जिनकी अर्थात् सिवाय आत्मा के और किसी पदार्थ में नहीं जाती है बुद्धि जिनकी, आत्मा के सिवाय और किसी

पदार्थ को सत्य त्रिकालाबाध्य निश्चित नहीं करते १ सि० और * उसमें ही है मन जिनका अर्थात् सिवाय आत्मा के और किसी पदार्थ में जिनका मन नहीं जाता २ सि० और उसमें ही है निष्ठा जिनकी अर्थात् सिवाय आत्मा के दूसरी जगह निष्ठा नहीं करते, सदा आत्मा में ही तत्पर रहते हैं ३ सि० और * सोई आत्मा परम आश्रय है जिनका ४ सि० ऐसे महात्मा * ज्ञान से नाश कर दिए हैं पाप जिन्होंने ५ सि० वे * मुक्ति को ६ प्राप्त होते हैं ७ ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

अन्वय—विद्याविनयसंपन्ने १ ब्राह्मणे २ श्वपाके ३ च ४ गवि ५ हस्तिनि ६ शुनि ७ च ८ एव ९ समदर्शिनः १० पण्डिताः ११ ।

अर्थ—पंडित नाम भी ज्ञानियों का ही है अर्थात् पंडित ज्ञानी को कहते हैं। इस मंत्र में पंडित शब्द के अर्थ का लक्षण कहते हैं। विद्या और नम्रता से युक्त ब्राह्मण में १। २ और चांडाल में ३। ४ गौ में ५ हाथी में ६ और कुत्ता में ७। ८ भी ९ सि० आत्मा को * सम देखने का स्वभाव है जिनका १० सि० वे * पंडित ११ सि० हैं। मूर्खों के कहने से और पंडित नाम रखवा लेने से पंडित नहीं हो सकता *।

तात्पर्य—ब्राह्मण और चांडाल में तो कर्म की विषमता है, गौ, हाथी और कुत्ता में जाति की विषमता है। जो सबमें आत्मा को सम देखते हैं उनको समदर्शी कहा जाता है। व्यवहार में ब्राह्मण और चांडाल आदि को एक देखना वा समझना, भ्रष्ट और मूर्खों का काम है ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

अन्वय—येषाम् १ मनः २ साम्ये ३ स्थितम् ४ तैः ५ इह ६ एव ७ सर्गः ८ जितः ९ ब्रह्म १० निर्दोषम् ११ समम् १२ तस्मात् १३ हि १४ ब्रह्मणि १५ ते १६ स्थिताः १७ ।

अर्थ—समदर्शियों का माहात्म्य कहते हैं। जिनका १ मन २ समता के विषय ३ स्थित है अर्थात् सब भूतों में जिनकी ब्रह्म-भावना है ४ उन्होंने ५ जीवते हुए ६ ही ७ संसार ८ जीता है ९ सि० क्योंकि * ब्रह्म १० निर्दोष ११ सि० और सम १२ सि० है * इसी कारण से १३ ही १४ ब्रह्म में १५ वे १६ सि० पंडित (पूर्वमंत्रोक्त) * स्थित हैं अर्थात् ब्रह्म-भाव को प्राप्त हैं १७।

तात्पर्य—संसार दोषों के सहित विषम-रूप है और ब्रह्म सम-रूप निर्दोष है। ब्रह्म-भाव को प्राप्त होकर ही संसार जीता जा सकता है ; नाश हो सकता है। अथवा इस प्रकार अन्वय करना चाहिए कि ब्रह्म सम और निर्दोषी है इसी से वे ब्रह्म में स्थित हैं, और जब ब्रह्म में उनकी स्थिति हुई तब उन्होंने संसार को जीता। शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप पूर्णब्रह्म आत्मा के सिवाय पदार्थ सदोष हैं। यह समझकर, निर्दोष ब्रह्म में स्थित होकर संसार जीता जाता है॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

अन्वय—असंमूढः १ स्थिरबुद्धिः २ ब्रह्मवित् ३ ब्रह्मणि ४ स्थितः ५ प्रियम् ६ प्राप्य ७ न ८ प्रहृष्येत् ९ अप्रियम् १० च ११ प्राप्य १२ न १३ उद्विजेत् १४।

अर्थ—मोह-वर्जित १ संदेह-रहित २ ब्रह्मवित् ३ ब्रह्म में ४ स्थित हुआ ५ प्रिय को ६ प्राप्त होकर ७ नहीं ८ आनंद को प्राप्त होता है ९ और अप्रिय को १०। ११ प्राप्त होकर १२ नहीं १३ उद्वेग करता है १४॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

अन्वय—बाह्यस्पर्शेषु १ असक्तात्मा २ ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ३ सः ४ आत्मनि ५ यत् ६ सुखम् ७ विन्दति ८ अक्षयम् ९ सुखम् १० अश्नुते ११।

अर्थ—जिस हेतु शब्द आदि पदार्थों में ज्ञान का राग-द्वेष नहीं

है वह हेतु कहते हैं। शब्द आदि इन्द्रियों के अर्थों में १ नहीं आसक्त है अंतःकरण जिसका २ सि० और * ब्रह्म में समाधि करके युक्त है अंतःकरण जिसका ३ वह ४ अंतः-करण में ५ जो ६ सि० सत्त्वगुणी उपशमात्मक * सुख को ७ सि० प्रथम * प्राप्त होता है ८ सि० और फिर * अक्षय सुख को ९। १० प्राप्त होता है ११।

तात्पर्य—बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति में जिनका मन आसक्त नहीं है, उन्होंने आत्मा में अंतःकरण को समाधान करके जीव को ब्रह्म-स्वरूप समझ लिया है। और आत्मा पूर्णानन्द नित्य और एकरस है, इसवास्ते उनको अक्षय सुख प्राप्त होता है अर्थात् वे सच्चिदानन्द-स्वरूप एकरस हैं। पूर्णानन्द के सामने विषयानन्द तुच्छ है। प्रथम तो सत्त्वगुणी-सुख के ही सामने विषयानन्द तुच्छ है, फिर परमानन्द के सामने तुच्छ हो, तो इसमें क्या कहना है। अथवा इस श्लोक का अन्वय ऐसा किया जाय कि शब्द आदि विषयों में नहीं है आसक्त अन्तःकरण जिसका, सो महात्मा सात्त्विक सुख को प्राप्त होता है। फिर समाधि करके ब्रह्मात्मा में अन्तःकरण लगाया है जिसने, सो महात्मा पुरुष अक्षय-सुख को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

अन्वय—संस्पर्शजाः १ ये २ भोगाः ३ ते ४ एव ५ हि ६ दुःखयोनयः ७ कौन्तेय ८ आद्यन्तवन्तः ९ तेषु १० बुधः ११ न १२ रमते १३।

अर्थ—शब्द आदि विषयों में इन्द्रिय आदि देवता आनंद मानते हैं, और बड़े-बड़े समझवाले चतुर लोग वैकुंठ-लोक आदि परलोक के पदार्थों की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न करते हैं। वहाँ जाकर नाना प्रकार के शब्द आदि विषयों को भोगते हैं। पुराण आदि में भी उनका माहात्म्य सुना जाता है। ऐसे प्रत्यक्ष सुन्दर शब्द आदि विषयों को छोड़ जो ब्रह्मात्मा में परमानन्द मानते हैं, वे तो कुछ कम-समझ प्रतीत होते हैं। यह शंका करते श्रीमहाराज कहते हैं। शब्द आदि विषयों से

उत्पन्न १ जो २ भोग अर्थात् विषयजन्य जो सुख आनंद ३ वे ४ निश्चय ५ ही ६ दुःख के कारण हैं अर्थात् निःसंदेह शब्द आदि पदार्थों में जो सुख है वह दुःखों का मूल है ७ सि० जो कोई मूर्ख यह कहे कि आपकी समझ में विषयानन्द दुःखों का मूल है, हमारी समझ में श्रेष्ठ है, यह शंका करके और भी प्रत्यक्ष दोष दिखाते हैं * हे अर्जुन ! ८ सि० फिर कैसे हैं ये भोग * आदि अन्तवाले हैं अर्थात् आगमापायी, आने-जानेवाले हैं, सदा बने नहीं रहते ९ उनमें १० विद्वान् ११ नहीं १२ रमता है १३।

तात्पर्य—जो स्त्री धन आदि पदार्थों में रमते हैं, शब्द आदि विषयों को प्रिय समझकर भोगते हैं, उनकी प्राप्ति के लिये लौकिक और वैदिक कर्म करते हैं; वे कुछ बड़े समझवाले चतुर नहीं, उनको महामूर्ख समझना चाहिए। कहा भी है—"रमन्ति मूर्खा विरमन्ति पण्डिताः।" 'हि' यह शब्द कहने से श्रीमहाराज का तात्पर्य है कि इस लोक और परलोक के सब विषय सम हैं। उनके प्रयत्न करने में, और नाश होने में जो दुःख हैं, वे तो प्रसिद्ध ही हैं, परंतु भोगकाल में भी वे दुःख के हेतु हैं। चोर राजा इत्यादि का सदा भय बना रहता है। और विषयों में जो कुछ थोड़ा-सा सुख प्रतीत होता है तो दुःख उनमें सहस्रों प्रकार का है। और वह सुख भी अनित्य है। श्रेष्ठ आत्मानंद ही है। आत्मानंद के भोगनेवाले, आत्मानंद के प्रयत्न करनेवाले, चतुर, बुद्धिमान् और सब से श्रेष्ठ हैं॥ २२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

अन्वय—यः १ कामक्रोधोद्भवम् २ वेगम् ३ प्राक्शरीरविमोक्षणात् ४ इह ५ एव ६ सोढुम् ७ शक्नोति ८ सः ९ युक्तः १० सः ११ सुखी १२ नरः १३।

अर्थ—परमपुरुषार्थ मोक्ष है। उसके काम और क्रोध दो वैरी हैं। जो इनको सहेगा, त्यागेगा, वह मोक्ष का भागी होगा। यह कहते हैं। जो १ सि० महापुरुष * काम और क्रोध से प्रकट होता है जो वेग उसको २। ३ शरीर छूटने के पहिले ४ जीते ५ ही ६

सहने को ७ समर्थ है ८ वही ९ योगी १० सि० और * वही ११ सुखी १२ महापुरुष १३ सि० है *

तात्पर्य—सब (शुभ वा अशुभ, इस लोक वा परलोक के) पदार्थों की कामना अनर्थ का हेतु है, और स्त्री की कामना तो मोक्ष में बड़ा ही प्रतिबन्ध है। जिस समय देखने से, सुनने से और स्मरण करने से, मन में विकार प्रतीत हो, उसी समय दोषों का स्मरण करे। जिस गुण का स्मरण करने से कामना होती है, उसका कभी चिंतवन न करे। जितने अवगुण उस पदार्थ में हैं, उन सबका स्मरण करे। मनोराज्य का अंकुर जमने न दे। दूसरे अध्याय के मंत्रों का विचार करे। नारायण की याद करे। जिस तरह बने, उस समय को टाले और इससे भी उत्तम उपाय यह है कि उस समय विरक्त-साधु के पास जा बैठे। निःसंदेह उसी समय चित्त शान्त हो जायगा। यह प्रयत्न सुषुप्ति और मरणपर्यन्त चाहिए। कामना से ही क्रोध होता है, क्रोध लोभ आदि का जब उद्वेग हो, उसी समय समझकर निरोध करे। इसी प्रकार सहते-सहते फिर आप ही ऐसा स्वभाव पड़ जायगा। प्रथम तो काम आदि का उदय ही न होगा, और यदि कुसंग से काम आदि उदय भी हो, तो उनका विचार करने से वह काम नष्ट हो जायगा॥ २३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

अन्वय—अन्तः सुखः १ यः २ अन्तरारामः ३ तथा ४ एव ५ अन्तर्ज्योतिः ६ यः ७ सः ८ योगी ९ ब्रह्मभूतः १० ब्रह्म-निर्वाणम् ११ अधिगच्छति १२।

अर्थ—कामना आदि के त्यागने से अन्तःसुख की प्राप्ति होती है। कैसा है वह सुख कि स्वतंत्र, नित्य, पूर्ण अर्थात् अखंड है। उसमें विहार करता हुआ पूर्णब्रह्म परमानन्द-स्वरूप आत्मा को सदा के वास्ते प्राप्त हो जाता है। सोई कहते हैं। अंतः-करण में है सुख जिसको अर्थात् आत्मा में ही जिसको सुख है १ सि० इसी हेतु वह विषयों में सुख नहीं मानता * जो २ सि० महात्मा और * आत्मा में ही है विहार जिसका ३ सि०

इसी हेतु बाहर के पदार्थों में विहार नहीं करता और जैसे अन्तःसुख मानता है, वैसे ही अन्दर विहार करता है * वैसे ४ ही ५ भीतर है दृष्टि जिसकी ६ सि० इसी हेतु गीत-नृत्य आदि में दृष्टि नहीं करता, ऐसा * जो ७ सि० महापुरुष योगी * सो ८ योगी ६ ब्रह्म-स्वरूप होकर १० सि० ब्रह्म में लय होकर, ब्रह्म को अर्थात् * निर्वाण-ब्रह्म मोक्ष को ११ प्राप्त होता है १२ ।

तात्पर्य—फिर उसको जन्म-मरण नहीं होता, पूर्ण परमानन्द-स्वरूप आत्मा को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

अन्वय—ऋषयः १ क्षीणकल्मषाः २ छिन्नद्वैधाः ३ यतात्मानः ४ सर्वभूतहिते रताः ५ ब्रह्मनिर्वाणम् ६ लभन्ते ७ ।

अर्थ—जो ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, उनका लक्षण कहते हैं। ज्ञान-निष्ठावाले साधु महात्मा १ नाश हो गए हैं पाप जिनके २ सि० और * छिन्न-छिन्न दो-दो टूक हो गए हैं संशय जिनके अर्थात् किसी प्रकार का संशय जिनको नहीं है ३ जीता हुआ है अन्तःकरण जिनका ४ सब भूतों के हित में प्रीति है जिनकी ५ सि० ऐसे कृपालु महात्मा * ब्रह्म-निर्वाण को ६ प्राप्त होंगे ७ सि० पहिले बहुत हो गए, और वर्तमान-काल में बहुत जीवन्मुक्त विद्यमान हैं * ।

तात्पर्य—साधन-चतुष्टय-संपन्न, श्रवण आदि साधनों से युक्त, तिरोभाव हो गए हैं रजोगुण तमोगुण जिनके, ज्ञान के प्रताप से नाश हो गए हैं सब पाप जिनके, ऐसे महात्मा प्रमाण-गत वा प्रमेय-गत हैं । किसी जगह उनको संशय नहीं, वे सदा समाधि-निष्ठ रहते हैं, नगर ग्राम में उनका आना, गृहस्थों के घर जाना, गृहस्थों से बात-चीत करना, यह उनकी केवल कृपा समझना चाहिए, क्योंकि वे पूर्णकाम हैं । ऐसे दयालु महापुरुषों का दर्शन भी बड़े भाग्य से होता है । कहा भी है—"महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् । निःश्रेयसाय भगवन्कल्प्यते नान्यथा क्वचित् ॥" इस श्लोक का तात्पर्यार्थ यह है कि गृहस्थों के घर में महात्मा पुरुषों का जो जाना है,

वह केवल उनके भले के लिये है। इसके सिवाय उनका और कुछ प्रयोजन नहीं। कभी, किसी प्रकार की और कल्पना न करना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ आप ही दीन होते हैं, उनके पास है क्या? जो किसी कामना की कल्पना की जावे ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

अन्वय—यतीनाम् १ अभितः २ ब्रह्मनिर्वाणम् ३ वर्तते ४ कामक्रोधवियुक्तानाम् ५ यतचेतसाम् ६ विदितात्मनाम् ७।

अर्थ—काम आदि रहित सज्जन जीते ही मुक्त हैं, तो फिर उनकी विदेह-मुक्ति में क्या कहना है। संन्यासी १ सब अवस्थाओं में २ मोक्ष, परमानंद को ३ वर्तता है अर्थात् जीते हुए भी, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में परमानंद को भोगते हैं ४ अज्ञानियों की दृष्टि में ज्ञानियों के लिये ये तीन अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। वास्तव में ज्ञानियों की एक तुर्यातीत अवस्था रहती है, और देह त्यागने के पीछे भी परमानंद को भोगते हैं सि० कैसे हैं वे संन्यासी ज्ञानी * काम क्रोध से रहित हैं ५ जीत रक्खा है अंतःकरण जिन्होंने ६ जाना है आत्मतत्त्व जिन्होंने अर्थात् पूर्णब्रह्म सच्चिदानंद, नित्यमुक्त आत्मा को जानते हैं और काम आदि रहित हैं ७ ॥ २६ ॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

अन्वय—बाह्यान् १ स्पर्शान् २ बहिः ३ एव ४ कृत्वा ५ चक्षुः ६ च ७ भ्रुवोः ८ अन्तरे ९ प्राणापानौ १० नासाभ्यन्तरचारिणौ ११ समौ १२ कृत्वा १३।

अर्थ—जिस योग से संन्यासी महात्मा जीते हुए, और देह त्यागने के पीछे भी सदा परमानन्द भोगते हैं उस योग का लक्षण दो मंत्रों में संक्षेप से यहाँ कहते हैं और अगले छठे अध्याय में विस्तारपूर्वक कहेंगे। बहिः पदार्थों को १ रूप रस आदि को २ बाहर ३ ही ४ करके अर्थात् रूप रस आदि जो

पदार्थ हैं ये सब बाहर हैं, इनका चिंतन करने से ये भीतर प्रवेश करते हैं। इसवास्ते विषयों का चिंतन दर्शन आदि का त्याग करके ५ और नेत्रों को ६। ७ दोनों भ्रुवों के ८ बीच में ६ सि० करके * अर्थात् नेत्रों को बहुत न खोलना चाहिए और न मीचना। बहुत खोलने से रूप के साथ संबंध हो जाता है और बहुत मीचने से निद्रा आ जाती है। इसवास्ते दोनों भ्रुवों के मध्य में दृष्टि रखना चाहिए। और प्राण अपान वायु को १० नासाभ्यंतरचारी ११ समान १२ करके १३ सि० मुक्त हो जाता है * अर्थात् ऐसे महात्मा सदा मुक्त हैं। अगले मंत्र के साथ इस मंत्र का अन्वय है ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

अन्वय—यतेन्द्रियमनोबुद्धिः १ मोक्षपरायणः २ विगतेच्छाभयक्रोधः ३ यः ४ मुनिः ५ सः ६ सदा ७ मुक्तः ८ एव ६ ।

अर्थ—जीते हैं इंद्रिय, मन और बुद्धि जिसने १ मोक्ष ही है परम गति जिसकी २ दूर हो गए हैं इच्छा, भय और क्रोध जिससे ३ सि० ऐसा * जो ४ मुनि (संन्यासी) ५ सि० है * वह ६ सदा ७ सि० जीते हुए भी, और देह के पीछे भी * मुक्त ८ ही ६ सि० है। इससे पृथक् कोई मुक्तिपदार्थ नहीं। सालोकादि (अनित्य होने से) नाममात्र मुक्ति कहलाती है *।

तात्पर्य—सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति, यह मुक्ति का लक्षण है ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २६ ॥

अन्वय—यज्ञतपसाम् १ भोक्तारम् २ सर्वभूतानाम् ३ सुहृ-

---

१ नासिका के भीतर ही प्राणवायु चले, शीघ्र गति न होने पावे। नीचे और ऊपर की गति सम करना योग्य है, जिसको कुम्भक कहते हैं। यह अर्थ साक्षात् गुरु के बतलाने से समझ में आता है, केवल शास्त्र के श्रवण करने और विचार करने से नहीं आता।

२ जिसका मन आत्मा में ही रहता है, उसको मुनि कहते हैं।

दम् ४ सर्वलोकमहेश्वरम् ५ माम् ६ ज्ञात्वा ७ शान्तिम् ८ ऋच्छति ९ ।

अर्थ—जैसा पीछे निरूपण किया है इस प्रकार इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि का निरोध करके ब्रह्म-ज्ञान द्वारा मुक्त होना है, इसवास्ते अब ज्ञान का स्वरूप कहकर सबका फल शान्ति है, यह निरूपण करते हैं। और यज्ञ तप का १ भोक्ता २ अविद्योपहितत्वं पद का वाच्यार्थ है । और सब भूतों का ३ बेप्रयोजन हित करनेवाला ४ सि० अन्तर्यामी ईश्वर सब कर्मों के फल का देनेवाला, तत्पद का वाच्यार्थ, सच्चिदानन्द है, और * सब लोकों का महेश्वर ५ सि० परमात्मा, शुद्ध, सच्चिदानंद, निर्विकार, नित्य, मुक्त, तत् त्वं पदों का लक्ष्यार्थ एक अद्वैत है । इस प्रकार * मुझको अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्णब्रह्म आत्मा को ६ जानकर ७ शान्ति को अर्थात् मुक्ति को ८ प्राप्त होता है ९ न स पुनरावर्तते इत्यभिप्रायः ॥ २९ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

इस छठे अध्याय में श्रीभगवान् यह कहेंगे कि जो अग्निहोत्रआदि कर्म करता है, और कर्मों के फल में आसक्त नहीं है उसको संन्यासी समझना चाहिए । यह कर्मयोगी की स्तुति है । इसको शास्त्र में अर्थवाद कहते हैं। इस कहने से यह न समझना कि गृहस्थाश्रम में ही सदा बना रहे, चतुर्थाश्रम संन्यास से क्या प्रयोजन है । जैसे संन्यासी वैसे ही गृहस्थ कर्मयोगी है । यह अधिकारी के प्रति श्रीमहाराज का कहना है, नहीं तो पुनः पुनः पाँचवें, बारहवें, दूसरे, अठारहवें इत्यादि अध्याय में चतुर्थाश्रम संन्यास के जो लक्षण और माहात्म्य गृहस्थाश्रम से विशेष अपने मुख से श्रीमहाराज ने कहा है, वह निरर्थक हो जायगा । सर्वज्ञों की वाणी का यह नियम है कि जिस

समय जिस साधन का प्रसंग होता है, उस समय उसी साधन को सबसे अच्छा कहा करते हैं । उनका यथार्थ आशय तब प्रतीत होता है जब अगले पिछले कहे हुए उनके सब अर्थों पर विचार करे । फिर अधिकार, गौण, मुख्य, देश, वस्तु और काल आदि का विचार करे । युक्तियों करके सब श्रुति स्मृतियों के साथ उस अर्थ का एक जगह समन्वय करे । अगले पिछले वाक्यों में विरोध न आवे । सबका एक अर्थ में समन्वय हो जाय । तब समझना चाहिए कि इस श्लोक का, वा ग्रंथ का, यह यथार्थ अर्थ है । और लक्षणा तथा व्यंजना, इन शक्तियों को भी देखना योग्य है । पूर्वपक्ष को और सिद्धान्त को पृथक्-पृथक् समझना चाहिए । साधन फल का भेद देखना चाहिए । साधनों में भी तारतम्यता अधिकारी के प्रति है, इस प्रकार शास्त्र का तात्पर्य जाना जाता है । और भी शास्त्र के तात्पर्य जानने में मुख्य छः बातें हैं । प्रथम तो उपक्रम और उपसंहार, अर्थात् ग्रंथ का आदि अन्त देखना कि दोनों की संगति मिलती है वा नहीं । सर्वज्ञों का कहा हुआ जो ग्रंथ होता है, उसके प्रारंभ में जो अर्थ होगा, वही अन्त में होगा । जैसे श्रीभगवद्गीता का आदि पद अशोच्य है, और मा शुचः यह पिछला पद है, इन दोनों पदों से प्रथम और पीछे जो कहा है, वह संगति के लिये उपोद्घात है । इस प्रकार गीता का उपक्रम और उपसंहार एक मिलता है । शोच का न होना, और परमानंद की प्राप्ति, यही गीता-शास्त्र का तात्पर्य है । इसी बात को सिद्ध करने के लिये बीच में पाँच बातें ये हैं । अपूर्वता, अर्थात् आत्मा को ही सच्चिदानंद, नित्य, मुक्त जानना, जिसके जानने से ही शोच दूर हो जाता है । यह बात अपूर्व अलौकिक है । अनुवाद, अर्थात् उसी एक बात को नाना प्रकार की रीति और शैली से पुनः पुनः कथन करना । अर्थवाद, अर्थात् उसी पदार्थ की सिद्धि के जो साधन हैं, उनको ही (रुचि बढ़ाने के लिये) परात्पर श्रेष्ठ इत्यादि कहना । जैसे कर्म, भक्ति, योग और तीर्थ इत्यादि का माहात्म्य

कहा है । उपपत्ति, अर्थात् फिर युक्तियों से साधन को कहकर, सिद्धान्त-पक्ष को सिद्ध करना । फल, अर्थात् सिद्धान्त का कथन करना, और उसका लक्षण कहना कि वह परमानंद-स्वरूप ऐसा है । इस प्रकार ग्रंथ का तात्पर्य प्रतीत होता है । ग्रंथ के एक देश से, अर्थात् एक श्लोक वा एक अध्याय से, ग्रंथ का तात्पर्य नहीं जाना जाता । ये छः बातें (उपक्रम उपसंहार आदि) गीता-शास्त्र में हैं । और लक्षणा तथा व्यंजनाआदि भी हैं । इन छः बातों का एक पदार्थ में जब समन्वय होगा, तब जानना कि इस ग्रंथ का यह तात्पर्य है । अर्थवाद साधनों के सिद्धान्त समझ लेना मूर्खों का काम है ।

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

अन्वय—कर्मफलम् १ अनाश्रितः २ कार्यम् ३ कर्म ४ यः ५ करोति ६ सः ७ संन्यासी ८ च ९ योगी १० च ११ न १२ निरग्निः १३ न १४ च १५ अक्रियः १६ ।

अर्थ—अन्तःकरण शुद्ध होने के लिये श्रीभगवान् कर्म-योगी की स्तुति करते हैं । कर्मों के फल का नहीं आश्रय किया है जिसने अर्थात् कर्म-फल की तृष्णा और कामना नहीं है जिसको १ । २ करने के योग्य कर्म को ३ । ४ जो ५ करता है अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त कर्म, और भगवद्भक्ति-संबंधी, ज्ञानसंबंधी जो कर्म, और तीर्थ-यात्रा साधु-सेवा आदि साधारण जो कर्म, और दान लेना इत्यादि जो असाधारण कर्म हैं, इन सब कर्मों को यथा अधिकार, यथाशक्ति जो करता है ६ वह ७ संन्यासी ८ और ९ योगी १० भी ११ सि० है * अर्थात् कर्म-फल का संन्यास करने से एक देश में तो उसको संन्यासी समझना और कर्म-योग करने से एक देश में उसको योगी समझना । इस अर्थ में सम-समुच्चय के गंध-मात्र की भी कल्पना न करना चाहिए । कर्म-योग और कर्म-संन्यास का

दिन-रात्रिवत् विरोध है। कर्म-योग को ही संन्यासी कहना, यह उपमा है, जैसे स्त्री के मुख को चंद्रमा कहना। इस उपमा का तात्पर्य एक देश में होता है, नहीं तो अगले पिछले वाक्यों में विरोध आता है। श्रीभगवान् ने पीछे बहुत जगह फल के सहित कर्म-संन्यास का निरूपण किया है, और आगे बहुत जगह करेंगे। इस जगह कर्म-योग का ही प्रसंग है, इस वास्ते श्रीमहाराज कर्म-योगी की स्तुति करते हैं। सि० कैसा है वह कर्म-योगी * न १२ निरग्नि १३ और १४ न १५ अक्रिय है १६।

तात्पर्य—जैसे चतुर्थाश्रमी संन्यासी अग्निहोत्र आदि कर्म नहीं करते, निरग्नि होते हैं, ऐसा कर्म-योगी नहीं होता, और चतुर्थाश्रमी, संन्यासी, ज्ञानी के समान अक्रिय भी नहीं, क्योंकि ज्ञानी आत्मा को अक्रिय (क्रिया-रहित) मानते हैं। आत्मा का जब देह के साथ संबन्ध माना, तब आत्मा अक्रिय कहाँ रहा। यह बात श्रीमहाराज सत्य कहते हैं कि कर्म-योगी अक्रिय नहीं, अथवा केवल अग्नि के न छूने से, कर्मों के न करने से, बिना ज्ञान-निष्ठा, परमार्थ में संन्यासी नहीं हो सकता। व्यवहार में उसको नाम-मात्र संन्यासी कहेंगे। जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो, तब तक ज्ञान-निष्ठा और संन्यास का माहात्म्य सुनकर, कर्मों का त्याग न करे, और जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो, उनके वास्ते कर्मों का संन्यास करना, चतुर्थाश्रम धारण करना, निषेध नहीं, अवश्य चतुर्थाश्रम धारण करना चाहिए। उसके बिना ज्ञान-निष्ठा कभी परिपाक न होगी, यह नियम है॥ १॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

अन्वय—पाण्डव १ यम् २ संन्यासम् ३ प्राहुः ४ तम् ५ हि ६ योगम् ७ इति ८ विद्धि ९ असंन्यस्तसङ्कल्पः १० कश्चन ११ योगी १२ न १३ भवति १४।

अर्थ— कच्चे कर्म-योगी का संन्यास में अधिकार नहीं, यह कहते हैं। हे अर्जुन! १ जिसको २ संन्यास ३ कहते हैं ४ उसको ५ ही ६ योग ७ सि० कहते हैं * यह ८ जान ९ सि० क्योंकि

संन्यास योग का ही फल है * नहीं संन्यास किए हैं संकल्प जिसने अर्थात् शुभाशुभ संकल्पों को जिसने नहीं त्यागा है, ऐसा १० कोई ११ योगी १२ नहीं १३ होता है १४।

तात्पर्य—जब तक शुभ वा अशुभ संकल्प मन में बने रहें, तब तक अपने को सिद्ध योगी न समझना चाहिए, अर्थात् यह समझे कि मेरा भक्तियोग अभी सिद्ध नहीं हुआ। जब अन्तःकरण का निरोध हो जाय, संकल्प विकल्प सूक्ष्म (कम) हो जायँ, तब संन्यास का अधिकारी होता है ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

अन्वय—योगम् १ आरुरुक्षोः २ मुनेः ३ कर्म ४ कारणम् ५ उच्यते ६ योगारूढस्य ७ तस्य ८ एव ९ शमः १० कारणम् ११ उच्यते १२।

अर्थ—हे अर्जुन! पीछे जो मैंने कर्म-योगी की स्तुति की है, उससे यह न समझना कि सदा कर्म ही करता रहे। मैंने वहाँ अधिकारी के प्रति कहा है। सिद्धान्त मेरा यह है, जो मैं अब कहता हूँ। सि० ऊपर के पद पर * ज्ञान पर १ चढ़ने की इच्छा है जिसकी २ सि० ध्यान-योग में समर्थ नहीं, अर्थात् सच्चिदानन्द निराकार का ध्यान नहीं कर सकता, ऐसा ज्ञान-योग का जिज्ञासु * मननशील को अर्थात् मन में तो यह मनन करता है कि सच्चिदानन्द निराकार का ध्यान करना चाहिए, परंतु अंतःकरण मैला होने से ध्यान नहीं हो सकता, ऐसे जिज्ञासु मुनि को ३ कर्म अर्थात् बहिरंग भगवत् आराधन आदि ४ सि० परमानन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति में * हेतु ५ कहा है ६ सि० और * योगारूढ़ को अर्थात् शुद्ध अंतःकरणवाले को, जो ज्ञान-योग पर चढ़ गया है, वही कर्म-योगी साधन-चतुष्टय-संपन्न होकर ज्ञान-निष्ठ हुआ है ७ उसको ८ ही ९ उपशम १० हेतु ११ कहा है १२। तात्पर्य परमानन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति में उपशम हेतु है, अर्थात् लौकिक और वैदिक कर्मों से उपराम होकर सच्चिदानंद निराकार का

ध्यान करना कहा है । फिर उसको बहिरंग कर्मों में प्रवृत्त होना न चाहिए, क्योंकि वे विक्षेप के हेतु हैं, अर्थात् ऊपर चढ़े हुए को नीचे उतारते हैं। उसी को जो पहले कर्म-योगी था; अर्थात् साकार मूर्तियों का ध्यान करता था, और बहिरंग कर्मों में प्रवृत्त था, उसी बहिर्मुख को अन्तर्मुख होना कहते हैं। यह नहीं समझना कि कर्म-योगी को सदा बहिर्मुख रहना ही कहते हैं, वा ज्ञान-मार्ग दूसरा है, वा उसके अधिकारी दूसरे हैं। जैसे कोई कम समझवाले यह कहा करते हैं कि मकान एक है, उसके रास्ते अनेक हैं। यह बात नहीं, मोक्ष-मार्ग एक ही है। मंज़िल अनेक हैं, रास्ते अनेक नहीं। रास्ता एक ही है, अर्थात मोक्ष के मार्ग अनेक नहीं, अधिकारी के प्रति भूमिकाएँ दरजे वा सीढ़ी अनेक हैं ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

अन्वय—यदा १ हि २ न ३ इन्द्रियार्थेषु ४ न ५ कर्मसु ६ अनुषज्जते ७ सर्वसङ्कल्पसंन्यासी ८ तदा ९ योगारूढः १० उच्यते ११ ।

अर्थ—यह कैसे प्रतीत हो कि अब मैं योगारूढ़ हुआ, इस अपेक्षा में योगारूढ़ का लक्षण कहते हैं। जिस काल में १ ही २ सि० जो महापुरुष * न ३ विषयों में ४ न ५ कर्मों में ६ आसक्ति करता है अर्थात् इस लोक में रूप शब्द आदि जो देखे वा सुने हैं, और परलोक के जो अर्थवाद सुने हैं, उनमें से किसी में तृष्णा नहीं करता, क्योंकि अंतःपरमानंद स्वतन्त्र के सामने बहिःसुख परिच्छिन्न परतन्त्र विषयजन्य सुख को तुच्छ समझता है। और बहिर्मुख के जो साधन कर्म हैं, उनको भी कर सकता है, परन्तु उनसे अपना कुछ प्रयोजन न समझकर उन कर्मों में भी प्रीति नहीं करता ७ सि० और * सब संकल्पों के त्यागने का स्वभाव है जिसका अर्थात् इस लोक वा परलोक के निमित्त जो संकल्प उत्पन्न होते हैं, उन सबको त्याग देता

है ८ सि० जब सिवाय सच्चिदानंद आत्मा के और किसी पदार्थ की प्राप्ति का संकल्प-मात्र भी नहीं करता, * तब ९ सि० वह पुरुष * योगारूढ़ १० कहा जाता है ११ ।

तात्पर्य—वही महात्मा है, वही साधु है, वही भगवद्भक्त है, जो विषय आदि में प्रीति नहीं करता ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अन्वय—आत्मना १ आत्मानम् २ उद्धरेत् ३ आत्मानम् ४ न ५ अवसादयेत् ६ आत्मनः ७ आत्मा ८ हि ९ एव १० बन्धुः ११ आत्मनः १२ आत्मा १३ एव १४ रिपुः १५ ।

अर्थ—अब यह कहते हैं कि ज्ञान पर आरूढ़ होना चाहिए। चढ़ना योग्य है, नीचे कर्मों में ही गिरना न चाहिए। विवेकयुक्त राग-द्वेष आदि से रहित शुद्ध मन से १ जीव को २ सि० ज्ञान-योग पर * चढ़ावे सि० यही जीव का संसार से उद्धार करना है * अर्थात् ज्ञान-निष्ठ होना योग्य है ३ जीव को ४ नीचे न गिरावे ५ अर्थात् सदा कर्मों में ही न लगा रहे ६ जीव का ७ विवेक-युक्त मन ८ ही ९ तो १० बन्धु सि० है * अर्थात् संसार से मुक्त करानेवाला है ११ सि० और * जीव का १२ राग-द्वेष आदि से युक्त मलिन मन १३ ही १४ वैरी सि० है * अर्थात् नरक आदि को प्राप्त करानेवाला है १५ ।

तात्पर्य—बंध और मोक्ष का कारण मनुष्यों का मन ही है। विषयों में आसक्त होना बंध का हेतु, और स्वरूप-निष्ठ होना मोक्ष का हेतु है। कहा भी है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज । क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥" अष्टावक्रजी ने कहा है कि हे तात ! तू जो मुक्ति की इच्छा करता है, तो विषयों को विषवत् त्याग, और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य, इनका अनुष्ठान कर, यही इस मंत्र का तात्पर्य है। दो एवकार शब्दों से यह तात्पर्य है कि जो मैं कहता हूँ, उसको धारण करना योग्य है कहानीवत् सुनने से प्रयोजन सिद्ध न होगा ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

अन्वय—तस्य १ एव २ आत्मनः ३ आत्मा ४ बन्धुः ५ येन ६ आत्मना ७ आत्मा ८ जितः ६ अनात्मनः १० तु ११ आत्मा १२ एव १३ शत्रुवत् १४ शत्रुत्वे १५ वर्तेत १६ ।

अर्थ—पिछले अर्थ को इस मंत्र में स्पष्ट करते हैं । उस ही जीव का १ । २ । ३ मन ४ बंधु ५ सि० है * जिस जीव ने ६ । ७ शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण को ८ वश में किया है ६ और जिसने अन्तःकरण आदि को वश नहीं किया उसका १० । ११ मन १२ ही १३ वैरीवत् १४ वैरभाव में १५ वर्तता है १६ ।

तात्पर्य—विषयासक्त मन मोक्ष में प्रतिबंधक है, इस हेतु उसको वैरी कहा है । और राग-द्वेष आदि से रहित मन मोक्ष में सहायक है, इस हेतु उसको बंधु कहा है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

अन्वय—जितात्मनः १ प्रशान्तस्य २ परमात्मा ३ समाहितः ४ शीतोष्णसुखदुःखेषु ५ तथा ६ मानापमानयोः ७ ।

अर्थ—अन्तःकरण आदि के वश करने का फल कहते हैं । जीते हैं अन्तःकरण आदि जिसने १ सि० इसी हेतु जो * भले प्रकार शान्त है अर्थात् जो विक्षेपरहित है उसको २ परमात्मा अर्थात् शुद्ध सच्चिदानंद पूर्णब्रह्म ३ साक्षात् अपरोक्ष आत्मभाव करके वर्तता है अर्थात् आत्मा सच्चिदानंद, अखंड, नित्यमुक्त, परमात्मा का साक्षात्, अपरोक्ष अनुभव करता है ४ सि० और कोई उसको प्रतिबन्ध (बाधा या विक्षेप) नहीं कर सकता । यह आधे श्लोक में अब कहते हैं * शीत, गरमी, सुख और दुःख में ५ सि० और * में से ही ६ मान और अपमान में ७ सि० आत्मा अखंड अपरोक्ष रहता है *

तात्पर्य—पाँचवीं और छठी जो ज्ञान की भूमिकाएँ हैं उनमें वर्तता है,

अर्थात् सदा जीवन्मुक्ति का आनंद भोगता है। इसी हेतु उस आनंद के सामने मान अपमान आदि भी नहीं प्रतीत होते। और कभी रजोगुण के आविर्भाव से, बहिर्मुख वृत्ति होने पर अपमान आदि भी प्रतीत हों, तो भी उनको गुणों का कार्य समझकर, और अपने को असंग जानकर, विक्षेप को नहीं प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

अन्वय—युक्तः १ योगी २ इति ३ उच्यते ४ ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा ५ कूटस्थः ६ विजितेन्द्रियः ७ समलोष्टाश्मकाञ्चनः ८।

अर्थ—जिस योगारूढ़ को अखंडात्मा अपरोक्ष है, उसका लक्षण यह है * योगारूढ़ १ योगी २ ऐसा ३ कहा जाता है ४ सि० उसका लक्षण यह है * ज्ञान-विज्ञान करके तृप्त है अन्तःकरण जिसका ५ निर्विकार अर्थात् राग-द्वेष आदि विकारों से रहित ६ भले प्रकार जीती हैं इन्द्रियाँ जिसने ७ समान है लोहा, पाषाण और सोना जिसको ८ सि० उसको योगारूढ़ योगी कहते हैं *

तात्पर्य—महावाक्य श्रवण करके यह जानना कि मैं ब्रह्म हूँ, क्योंकि वेदवाक्य में विश्वास (श्रद्धा) करना अवश्य योग्य है। वेदों के कहने से यह जानना कि मैं सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म हूँ, इसको ज्ञान कहते हैं, अर्थात् यह परोक्षज्ञान है। और युक्ति समन्वय आदि करके साक्षात् करामलकवत् अनुभव करना, इसको विज्ञान कहते हैं, अर्थात् यह अपरोक्ष-ज्ञान है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

अन्वय—सुहृद् १ मित्र २ अरि ३ उदासीन ४ मध्यस्थ ५ द्वेष्य ६ बन्धुषु ७ सि० यहाँ तक एक पद है * साधुषु ८ च ९ पापेषु १० अपि ११ समबुद्धिः १२ विशिष्यते १३।

अर्थ—सातवें अंक तक एक पद है। पापी साधु आदि जनों में समान बुद्धि है जिसकी, सो पूर्वोक्त से भी विशेष है यह कहते हैं। निष्प्रयोजन जो दूसरे का भला चाहे और करे,

और जो ममता और स्नेह करके वर्जित हो, उसको सुहृद् कहते हैं १ ममता और स्नेह के वश होकर जो भला करे, उसको मित्र कहते हैं २ जो अपना सदा अनिष्ट चिन्तन करता है, और प्रत्यक्ष भी अनिष्ट करता है, उसको अपना शत्रु समझना ३ किसी का न बुरा चाहना न भला चाहना, इसको उदासीन कहते हैं ४ दो के झगड़े में यथार्थ ज्यों का त्यों कहनेवाला मध्यस्थ है ५ आत्मा का अप्रिय अर्थात् आपसे जो प्यार न करे ६ इसमें और शत्रु में कुछ भेद नहीं प्रतीत होता। भेद केवल इतना है कि एक शत्रु ऐसा होता है, जो प्रत्यक्ष मिला रहता है और पीछे बुराई करता है, और दूसरा प्रत्यक्ष बुराई करता है। संबंधी इन सबमें ७ और साधुजनों में ८। ६ सि० और * पापी पुरुषों में भी १०। ११ समबुद्धिवाला १२ विशेष है १३।

तात्पर्य—शत्रु मित्र आदि में जो न राग करता है, न द्वेष करता है, वह पूर्वोक्त योगी से भी विशेष है ॥ ६ ॥

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

अन्वय—योगी १ सततम् २ आत्मानम् ३ युंजीत ४ रहसि ५ स्थितः ६ एकाकी ७ यतचित्तात्मा ८ निराशीः ९ अपरिग्रहः १०।

अर्थ—योगारूढ का लक्षण कहा, अब योग को अंगों के सहित कहते हैं। योगारूढ १ निरन्तर २ अन्तःकरण को ३ समाधान करे ४ एकान्त में ५ बैठकर ६ अकेला ७ जीता है अन्तःकरण और शरीर जिसने ८ आशारहित ९ परिग्रहरहित १० सि० ऐसा होवे *

तात्पर्य—योगारूढ बहिरंग साधनों में, अर्थात् तीर्थयात्रा आदि में मुख्यता से प्रवृत्त न हो। निरंतर दिन-रात्रि अन्तःकरण का निरोध करे, क्षण-मात्र भी बहिर्मुख-वृत्ति न होने पावे। जिस जगह सिंह, सर्प और चोर आदि का अधिक भय न हो, स्त्री-बालक तथा प्राकृत-जनों का समुदाय न हो, शुद्ध-चित्त के प्रसन्न करनेवाले स्थल में, अर्थात् उत्तराखंड, भागीरथी, नर्मदाजी

के तीर आदि स्थलों में, चिरकाल निवास करे। एकांत में भी अकेला ही रहे, दो-चार मनुष्यों के साथ इकट्ठे होकर न रहे। एकान्त जगह भी हो, और अकेला भी हो, तो वहां रहकर शिष्य-सेवकों को उपदेश करना इत्यादि क्रिया, अथवा मंदिर या कुटी के पास फुलवारी लगाना इत्यादि क्रिया न करे, जिससे वृत्ति बहिर्मुख हो। एकांत में, अकेला जब निवास करे, तब किसी से यह आशा न रक्खे कि हमको कोई इसी जगह बैठे हुए भिक्षा दे जाया करे। और बन्धान्न भी न बांधे, बन्धान्न की आशा भी न रक्खे, अर्थात् भिक्षान्न भोजन करना योग्य है। एकान्त में अकेला जो मन के समाधान करने को बैठे, तो भोजन वस्त्र आदि शरीर-यात्रा के सिवाय संचय न करे। ऊपर कहे अनुसार जब चलेगा, तब अभ्यास हो सकता है। निरंतर, एकान्त, अकेला, जितेन्द्रिय, आशारहित, परिग्रहरहित ये सब अन्तःकरण समाधान करने के उपाय हैं। गृहस्थाश्रम के छोड़े बिना और विरक्त हुए बिना, इन सब अंगों का अनुष्ठान भले प्रकार नहीं हो सकता। जो सब न हो सके, तो जितना हो सके उतना अवश्य करना योग्य है। अभ्यास के बिना बहिरंग-साधन निष्फल हैं। ईश्वराराधन आदि कर्मों का फल यही है कि अंतःकरण शान्त हो ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

अन्वय—शुचौ १ देशे २ आत्मनः ३ आसनम् ४ स्थिरम् ५ प्रतिष्ठाप्य ६ न ७ अति ८ उच्छ्रितम् ९ न १० अति ११ नीचम् १२ चेलाजिनकुशोत्तरम् १३।

अर्थ—आसन की विधि दो श्लोकों में कहते हैं। आसन योग का बहिरंग साधन है, और अंतरंग अभ्यास का सहायक है। पवित्र भूमि में १।२ अपना ३ आसन ४ अचल ५ बिछाकर ६ सि० अभ्यास करे। कैसा हो वह आसन कि * न ७ बहुत ८ ऊंचा ९ न १० बहुत ११ नीचा १२ सि० हो। फिर कैसा, इस अपेक्षा में कहते हैं कि * कुश, मृगचर्म और वस्त्र ये ऊपर हों भूमि के अर्थात् पृथिवी के ऊपर प्रथम कुशा का आसन, उसके ऊपर मृगचर्म आदि, उसके ऊपर सूती वस्त्र १३ सि० बिछावे *

तात्पर्य—कोई भूमि तो स्वभाव से ही पवित्र होती है । जैसे श्रीगंगाजी की रेती, "वसुधा सर्वत्र शुद्धा न लेपा यत्र विस्मृता ।" पृथिवी सब जगह पवित्र है, परन्तु जहाँ लीपी गई हो, तो उसको फिर लीप लेना योग्य है, अथवा उत्तराखंड आदि को पवित्र देश समझना योग्य है । दूसरे के आसन पर बैठना शास्त्र में निषिद्ध है, इस वास्ते अपना आसन कहा । स्थिर शब्द से यह तात्पर्य है कि यह काम दो-चार घड़ी का, वा चार महीने का नहीं, बरसों का यह काम है, अर्थात् जब तक जीवे तब तक यही अभ्यास करता रहे । यह अभ्यास अज्ञानी को ज्ञान का प्राप्त करानेवाला और ज्ञानी को जीवन्मुक्ति देनेवाला है । इसके सिवाय और क्या काम श्रेष्ठतर है कि इसको छोड़कर दूसरा काम करे । रुई भरे बिछौने पर, वा वस्त्र बिछाकर, उसपर न बैठना चाहिए । चौकी, छत की मुंडेरी पर भी बैठकर योगाभ्यास न करना चाहिए। बिना आसन पृथिवी पर बैठकर, वा गद्दे में बैठकर, यह योगाभ्यास नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

अन्वय—यतचित्तेन्द्रियक्रियः १ तत्र २ आसने ३ उपविश्य ४ मनः ५ एकाग्रम् ६ कृत्वा ७ आत्मविशुद्धये ८ योगम् ९ युञ्ज्यात् १० ।

अर्थ—जीती है चित्त की और इन्द्रियों की क्रिया जिसने १ सि० सो योगी * उस आसन पर २ । ३ बैठकर ४ मन को ५ एकाग्र करके ६ । ७ अंतःकरण की शुद्धि के लिये ८ सि० इस * योग का अभ्यास करे ९ । १० ।

तात्पर्य—आगे पीछे की बातों को याद करना, यह चित्त की क्रिया है; देखना, श्रवण करना इत्यादि इन्द्रियों की क्रियाएँ हैं । इन क्रियाओं को जीतकर, मन को सब विषयों से हटाकर आत्मा के सम्मुख करके, पिछले मंत्र में जिस प्रकार का आसन कहा है उसपर बैठकर अभ्यास करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

अन्वय—कायशिरोग्रीवम् १ समम् २ अचलम् ३ धारयन् ४

स्थिरः ५ स्वम् ६ नासिकाग्रम् ७ संप्रेक्ष्य ८ दिशः ९ च १० अनवलोकयन् ११ ।

अर्थ—चित्त के एकाग्र करने में देह की धारणा भी बहिरंग साधन में उपयोगी है, उसको भी दो मंत्रों में कहते हैं। देह का मध्यभाग, शिर और ग्रीवा, इनको १ सम २ अचल ३ धारण करता हुआ ४ दृढ़ प्रयत्नवान् होकर ५ अपनी ६ नासिका के अग्रभाग को ७ देखकर ८ सि० पूर्व आदि * दिशाओं को ९ भी १० नहीं देखता हुआ ११ सि० आत्मपरायण होकर बैठे *

तात्पर्य—मूलाधार से लेकर मूर्द्धा तक सीधा निश्चल बैठे। दुःख समझकर प्रयत्न में असावधानी न करे। सावधान होकर, धीरज के सहित दृढ़ होकर बैठे। जो शरीरपात हो जाय, तो हो जाय, परन्तु मन के शान्त हुए विना वहाँ से न हटे। नासाग्रदृष्टि से यह तात्पर्य नहीं है कि नासिका के अग्रभाग को देखता रहे, किन्तु यह तात्पर्य है कि ऐसे बैठे जैसे नासाग्रदृष्टि होकर बैठते हैं। दृष्टि और वृत्ति आत्मा में लगाना योग्य है। नेत्रों को न बहुत खोलना चाहिए और न बहुत मीचना ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

अन्वय—प्रशान्तात्मा १ विगतभीः २ ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ३ मनः ४ संयम्य ५ मच्चित्तः ६ युक्तः ७ मत्परः ८ आसीत ९ ।

अर्थ—भले प्रकार शान्त हुआ है अन्तःकरण जिसका १ दूर हो गया है भय जिसका २ ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित ३ मन को ४ रोककर ५ मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप में चित्त है जिसका ६ सि० सो * समाहित हुआ ७ मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप ही हूं यही परमपुरुषार्थ है जिसका ८ सि० ऐसा समझकर * बैठे ९ ।

तात्पर्य—अष्टांग मैथुन से वर्जित, ज्ञान का उपदेश करनेवाले गुरु की टहल में तत्पर, भिक्षान्न का ही सदा भोजन करनेवाला, अन्तःकरण की वृत्तियों का उपसंहार करके, समाधान, अप्रमत्त और अनालस्य होकर, परब्रह्म की प्राप्ति को ही परमपुरुषार्थ समझकर, पूर्वोक्त आसन पर बैठकर, अभ्यास करे ॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

अन्वय—योगी १ सदा २ एवम् ३ आत्मानम् ४ युंजन् ५ नियतमानसः ६ शान्तिम् ७ अधिगच्छति ८ निर्वाणपरमाम् ९ मत्संस्थाम् १० ।

अर्थ—इस प्रकार अभ्यास करने से जो होता है सो सुनो। हे अर्जुन ! योगी विरक्त १ सदा २ इस प्रकार ३ शरीर इन्द्रिय प्राण अंतःकरण को ४ समाधान करता हुआ ५ निरुद्ध हुआ है मन जिसका ६ सि० सो * शान्ति को ७ प्राप्त होता है ८ सि० कैसी है वह शान्ति * मोक्ष में निष्ठा है जिसकी अर्थात् मोक्ष में तात्पर्य है जिसका ९ सि० और वह शान्ति * सच्चिदानन्द-रूप है १० सि० उसको प्राप्त होना * परमगति को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अन्वय—अर्जुन १ अति २ अश्नतः ३ तु ४ योगः ५ न ६ अस्ति ७ एकान्तम् ८ अनश्नतः ९ च १० न ११ अति १२ स्वप्नशीलस्य १३ च १४ न १५ जाग्रतः १६ च १७ न १८ एव १९ ।

अर्थ—अब दो मंत्रों में ध्यान-निष्ठ योगी के आहार आदि नियम कहते हैं। यह भी बहिरंग साधन उपयोगी है। हे अर्जुन ! १ बहुत २ भोजन करनेवाले को ३ भी ४ योग ५ नहीं ६ होता अर्थात् योग सिद्ध नहीं होता ७ अत्यन्त ८ नहीं खानेवाले को ९ भी १० नहीं ११ बहुत १२ सोनेवाले को १३ भी १४ नहीं १५ जागनेवाले को १६ भी १७ नहीं १८ सि० योग सिद्ध होता * निश्चय से १९ सि० यही बात है * ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

अन्वय—कर्मसु १ युक्तचेष्टस्य २ युक्ताहारविहारस्य ३ युक्तस्वप्नावबोधस्य ४ दुःखहा ५ योगः ६ भवति ७ ।

अर्थ—ऐसे पुरुष को योग सिद्ध होता है । कर्मों में १ प्रमित अर्थात् मापी हुई है क्रिया जिसकी २ युक्त खाना और चलना है जिसका ३ युक्त सोना और जागना है जिसका ४ सिं० उसको * दुःखों का नाश करनेवाला ५ योग ६ सि० सिद्ध * होता है ७ ।

तात्पर्य—चार भागों में से दो भाग तो अन्न से पूर्ण करे । एक भाग जल से पूर्ण करे । और एक भाग पवन आने-जाने के लिये खाली रक्खे । तात्पर्य यह कि एक बार और कुछ क्षुधा रखकर भोजन करना चाहिए—"द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥" शौच-स्नान और भिक्षा के सिवाय वृथा डोलना या फिरना न चाहिए । क्रिया का प्रमाण बांधना योग्य है, अर्थात् इतनी दूर जंगल जाना, इतने समय स्नान करना, अमुक समय, उसमें भी इतनी देर तक भोजन करना, ये सब विधि मानवादि धर्म-शास्त्र में से श्रवण करना योग्य है । रात्रि के समय डेढ़ पहर सोना, उसके सिवाय सदा जागना योग्य है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

अन्वय—यदा १ विनियतम् २ चित्तम् ३ आत्मनि ४ एव ५ अवतिष्ठते ६ सर्वकामेभ्यः ७ निःस्पृहः ८ तदा ९ युक्तः १० उच्यते ११ इति १२ ।

अर्थ—किस काल में योग सिद्ध होता है, इस अपेक्षा में कहते हैं । जिस काल में १ भले प्रकार निरुद्ध हुआ अर्थात् जीता हुआ २ चित्त ३ आत्मा में ४ ही ५ ठहरता है ६ सब कामों से ७ दूर हो गई है तृष्णा जिसकी ८ सि० सो * उस काल में ९ सिद्ध योगी १० कहलाता है ११ यह १२ सि० जानना योग्य है *

तात्पर्य—जिस काल में इस लोक की वा परलोक की सब कामनाएँ दूर हो जावें, और चित्त भले प्रकार एकाग्र होकर आत्मा में स्थित हो जावे,

वह महात्मा उस काल में सिद्ध योगी कहा जाता है । जब ऐसा हो जाय, जैसा कि इस मंत्र में कहा है, तब समझना चाहिए कि अब मुझको योग सिद्ध हुआ ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

अन्वय—यथा १ दीपः २ निवातस्थः ३ न ४ इंगते ५ सा ६ उपमा ७ स्मृता ८ योगिनः ९ यतचित्तस्य १० आत्मनः ११ योगम् १२ युंजतः १३ ।

अर्थ—एकाग्रचित्त की उपमा यह है । जैसे १ दीपक २ पवन-रहित स्थान में जलता हुआ ३ नहीं ४ हिलता ५ सो ६ उपमा ७ कहलाती है ८ योगी के ९ जीते हुए चित्त की १० अर्थात् जिस योगी का अन्तःकरण भले प्रकार निरुद्ध है, उस अन्तःकरण की यह उपमा है कि जैसे पवनरहित स्थान में जलता हुआ दीपक नहीं हिलता, वैसे ही उस योगी का चित्त स्थिर रहता है । सि० फिर कैसा है वह योगी कि जिसका चित्त स्थिर रहता है । सो कहते हैं * आत्मा की ११ सि० प्राप्ति के लिये * आत्म-ध्यान योग का १२ अनुष्ठान करनेवाले का १३ सि० चित्त स्थिर रहता है * ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

अन्वय—यत्र १ योगसेवया २ निरुद्धम् ३ चित्तम् ४ उप-रमते ५ यत्र ६ च ७ आत्मना ८ आत्मानम् ९ एव १० पश्यन् ११ आत्मनि १२ तुष्यति १३ ।

अर्थ—जिस काल में १ समाधियोग का अनुष्ठान करके २ निरुद्ध हुआ ३ चित्त ४ सि० संसार से * उपराम होता है ५ और जिस काल में ६ । ७ सि० समाधि करके शुद्ध किया हुआ जो अन्तःकरण, उस * अन्तःकरण करके ८ परम चैतन्य ज्योतिः-स्वरूप आत्मा को ९ ही १० देखता हुआ अर्थात् आत्मा को प्राप्त

हुआ ११ सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा में १२ सन्तुष्ट होता है १३ उस काल में योग की सिद्धि होती है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

अन्वय—यत् १ आत्यन्तिकम् २ सुखम् ३ अतीन्द्रियम् ४ बुद्धिग्राह्यम् ५ यत्र ६ च ७ अयम् ८ स्थितः ९ तत् १० वेत्ति ११ तत्त्वतः १२ एव १३ न १४ चलति १५ ।

अर्थ—जो १ अत्यन्त २ सुख ३ इंद्रियों का विषय नहीं ४ अपने अनुभव करके ग्रहण होता है ५ और जिस काल में ६ । ७ यह ८ सि० विद्वान् आत्म-स्वरूप में * स्थित हुआ ९ उसका अर्थात् उस सुख का १० अनुभव करता है ११ सि० आत्म * तत्त्व से १२ भी १३ नहीं १४ चलता १५ सि० उस काल में योग की सिद्धि होती है * ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

अन्वय—यम् १ लब्ध्वा २ अपरम् ३ अधिकम् ४ लाभम् ५ न ६ मन्यते ७ ततः ८ यस्मिन् ९ च १० स्थितः ११ गुरुणा १२ दुःखेन १३ अपि १४ न १५ विचाल्यते १६ ।

अर्थ—जिसको अर्थात् आत्मा को १ प्राप्त होकर २ दूसरा ३ अधिक ४ लाभ ५ नहीं ६ मानता है ७ उससे अर्थात् आत्मा के लाभ से ८ और जिसमें अर्थात् आत्मा में ९ । १० स्थित हुआ ११ बड़े १२ दुःख करके १३ भी १४ नहीं १५ विचलता है १६ ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

अन्वय—तम् १ योगसंज्ञितम् २ विद्यात् ३ दुःखसंयोगवियोगम् ४ सः ५ योगः ६ अनिर्विण्णचेतसा ७ निश्चयेन ८ योक्तव्यः ९ ।

अर्थ—सि० पिछले तीन मन्त्रों में जो आत्मा की अवस्था

विशेष कही है * उसको योगसंज्ञित तू जान अर्थात् योग है संज्ञा जिसकी याने जिस अवस्था विशेष का योग नाम है, उसी को तू योग जान १। २। ३ सि० कैसा है वह योग * दुःख के संयोग का वियोग है जिसमें अर्थात् दुःख और विषय संबंधी सुख जहां कोई नहीं है, केवल निरतिशय आनंद है। विषय संबंधी सुख भी विद्वान् की दृष्टि में दुःखों का मूल है, क्योंकि अतिशय सुख दुःख-रूप है। इस जगह योग शब्द का विपरीत लक्षण समझना, क्योंकि इस जगह वियोग का नाम जो योगसंज्ञित है, यह विपरीत अलंकार कहलाता है। जैसे सुन्दर को बेसुन्दर कहना ४ वह ५ योग ६ अनिर्विण्ण चित्त से ७ सि० शास्त्र और आचार्यों से * निश्चय करके ८ अनुष्ठान करना योग्य है ९।

तात्पर्य—आत्मा में तत्पर होना योग्य है। दुःख-बुद्धि से प्रयत्न की जो शिथिलता है उसको छोड़कर अर्थात् चित्त में यह चिंतन करना चाहिए कि इसमें तो दुःख प्रतीत होता है। पीछे का आनंदफल किसने देखा है, ऐसा समझकर चित्त को कच्चा न करे। धैर्य से बार-बार उत्साहित करे ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

अन्वय—संकल्पप्रभवान् १ कामान् २ सर्वान् ३ अशेषतः ४ त्यक्त्वा ५ मनसा ६ एव ७ समंततः ८ इन्द्रियग्रामम् ९ विनियम्य १० ॥२४॥ शनैः १ शनैः २ उपरमेत् ३ धृतिगृहीतया ४ बुद्ध्या ५ मनः ६ आत्मसंस्थम् ७ कृत्वा ८ किंचित् ९ अपि १० न ११ चिन्तयेत् १२ ॥ २५ ॥

अर्थ—संकल्प से उत्पन्न होती हैं १ सि० योग की वैरी जो * कामनाएँ २ सि० उन * सबको ३ समूल ४ त्याग कर ५ सि० विवेकयुक्त * मन करके ६ निश्चय से ७ सब तरफ से ८ इन्द्रियों के समूह को ९ रोककर १० ॥ २४ ॥ धीरे धीरे अर्थात्

अभ्यासक्रम से १। २ सि० संसार से * उपराम हो अर्थात् देखना, सुनना, बोलना, खाना, सोना इत्यादि क्रियाओं से मन को शनैः शनैः हटाकर आत्मा में क्रमशः विशेषता से लगाना योग्य है ३ धीरज के सहित ४ बुद्धि से अर्थात् धीरज से वश की हुई जो बुद्धि, उससे ५ मन को ६ आत्मा में भले प्रकार स्थित ७ करके अर्थात् यह सब आत्मा ही है, आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं, इस प्रकार मन को आत्माकार करके ८ कुछ ९ भी १० न ११ चिंतन करे १२।

तात्पर्य—यही योग की परमावधि है। चित्त से किंचिन्मात्र भी चिंतन किया, और उससे मन में कामना उत्पन्न हुई, तो वह विषयों का चिंतन करना ही अनर्थ का हेतु है। 'सर्वान्' और 'अशेषतः' इन दोनों पदों के अर्थ में कुछ भेद नहीं प्रतीत होता। दो पद कहने से श्रीमहाराज का यह तात्पर्य है कि इस लोक वा परलोक की कामना का गंधमात्र भी न रहने पावे। कामना से अंतःकरण का निर्लेप कर देना योग्य है। शब्द आदि विषयों से सब इन्द्रियों का निरोध करके पूर्वोक्त योग का अनुष्ठान करना चाहिए॥ २५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

अन्वय—अस्थिरम् १ चंचलम् २ मनः ३ यतः ४ यतः ५ निश्चरति ६ ततः ७ ततः ८ नियम्य ९ एतत् १० आत्मनि ११ एव १२ वशम् १३ नयेत् १४।

अर्थ—जो कदाचित् रजोगुण के वश होने के कारण विचार से भी आत्मा में मन न ठहरे, तो फिर प्रत्याहार करके ठहराना योग्य है। सोई कहते हैं। अस्थिर १ चंचल २ मन ३ जिस जिस ४। ५ सि० विषय में * जावे ६ वहां वहां से ७। ८ रोककर ९ इसको अर्थात् मन को १० आत्मा में ११ ही १२ वश १३ करे अर्थात् आत्मा में ही स्थिर करे १४।

तात्पर्य—मन का यह स्वभाव ही है कि एक जगह नहीं ठहरता, सदा का चंचल है। इस प्रकार अभ्यास करने से यह अस्थिर मन आत्मा में स्थिर हो जाता है। इसवास्ते मन पर सदा दृष्टि रखना चाहिए॥ २६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

अन्वय—एनम् १ योगिनम् २ हि ३ उत्तमम् ४ सुखम् ५ उपैति ६ शान्तरजसम् ७ प्रशान्तमनसम् ८ ब्रह्मभूतम् ९ अकल्मषम् १०।

अर्थ—इस प्रकार अभ्यास करने से रजोगुण का नाश होता है। रजोगुण का नाश होने से योग का फल आत्मसुख प्राप्त होता है। यह कहते हैं। इस योगी को १। २ ही ३ उत्तम ४ सुख ५ प्राप्त होता है ६ सि० कैसा है यह योगी ※ शान्त हो गया है रजोगुण जिसका ७ भले प्रकार शान्त हो गया है मन जिसका ८ जीवन्मुक्त ९ निष्पाप १० अर्थात् धर्म अधर्म से वर्जित ऐसे योगी को निरतिशय सुख प्राप्त होता है॥ २७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

अन्वय—एवम् १ योगी २ सदा ३ आत्मानम् ४ युञ्जन् ५ अत्यन्तम् ६ सुखम् ७ अश्नुते ८ विगतकल्मषः ९ सुखेन १० ब्रह्मसंस्पर्शम् ११।

अर्थ—इस प्रकार १ योगी २ सदा ३ मन को ४ वश करता हुआ ५ अत्यन्त ६ सुख को अर्थात् निरतिशय सुख को ७ प्राप्त होता है ८ सि० कैसा है वह योगी? ※ दूर हो गए हैं पाप जिसके ९ सि० फिर वह किस प्रकार के सुख को प्राप्त होता है; अर्थात् कैसा है वह सुख ※ अनायास करके १० ब्रह्म का स्पर्श है जिसमें अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता को प्राप्त होता है, जिसको अखंडानन्द साक्षात्कार कहते हैं। जीवन्मुक्त हो जाता है याने जीते हुए ही उस नित्य अखंडानन्द का अनुभव करता है ११॥ २८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

अन्वय—योगयुक्तात्मा १ सर्वत्र २ समदर्शनः ३ आत्मानम् ४

सर्वभूतस्थम् ५ सर्वभूतानि ६ च ७ आत्मनि ८ ईक्षते ९ ।

अर्थ—अब इस योग का फल जीव और ब्रह्म की एकता को दिखाते हैं। योग से युक्त है अन्तःकरण जिसका अर्थात् समाहित अन्तःकरणवाला १ सब जगह २ सम देखनेवाला ३ सि० अपने * आत्मा को ४ सब भूतों में स्थित ५ और सब भूतों को ६ । ७ सि० अपने * आत्मा में ८ देखता है ९ ।

तात्पर्य—ब्रह्माजी से लेकर चींटी पर्यंत आत्मा की एकता है । सम विषम भूतों में ब्रह्माजी से लेकर स्थावर पर्यंत निर्विशेप ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान है जिसको, वह सर्वत्र सम देखनेवाला है ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

अन्वय—यः १ माम् २ सर्वत्र ३ पश्यति ४ सर्वम् ५ च ६ मयि ७ पश्यति ८ तस्य ९ अहम् १० न ११ प्रणश्यामि १२ सः १३ च १४ मे १५ न १६ प्रणश्यति १७ ।

अर्थ—जीव और ब्रह्म की एकता का फल कहते हैं । यही परमेश्वर की मुख्य उपासना है। जो १ मुझ सच्चिदानंद परमेश्वर को २ सर्वत्र ३ देखता है ४ और सबको ५ । ६ मुझमें ७ देखता है अर्थात् मुझ आत्मा को सब भूतों में, और सब भूतों को, मुझ, सब भूतों के आत्मा में जो देखता है ८ उसको ९ मैं १० नहीं ११ परोक्ष हूं अर्थात् जो ऐसा समझता है, उसी को मैं साक्षात् हूं, वही मेरा दर्शन करता है । आत्मा से पृथक् मैं नहीं १२ और वह १३ अर्थात् विद्वान् १४ मुझको १५ नहीं १६ परोक्ष है १७ ।

तात्पर्य—वह मेरा आत्मा है । मुझको सदा अपरोक्ष है । इसीहेतु ब्रह्म का जाननेवाला ब्रह्म कहलाता है। मुझमें और ज्ञानी में किंचित् भी भेद नहीं ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ ३१ ॥

अन्वय—एकत्वम् १ आस्थितः २ यः ३ माम् ४ शर्वभूत-

स्थितम् ५ भजति ६ सः ७ योगी ८ सर्वथा ९ वर्तमानः १० अपि ११ मयि १२ वर्तते १३ ।

अर्थ—पूर्व मंत्रोक्त ज्ञानी विधि निषेध का दास नहीं, अर्थात् परतंत्र नहीं, स्वतंत्र है, यह कहते हैं । सि० ब्रह्म के साथ * एकता को १ प्राप्त हुआ अर्थात् सच्चिदानन्द-स्वरूप अपने आत्मा को पूर्णब्रह्म जानता हुआ २ जो ३ मुझ सच्चिदानन्द सब भूतों में स्थित को ४ । ५ भजता है अर्थात् यह सब भूतों में स्थित वासुदेव है, ऐसा जो समझता है ६ वह ७ योगी अर्थात् ज्ञानी ८ सर्वथा ९ वर्तमान १० भी ११ मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप में १२ वर्तता है १३ ।

तात्पर्य—विधि-निषेध को उल्लंघनकर भी जो विद्वान् का व्यवहार किसी को प्रतीत होता हो, तो भी विद्वान् वेदों के साक्षी से ब्रह्म में ही विहार करता है । विधि-निषेध अज्ञानियों के वास्ते है । विद्वानों का व्यवहार विदेह-मुक्ति में क्षति करनेवाला नहीं । यह बात आनन्दामृतवर्षिणी के तृतीय अध्याय में भले प्रकार स्पष्ट की गई है, वहां देखना चाहिए ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अन्वय—अर्जुन १ यः २ आत्मौपम्येन ३ सर्वत्र ४ समम् ५ पश्यति ६ सुखम् ७ वा ८ यदि ९ वा १० दुःखम् ११ सः १२ योगी १३ परमः १४ मतः १५ ।

अर्थ—ज्ञानियों में ऐसा ज्ञानी श्रेष्ठ है । हे अर्जुन ! १ जो अर्थात् विद्वान् २ आत्मा की उपमा करके ३ सर्वत्र ४ सम ५ देखता है ६ सुख को ७ भी ८ और ९ दुःख को भी १० । ११ वह १२ विद्वान् १३ श्रेष्ठ १४ माना जाता है १५ सि० महात्मा पुरुष ऐसे विद्वान् को उत्तम मानते हैं * ।

तात्पर्य—जैसे इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में मुझको सुख दुःख होता है, ऐसे ही सबको होता है । इसवास्ते जहां तक हो सके किसी को शरीर से, मन से, वा वाणी से दुःख नहीं देना चाहिए, सुख देना योग्य है । अपने को तो शूकर, कूकर भी सुख चाहते हुए प्रयत्न करते हैं, दूसरे को सुख देना, परोपकार करना, ये सज्जनों के काम हैं । नहीं तो पशु-पक्षी

और मनुष्य में क्या भेद है ? अथवा ऐसे ही सब जीव हैं । दूसरे को अपने से नीच समझना नीचों का काम है । आत्म-दृष्टि से और देह-दृष्टि से भी सम देखना चाहिए; क्योंकि देह सबके अनित्य हैं, और आत्मा सबका नित्य है । यह विचार परमार्थ का है, व्यवहार में परमार्थ नहीं मिल सकता ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—मधुसूदन १ अयम् २ यः ३ योगः ४ साम्येन ५ त्वया ६ प्रोक्तः ७ एतस्य ८ स्थिराम् ९ स्थितिम् १० अहम् ११ न १२ पश्यामि १३ चंचलत्वात् १४ ।

अर्थ—श्रीभगवान् का यह उपदेश सुनकर, अर्जुन ने विचार किया कि श्रीमहाराज जो कहते हैं वह तो सब सत्य है, परन्तु मन, लय-विक्षेप-रहित होकर, आत्माकार होकर, दीर्घकाल तक स्थित रहे, यह मेरी कम समझ से मुझको असंभव प्रतीत होता है । इसीहेतु श्रीमहाराज के कहे हुए लक्षणों में असंभव दोष मानता हुआ अर्जुन जिज्ञासा करके दो श्लोकों में प्रश्न करता है । हे कृष्णचन्द्र ! १ यह २ जो ३ योग ४ समता करके ५ आपने ६ कहा ७ इसकी ८ दीर्घकाल ९ स्थिति १० मैं ११ नहीं १२ देखता हूं अर्थात् क्षण-दो-क्षण या घड़ी-दो-घड़ी मन लय-विक्षेप-रहित होकर समता को प्राप्त हो जायगा, यह तो संभव है, परन्तु सदा, अथवा दिन-रात्रि में पांच-चार पहर मन सम याने आत्माकार रहे, यह मेरी कम समझ से मुझको असंभव मालूम होता है १३ कि० क्योंकि मन * चंचल होने से अर्थात् मन तो चंचल है वह कैसे ठहर सकता है १४ ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—कृष्ण १ मनः २ चंचलम् ३ हि ४ प्रमाथि ५ बलवत् ६ दृढं ७ तस्य ८ निग्रहम् ९ वायोः १० इव ११ सुदुष्करम् १२ अहम् १३ मन्ये १४ ।

अर्थ—चंचल होने के सिवाय मन में जो और दोष हैं, उनको भी अर्जुन प्रकट करता है। हे भगवन्! १ मन २ चंचल ३ सि० है, यह तो * प्रसिद्ध ही है ४ सि० इसके सिवाय इसमें जो और दोष हैं, उनको सुनिए। प्रथम तो चंचल, दूसरे * प्रमथन स्वभाववाला अर्थात् शरीर और इन्द्रियों को विक्षेप करनेवाला, और परवश करनेवाला है ५ सि० तीसरे यह कि * बलवाला ६ सि० है। विवेकी जनों के वश में भी नहीं रहता * अर्थात् जो भले प्रकार सोचते समझते भी हैं कि इस काम के करने से यह दोष और यह दुःख होगा, तो भी मन के वश होकर उसी काम में प्रवृत्त होते हैं ६ सि० चौथे, अनादि काल से शब्द आदि विषयों की वासना में ऐसा * दृढ़ ७ सि० बँधा हुआ है कि अनेक कर्म उपासना आदि करने से भी विषयों से पृथक् नहीं होता। परमेश्वर, आपकी कृपा से जो हो जाय वह सब सत्य है, परन्तु मैं तो मन का निरोध पवनवत् अति कठिन समझता हूँ। यह अभिप्राय है। इसी को अक्षरों में योजना करते हैं * उसका अर्थात् मन का ८ निग्रह ९ वायु-वत् १० । ११ अतिकठिन १२ मैं १३ मानता हूँ १४ सि० पवन के रोकने के समान मन को विषयों से रोकना कठिन प्रतीत होता है * ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

अन्वय—महाबाहो १ असंशयम् २ मनः ३ दुर्निग्रहम् ४ चलम् ५ कौन्तेय ६ अभ्यासेन ७ तु ८ वैराग्येण ९ च १० गृह्यते ११ ।

अर्थ—अर्जुन ने जो मन की गति कही, उसका अंगीकार करके, मन का निरोध जिस उपाय से होता है, वह उपाय श्रीभगवान् बताते हैं। हे अर्जुन! १ सि० पीछे दो मंत्रों में जो तूने मन की गति कही, सो सत्य है * नहीं है संशय उसमें २ मन ३ दुर्निग्रह सि० है * अर्थात् मन का रोकना कठिन है ४

सि० और कैसा है यह मन कि * चलता ही रहता है अर्थात् कभी स्थिर नहीं होता ५ सि० परन्तु * हे अर्जुन ! ६ अभ्यास से ७ तो ८ और वैराग्य से ९ । १० वश में हो सकता है ११ ।

तात्पर्य—मन की दो गति हैं, लय और विक्षेप । अभ्यास से लय, और वैराग्य से विक्षेप दूर होता है । विजातीय का तिरस्कार करके, सजातीय का प्रवाह करना, अर्थात् वृत्ति को आत्माकार करना, इसको अभ्यास कहते हैं, और विषयों में दोष-दृष्टि करना, इसको वैराग्य कहते हैं । और भी वैराग्य के लक्षण जहां तहां मोक्ष-शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, किंतु वश करने के मुख्य यही दो उपाय हैं । इनको छोड़कर जो और कोई यत्न करते हैं, वे वृथा मृगतृष्णावत् भ्रमते हैं । यह अभ्यास और वैराग्य तो हो नहीं सकता, वृथा साधु, महात्मा, महापुरुषों से माथा मारते हैं अर्थात् बार-बार यही पूछते हैं कि महाराज मन का निरोध कैसे हो सकता है, कोई रीति बतलाओ । हज़ारों बार सुनते हैं कि मन के निरोध का उपाय वैराग्य है, तो भी माथा मारते ही रहते हैं । कभी क्षण मात्र भी उसका अनुष्ठान नहीं करते । अनुष्ठान करनेवाले को याद रहे कि वैराग्य और अभ्यास में, प्रथम वैराग्य है और पीछे अभ्यास । पाठ-क्रम से अर्थ-क्रम बलवान् होता है ॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अन्वय—असंयतात्मना १ योगः २ दुष्प्राप्य ३ इति ४ मे ५ मतिः ६ वश्यात्मना ७ यतता ८ तु ९ उपायतः १० अवाप्तुम् ११ शक्यः १२ ।

अर्थ—भले प्रकार नहीं जीता है मन जिसने १ सि० उसको * योग[1] २ प्राप्त होना कठिन है ३ यह ४ मेरी ५ समझ सि० है * अर्थात् यह मेरा निश्चय किया हुआ है ६ सि० और * वशवर्ति है मन जिसका अर्थात् मन जिसके वश में है उस ७ यत्न करनेवाले को ८ तो ९ सि० वैराग्य और अभ्यास इन्हीं दोनों * उपायों से १० सि० योग * प्राप्त होने को ११ शक्य है अर्थात् प्राप्त हो सकता है १२ ।

---

१ जीव और ब्रह्म की एकता का नाम योग है ।

तात्पर्य—वैराग्य और अभ्यास करके जो मन को वश कर लेता है, उसको नित्य अखंडानन्द की प्राप्ति होती है। वैराग्य के बिना और अभ्यास के बिना आनन्द-छाया की भी आशा न रक्खे॥ ३६॥

अर्जुन उवाच।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अन्वय—श्रद्धया १ उपेतः २ योगात् ३ चलितमानसः ४ अयतिः ५ योगसंसिद्धिम् ६ अप्राप्य ७ काम् ८ गतिम् ९ गच्छति १० कृष्ण ११।

अर्थ—शास्त्र की विधि को सुन और समझकर, बहिरंग नित्य आदि कर्मों को त्यागकर, श्रद्धापूर्वक जो कोई मुमुक्षु ज्ञान-मार्ग में प्रवृत्त हो, अर्थात् वेदांत-शास्त्र के श्रवण आदि में तत्पर हो, और प्रारब्धवशात् वा किसी प्रतिबन्ध से ज्ञान प्राप्त न हो, और वैराग्य तथा अभ्यास में भी शिथिल हो जाय, और मन विषयों में लग जाय, ऐसे पुरुष की क्या गति होगी? क्योंकि कर्मों को त्याग देने से तो उसको स्वर्ग आदि की प्राप्ति न होगी, और ज्ञान न होने से वह मुक्त न होगा, और श्रद्धापूर्वक ज्ञान-योग में प्रवृत्त होने से उसकी दुर्गति न होना चाहिए; क्योंकि ब्रह्म-विद्या के क्षणमात्र श्रवण करने का अत्यन्त माहात्म्य है। यह संशय करके अर्जुन प्रश्न करता है। सि० ज्ञान-योग में * श्रद्धा से १ युक्त अर्थात् ज्ञान-योग में श्रद्धावान् २ सि० और किसी प्रतिबन्ध से अर्थात् किसी हेतु से * ज्ञान-योग से ३ चलित हो गया है मन जिसका अर्थात् श्रवण आदि से हटकर विषयों में लग गया है मन जिसका ४ नहीं यत्न किया है ५ सि० भले प्रकार वैराग्य और अभ्यास में जिसने * अर्थात् वैराग्य और अभ्यास शिथिल हैं जिसके, वह मुमुक्षु ५ योग की सिद्धि को अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान को ६ नहीं प्राप्त होकर ७ किस ८ गति को ९ प्राप्त होता है? १० हे कृष्णचन्द्र महाराज! ११॥ ३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

अन्वय—उभयविभ्रष्टः १ छिन्नाभ्रम् २ इव ३ कच्चित् ४ नश्यति ५ न ६ महाबाहो ७ ब्रह्मणः ८ पथि ९ विमूढः १० अप्रतिष्ठः ११ ।

अर्थ—सि० कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग से * उभयभ्रष्ट हुआ १ छिन्नाभ्रवत २ अर्थात् बादल के टुकड़े के समान ३ क्या ४ नाश हो जाता है ? ५ सि० या * नहीं ६ हे कृष्ण-चन्द्र ! ७ सि० कैसा है वह अयति * ब्रह्म के ८ मार्ग में अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय वैराग्य और अभ्यास में ९ विमूढ़, शिथिल, मन्द-बुद्धि हुआ १० सि० इसहेतु * निरा-श्रय सि० है * अर्थात् उसको न कर्म-योग का आश्रय रहा, न ज्ञान-योग का ११ ।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अन्वय—कृष्ण १ अशेषतः २ एतत् ३ मे ४ संशयम् ५ छेत्तुम् ६ हि ७ अर्हसि ८ त्वदन्यः ९ अस्य १० संशयस्य ११ छेत्ता १२ न १३ उपपद्यते १४ ।

अर्थ—हे कृष्णचन्द्र ! १ समस्त २ इस ३ मेरे ४ संशय को ५ छेदन करने के लिये ६ सि० आप * ही ७ योग्य हो ८ आप से पृथक् ९ इस १० संशय का ११ दूर करनेवाला अर्थात् नाश करनेवाला या छेदन करनेवाला १२ नहीं १३ प्रतीत होता है १४ सि० कोई मुझको * अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं, इस संशय को आप ही नाश कर सकते हैं ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

१ जैसे बादल का टुकड़ा एक बादल से पृथक् होकर पवन के बल से दूसरे बादल की तरफ़ जाता हुआ बीच में ही नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

अन्वय—पार्थ १ तस्य २ विनाशः ३ न ४ एव ५ इह ६ न ७ अमुत्र ८ विद्यते ९ कल्याणकृत् १० कश्चित् ११ हि १२ दुर्गतिम् १३ न १४ गच्छति १५ तात १६।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ उसका अर्थात् ज्ञाननिष्ठ मुमुक्षु का २ नाश ३ न ४ तो ५ इस लोक में ६ न ७ परलोक में ८ होता है अर्थात् पूर्व-जन्म से नीच-जन्म की प्राप्ति उसको नहीं होती ९ अर्थात् उसकी हानि न इस लोक में होती है और न परलोक में। सि० क्योंकि * शुभ कर्म करनेवाला १० कोई ११ भी १२ दुर्गति को १३ नहीं १४ प्राप्त होता १५ हे तात ! १६ सि० यह तो बहुत उत्तम शुभ कर्म करनेवाला है, क्योंकि श्रद्धापूर्वक ज्ञान-योग में प्रवृत्त होता है। और किसी प्रतिबंध से जो उसको ज्ञान प्राप्त न हो, अथवा मुमुक्षु ही मन्द-प्रयत्न रहे, अर्थात् आत्म-प्राप्ति के लिये भले प्रकार प्रयत्न न करे, ज्ञान के विना उसका देहपात हो जाय, तो उसको विद्वान् लोग बुरा नहीं कहते। न परलोक में उसको नरक की प्राप्ति होती है और न पूर्व-जन्म से हीन-जन्म की प्राप्ति होती है। उसकी जो गति होती है, सो अगले मंत्र में कहते हैं। इसीहेतु इस मंत्र में यह कहा कि उसका इस लोक में वा परलोक में नाश नहीं होता * ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अन्वय—पुण्यकृतान् १ लोकान् २ प्राप्य ३ शाश्वतीः ४ समाः ५ उषित्वा ६ शुचीनाम् ७ श्रीमताम् ८ गेहे ९ योगभ्रष्टः १० अभिजायते ११।

अर्थ—जो योगभ्रष्ट दुर्गति को नहीं प्राप्त होता, तो फिर किस गति को प्राप्त होता है, इस अपेक्षा में कहते हैं। पुण्यकारी पुरुषों के लोकों को अर्थात् अश्वमेध आदि यज्ञों के करनेवाले जिन लोकों को जाते हैं उन लोकों को १। २ प्राप्त होकर ३ सि० वहां * लाखों वर्ष ४। ५ वासकर ६ पवित्र ७ धनवालों के ८ घर में ९ योगभ्रष्ट १० जन्म लेता है ११।

तात्पर्य—वेदोक्त मार्ग में चलनेवाले धनवान् पुरुषों के घर में योगभ्रष्ट का जन्म होता है और कुमार्गियों के कुल में कुपात्र उत्पन्न होते हैं ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—अथवा १ धीमताम् २ योगिनाम् ३ एव ४ कुले ५ भवति ६ लोके ७ यत् ८ ईदृशम् ९ जन्म १० एतत् ११ हि १२ दुर्लभतरम् १३ ।

अर्थ—ब्रह्म को परोक्ष समझकर जिसने थोड़ा ही कभी-कभी ब्रह्म-विचार किया था, उसकी गति पिछले मंत्र में कही गई। अब पक्षान्तर से उसकी गति कहते हैं। 'अथवा' यह शब्द पक्षान्तर में भी आता है १ अर्थात् अब इस मंत्र में उसकी गति कहते हैं, जिसने बहुत ब्रह्मविचार किया था और अपरोक्ष ज्ञान होने में कुछ थोड़ा ही समय बाकी रह गया था सि० ऐसा वह योगभ्रष्ट * ज्ञानवान् २ योगियों के ३ ही ४ कुल में ५ उत्पन्न होता है ६ सि० इस * लोक में ७ जो ८ ऐसा ९ जन्म १० सि० है * यह ११ ही १२ बहुत दुर्लभ है १३ सि० क्योंकि ज्ञानियों के कुल में जन्म होना मोक्ष का हेतु है, कर्मकांडी धनवान् पुरुषों के कुल में नाना प्रकार का विक्षेप होने से उसी जन्म में मोक्ष होना कठिन प्रतीत होता है। "नास्य कुले ब्रह्मविद्भवति" इति श्रुतिः। यहां वेद प्रमाण है, कि ज्ञानी के कुल में अज्ञानी नहीं उत्पन्न होता, अर्थात् ज्ञानी ही उत्पन्न होता है *।

तात्पर्य—इस लोक में आत्म-तत्त्व का ही विचार करना दुर्लभ है, भोग तो सब लोकों में बराबर हैं। अर्थात् पशु, पक्षी, मनुष्य और देवताओं के भी भोग दुःख देने में समान हैं। केवल आकृति का भेद है। राजा को रानी में जो आनन्द होता है, वही कंगाल को अपनी स्त्री में और कुत्ते को कुतिया में। खाना, पीना, सोना, मैथुन और भय इत्यादि ये सब जीवों में समान हैं। मनुष्यदेह में एक ब्रह्म-ज्ञान ही विशेष है। जिसको ब्रह्मज्ञान नहीं, वह पशु-पक्षियों से भी नीच है; क्योंकि पशु-पक्षियों का तो

अज्ञान एक धर्म है, उनको बुरा कहना अनुचित है। जिस अभागे मनुष्य ने मनुष्य-देह पाकर ब्रह्म-ज्ञान का सम्पादन न किया, तो फिर उसने किस अलौकिक पदार्थ का सम्पादन किया? "आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुमानवानाम्। ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः" ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

अन्वय—तम् १ बुद्धियोगम् २ पौर्वदैहिकम् ३ तत्र ४ लभते ५ कुरुनन्दन ६ ततः ७ भूयः ८ संसिद्धौ ९ च १० यतते ११।

अर्थ—उस १ ज्ञान-योग को २ पूर्वदेह में जिसके जानने की इच्छा करके अभ्यास करता था उसी को ३ वहां अर्थात् भगवान कर्मकांडियों के कुल में, अथवा ज्ञानियों के कुल में ४ प्राप्त होता है ५ हे अर्जुन! ६ फिर ७ अधिक ८ मोक्ष में ही अर्थात् मुक्ति के वास्ते ही ९। १० यत्न करता है ११ ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्माऽतिवर्तते ॥ ४४ ॥

अन्वय—सः १ अवशः २ अपि ३ हि ४ तेन ५ एव ६ पूर्वाभ्यासेन ७ ह्रियते ८ योगस्य ९ जिज्ञासुः १० अपि ११ शब्दब्रह्म १२ अतिवर्तते १३।

अर्थ—फिर अधिक यत्न करने का कारण यह है। वह १ सि० योगभ्रष्ट कर्मकांडियों के कुल में अथवा ज्ञानियों के कुल में जन्म लेकर दैवयोग से * परवश २ भी ३ सि० हो जावे, अर्थात् माता, पिता पुत्र मित्र धन आदि में आसक्त हो जावे, अथवा भेदवादियों के पंजे में आजावे * तो भी ४ वही ५। ६ पूर्वाभ्यास ७ सि० जिस अभ्यास को करता-करता योगभ्रष्ट हुआ था वही * विषयों से विमुख करके ब्रह्म विचार के सम्मुख कर देता है ८ सि० योगभ्रष्ट को हे अर्जुन! ब्रह्मविचार का ऐसा ही माहात्म्य है, सो सुनो * ज्ञान-योग का ९

जिज्ञासु १० भी ११ शब्द-ब्रह्म का १२ उल्लंघन करता है अर्थात् कर्मकांड को छोड़कर ब्रह्म-निष्ठ हो जाता है १३ ।

तात्पर्य—ब्रह्म-विचार करनेवाला ब्रह्म-निष्ठ हो जाय, तो इसमें क्या कहना है। जो अजान अवस्था में क्षण-मात्र भी यह चिंतन करता है कि मैं ब्रह्म हूँ, तो यह विचार महापातकों को दूर कर देता है। जैसे सूर्य तम को दूर करता है। और जो समझकर बरसों चिंतन करते हैं, उनका तो कहना ही क्या है अर्थात् उनकी सद्गति (मोक्ष) में किंचित् भी सन्देह नहीं। "क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्मचिन्तनम् । तन्महापातकं हन्ति तमः सूर्योदयो यथा" ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—यतमानः १ योगी २ तु ३ प्रयत्नात् ४ अनेकजन्म-संसिद्धः ५ ततः ६ पराम् ७ गतिम् ८ याति ९ ।

अर्थ—योगभ्रष्ट तीसरे जन्म में तो अवश्य ही मुक्त होगा, इसमें सन्देह नहीं, यह कहते हैं। अर्थात् पिछले कहे हुए अर्थ को फिर कैमुतिक न्याय से दृढ़ करते हैं। सि० जब जिज्ञासु परमपद को प्राप्त होता है, तो फिर * प्रयत्न करनेवाला १ योगी २ जो ३ प्रयत्न से ४ सि० निष्पाप होकर * अनेक जन्मों में भले प्रकार सिद्ध होकर अर्थात् ब्रह्मवित् होकर ५ फिर ६ परम ७ गति को ८ प्राप्त होता है ९ सि० इसमें क्या सन्देह है *।

तात्पर्य—जब ब्रह्म का जिज्ञासु योगभ्रष्ट, मन्दवैराग्य, दूसरे ही जन्म में सद्गति को प्राप्त होता है। तब प्रयत्न करनेवाला विद्वान ज्ञानवान् होकर दूसरे जन्म में अथवा उसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त हो, तो इसमें क्या सन्देह है। प्रथम तो योगभ्रष्ट दूसरे ही जन्म में मुक्त होगा, या अनेक जन्म में, अर्थात् तीसरे जन्म में मुक्त हो जायगा। न एक अनेक, इस प्रकार अनेक शब्द का अर्थ दो या तीन हो सकता है, और अनेक का यह भी अर्थ है कि असंख्यात जन्मों से पुण्य करता चला आता है, तो उन पुण्यों के प्रताप से निष्पाप, ज्ञानवान् होकर, पिछले जन्म में ब्रह्म-निष्ठ होकर, वही योगभ्रष्ट सद्गति को प्राप्त होगा ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

अन्वय—योगी १ तपस्विभ्यः २ अधिकः ३ ज्ञानिभ्यः ४ अपि ५ अधिकः ६ मतः ७ कर्मिभ्यः ८ च ९ योगी १० अधिकः ११ अर्जुन १२ तस्मात् १३ योगी १४ भव १५ ।

अर्थ—ब्रह्म-ज्ञान का साधन अष्टांगयोग, तप, पंडिताई, ये सब कर्म से श्रेष्ठ हैं, यह कहते हैं । योगी १ तपस्वी पुरुषों से २ श्रेष्ठ ३ सि० है, क्योंकि चान्द्रायण आदि व्रतों का करना, पंचाग्नि तपना, शीत-काल में प्रातःकाल स्नान करना इत्यादि तप कहाता है । यह बहिरंग साधन है । * पंडितों से ४ भी ५ सि० योगी * श्रेष्ठ ६ माना है ७ सि० इस जगह ज्ञानी का अर्थ जो पंडित किया है उसका तात्पर्य यह है कि अनुष्ठान न करनेवाले जो केवल विद्यावान् ही हैं, अर्थात् केवल श्रोत्रिय हैं, उनको ब्रह्म-निष्ठ नहीं समझना । क्योंकि अष्टांगयोग ज्ञान का अन्तरंग साधन है, जैसे विद्या, तप, विचार इत्यादि । * अग्नि-होत्र आदि कर्म करनेवालों से ८ भी ९ योगी १० श्रेष्ठ ११ सि० है, क्योंकि यह भी ज्ञान का बहिरंग साधन है * हे अर्जुन! १२ इसकारण १३ योगी १४ हो अर्थात् धारणा ध्यान आदि में तत्पर हो १५ क्योंकि यह ज्ञान का अन्तरंग साधन है ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

अन्वय—सर्वेषाम् १ योगिनाम् २ अपि ३ मद्गतेन ४ अन्त-रात्मना ५ यः ६ श्रद्धावान् ७ माम् ८ भजते ९ सः १० मे ११ युक्ततमः १२ मतः १३ ।

अर्थ—ज्ञान का उत्तम अंतरंग साधन भगवद्भक्ति है सब कर्मयोगियों में भगवद्भक्त श्रेष्ठ है, सोई कहते हैं । सब १ यो-गियों के २ मध्य में भी ३ मद्गत अन्तःकरण समाहित करके अर्थात् मुझ वासुदेव में अन्तःकरण समाहित करके ४ । ५ जो ६ श्रद्धावान् ७ सि० ब्रह्म का जिज्ञासु * मुझको ८ भजता है

अर्थात् उपासना करता है ९ सो १० मुझको ११ युक्ततम १२ सम्मत है १३ अर्थात् वह सब योगियों से श्रेष्ठ है ॥ ४७ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ७

बीच के छः अध्यायों में, सात से बारह तक, उपासना करने के योग्य भगवत् का स्वरूप-विशेष निरूपण किया गया है। उपासना करने के लिये जिस परमेश्वर की भक्ति करना है, उसका स्वरूप भी पहले समझ लेना उचित है। श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने जो अपना स्वरूप समस्त गीता-शास्त्र में, और विशेषकर बीच के छः अध्यायों में, निरूपण किया है, वह परमेश्वर का स्वरूप समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि पहले परमेश्वर का स्वरूप समझ-कर, फिर उनकी भक्ति करना योग्य है। बार-बार परमेश्वर यह कहते हैं कि मुझमें मन लगाकर मेरा भजन कर। 'माम्, मम, अहम्' इत्यादि प्रयोग अस्मद् शब्द के हैं। जिस जगह ये प्रयोग हैं वहां तात्पर्य अस्मद् शब्द से है। 'अस्मद्' आत्मा को कहते हैं। 'त्वम्, त्वा, ते' इत्यादि युष्मद् शब्द के प्रयोग हैं। भगवद्विषय में अस्मद् शब्द के जो प्रयोग गीता-शास्त्र में हैं, उनका तात्पर्य किसी जगह तो मायोपहित चैतन्य में, किसी जगह अविद्योपहित चैतन्य में, किसी जगह शुद्ध चैतन्य में, किसी जगह लीला-विग्रह मूर्ति में, और किसी जगह सगुण ब्रह्म में है। सब जगह लीला-विग्रह-मूर्ति में अर्थ नहीं समझना चाहिए। बहुत जगह तो सोपाधिक का और निरुपाधिक का भेद हमने दिखा दिया है। किसी-किसी जगह स्पष्ट समझकर छोड़ दिया है, वहां विचार कर लेना चाहिए कि इस जगह तात्पर्य निरुपाधिक ब्रह्म में है, अथवा सोपाधिक ब्रह्म में। और यह भी विचार लेना चाहिए कि इस जगह जो अस्मद् शब्द का प्रयोग है, इसका तात्पर्य तत्पदार्थ में है अथवा त्वं पदार्थ में, अथवा दोनों की एकता में है। तब भगवत् का स्वरूप समझ में आवेगा। यह अनर्थ न समझ लेना कि श्रीकृष्णचन्द्र महाराज श्यामसुन्दर स्वरूप के सिवाय श्रीसदाशिव, शक्ति इत्यादि देवता जीव हैं। श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने मूर्ति को ही परब्रह्म कहा है, किन्तु यह समझना कि श्रीकृष्णचंद्र महाराज

शुद्ध सच्चिदानन्द निराकार, अखंड पूर्णब्रह्म हैं । विष्णु, शिव, सूर्य, शक्ति, गणेश आदि और वासुदेव, दाशरथी इत्यादि की लीला-विग्रह-मूर्ति है । जो राम, कृष्ण आदि की एकता में प्रमाण है, वही प्रमाण विष्णु, शिव आदि की एकता में है ।

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

अन्वय—पार्थ १ मयि २ आसक्तमनाः ३ मदाश्रयः ४ योगम् ५ युञ्जन् ६ यथा ७ समग्रम् ८ असंशयम् ९ माम् १० ज्ञास्यसि ११ तत् १२ शृणु १३ ।

अर्थ—पिछले अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है कि जो मुझमें मन लगाकर मुझको भजता है, वह कर्मयोगियों में श्रेष्ठ है । इसवास्ते अब अपना वही स्वरूप कहते हैं कि जिसकी भक्ति करना योग्य है । हे अर्जुन ! १ मुझमें २ आसक्त है मन जिसका ३ सि० और * मेरा ही आश्रय ले रक्खा है जिसने ४ सि० और * योग को अर्थात् जो योग मैंने छठे अध्याय में निरूपण किया है उसको ५ करता हुआ ६ जैसा ७ संपूर्ण अर्थात् मैं सोपाधिक और निरुपाधिक हूँ वैसा ही ८ सन्देह-रहित ९ मुझको अर्थात् शुद्ध, सच्चिदानन्द, निराकार, निर्विकार को और लीला-विग्रह श्यामसुन्दर आदि स्वरूप को १० तू जानेगा ११ वह १२ सि० आगे कहूँगा सावधान होकर * सुन १३ ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—इदम् १ ज्ञानम् २ ते ३ अहम् ४ वक्ष्यामि ५ सविज्ञानम् ६ अशेषतः ७ यत् ८ ज्ञात्वा ९ इह १० भूयः ११ अन्यत् १२ ज्ञातव्यम् १३ न १४ अवशिष्यते १५ ।

अर्थ—आगे जो ज्ञान कहना है, उसकी इस श्लोक में स्तुति करते हैं । यह १ सि० जो आगे * ज्ञान २ तेरे अर्थ ३ मैं ४

कहूँगा ५ सि० सो * विज्ञान के सहित ६ समस्त ७ सि० कहूँगा * जिसको ८ जानकर अर्थात् जिस ज्ञान से मुझको जानकर ९ मोक्ष-मार्ग में १० फिर ११ अन्य पदार्थ १२ जानने के योग्य १३ नहीं १४ शेष रहेगा १५ ।

तात्पर्य—उसीसे कृतार्थ हो जायगा । परोक्ष (शास्त्र द्वारा) जो परमेश्वर का ज्ञान है, उसको ज्ञान कहते हैं, और अनुभव युक्तिपूर्वक साक्षात् अपरोक्ष परमेश्वर का सन्देहरहित जो ज्ञान है, उसको विज्ञान कहते हैं ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

अन्वय—मनुष्याणाम् १ सहस्रेषु २ कश्चित् ३ सिद्धये ४ यतति ५ यतताम् ६ अपि ७ सिद्धानाम् ८ माम् ९ तत्त्वतः १० कश्चित् ११ वेत्ति १२ ।

अर्थ—विशेषकर कमसमझ लोग यह कहा करते हैं कि ईश्वर का ज्ञान सबको है । जो इस प्रजा का कर्ता और पालक है, वही परमेश्वर है । उसको समस्त गुणों की खान समझना चाहिए । रूप रंग उसमें नहीं है, इसहेतु उसको कोई देख नहीं सकता । अब विचारो कि यह समझ, निश्चय और स्नेह ऐसे तुच्छ मनुष्यों में होता है कि जिनके स्मरण करने से समझवालों को ग्लानि आ जाती है । यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सद्गुण पुरुषों को छोड़कर तुच्छ धनान्ध, नीच पुरुष उसको समझें । तात्पर्य यह कि पूर्वोक्त बोली मन्दमति, आलसी, विषयी बहिर्मुख मनुष्यों की है । परमेश्वर के ज्ञान का गन्ध भी उनके पास होकर नहीं निकला । यह सब उनका वाचक ज्ञान है, क्योंकि उनके मुख में परमेश्वर ही धूल डालकर भगवत् के स्वरूप का ज्ञान अति दुर्लभ निरूपण करते हैं । परमेश्वर का ज्ञान किसी अन्तर्मुख विरले महात्मा को ही है । बहिर्मुख विषयी परमेश्वर को कभी नहीं जान सकते । वही इस श्लोक में कहते हैं । हजारों मनुष्यों में १ । २ कोई ३ सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये ४ प्रयत्न करता है ५ प्रयत्न

करनेवालों में ६ भी ७ सि० कोई देह से पृथक् सूक्ष्म-रूप सच्चिदानन्द को जान जाता है ऐसे * सिद्धों में से ८ मुझको ९ यथार्थ १० कोई ११ जानता है १२ ।

तात्पर्य—अब विचार करना चाहिए कि मनुष्यों से अतिरिक्त जीवों की तो मोक्ष-मार्ग में लेश-मात्र भी प्रवृत्ति नहीं है । और मनुष्यों में भी भरतखंड के अतिरिक्त अन्य द्वीपों में जो रहते हैं, वा श्रुतिस्मृति के जो द्वेषी हैं, वे आत्मविद्या को भी नहीं जानते । आत्मज्ञान तो बहुत कठिन है । और भरतखण्डनिवासी वर्णाश्रमवालों में भी प्रायशः द्वैतवादी हैं । प्रत्युत, द्वैतवादी भी कम हैं, विशेष करके तो अज्ञानी ही बहुत हैं । उनको परलोक का किंचित् विचार नहीं । और जो कोई परलोक के विचार में प्रवृत्त भी होता है, तो उसको नवीन पंथ सम्प्रदायों ने ऐसा भुला रक्खा है कि उस व्यवस्था को लिखने के लिये पृथक् ग्रन्थ चाहिए । तात्पर्य, इन पूर्वोक्त सब उपाधियों से बचकर कोई महात्मा आत्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, और उनमें से कोई ईश्वर से अभिन्न सच्चिदानंद आत्मा को यथार्थ परमात्मा जानता है । जिनको ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई, और ब्रह्मवित्पुरुष जिनको मिले, उनके भाग्य की बड़ाई जितनी की जावे वह कम है । और जिन्होंने आत्मतत्त्व को जाना, वे तो मन और वाणी से परे हैं । उनका क्या कहना है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अन्वय—भूमिः १ आपः २ अनलः ३ वायुः ४ खम् ५ मनः ६ बुद्धिः ७ च ८ अहङ्कारः ९ एव १० इति ११ इयम् १२ मे १३ प्रकृतिः १४ अष्टधा १५ भिन्ना १६ ।

अर्थ—जिस प्रकार परमेश्वर का स्वरूप यथार्थ जाना जाता है, वह कहते हैं । इस श्लोक में अपरा प्रकृति का स्वरूप निरूपण करते हैं, क्योंकि प्रकृति द्वारा भगवत् का ज्ञान होता है । पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश १ । २ । ३ । ४ । ५ सि० इनका अर्थ गंध आदि पंच तन्मात्रा है । इस जगह पंचीकृत पंच स्थूल भूत नहीं समझना चाहिए और * मन ६ बुद्धि ७

और अहंकार ८ । ६ भी १० इस प्रकार ११ यह १२ मेरी १३ प्रकृति १४ आठ प्रकार के १५ भेद को प्राप्त हुई है १६ सि० यह अपरा प्रकृति आठ प्रकार की है और तेरहवें अध्याय में इसी के चौबीस भेद मैं निरूपण करूँगा ※

तात्पर्य—गंध १ रस २ रूप ३ स्पर्श ४ शब्द ५ अहंकार ६ महत्तत्त्व ७ अविद्या ८ ये प्रकृति के आठ भेद हैं । इन सबका कारण अविद्या है अविद्या से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से शब्द आदि उत्पन्न हुए हैं । जैसे विष मिले हुए अन्न को विष कहते हैं, इसी प्रकार अविद्योपहित चैतन्य को अविद्या कहा गया है । जगत् का कारण मायोपहित अव्यक्त है । विना चैतन्य रचना आदि क्रिया का होना असम्भव है । अविद्या का अर्थ इस जगह मूलाज्ञान अर्थात् प्रकृति समझना चाहिए । आनंदामृतवर्षिणी के द्वितीय अध्याय में इन सबका अर्थ विस्तारपूर्वक और क्रम से लिखा है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अन्वय—इयम् १ अपरा २ इतः ३ तु ४ अन्याम् ५ जीवभूताम् ६ मे ७ पराम् ८ प्रकृतिम् ६ विद्धि १० महाबाहो ११ यया १२ इदम् १३ जगत् १४ धार्यते १५ ।

अर्थ—इस श्लोक में परा प्रकृति का निरूपण करते हैं, पहिले जिसके आठ भेद कहे गए हैं, यह १ सि० प्रकृति ※ अपरा अर्थात् निकृष्ट, अशुद्ध, जड़, अनर्थ करनेवाली, संसार-बन्धन को प्राप्त करानेवाली है २ इससे तो जुदी ३ । ४ । ५ जीव-रूप को ६ मेरी ७ परा ८ प्रकृति ६ [तू] जान १० हे अर्जुन ! ११ जिसने १२ यह १३ जगत् १४ धारण कर रक्खा है १५ ।

तात्पर्य—इस परा प्रकृति को शुद्ध, प्रकृष्ट, श्रेष्ठ, मेरा आत्म-रूप जानो । यही इस जगत् को धारण किए है । इस जगत् को रचकर, इसके भीतर जीव-रूप होकर मैं ही प्रविष्ट हुआ हूँ । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतिः ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

अन्वय—सर्वाणि १ भूतानि २ एतद्योनीनि ३ इति ४ उपधारय ५ अहम् ६ कृत्स्नस्य ७ जगतः ८ प्रभवः ९ तथा १० प्रलयः ११।

अर्थ—सब १ भूतों की २ यह योनि है ३ यह ४ [तू] जान अर्थात् अपरा और परा ये ही दोनों प्रकृति सब जगत् का कारण हैं ५ सि० और * मैं ६ समस्त ७ जगत् का ८ उत्पत्ति करनेवाला ९ और नाश करनेवाला १०। ११ सि० हूँ।

तात्पर्य—उपादान कारण प्रकृति है, और निमित्त कारण चैतन्य ईश्वर है। इसवास्ते जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ईश्वर है। यह अर्थ आनंदामृतवर्षिणी के द्वितीय अध्याय में स्पष्ट दृष्टान्तसहित लिखा है ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

अन्वय—धनञ्जय १ मत्तः २ परतरम् ३ अन्यत् ४ किञ्चित् ५ न ६ अस्ति ७ इदम् ८ सर्वम् ९ मयि १० प्रोतम् ११ सूत्रे १२ मणिगणाः १३ इव १४।

अर्थ—जैसा पीछे कहा है, इसी हेतु मुझसे जुदा कोई पदार्थ नहीं, यह कहते हैं। हे अर्जुन! १ मुझसे २ श्रेष्ठ ३ दूसरा ४ सि० सृष्टिसंहार का स्वतन्त्र कारण * कुछ ५ नहीं ६ है ७ यह ८ सब ९ सि० जगत् * मुझमें अर्थात् सच्चिदानन्द परमेश्वर में १० गुंधा हुआ है ११ सूत्र में १२ सि० सूत्र के ही बने हुए * मणि के दाने १३ जैसे १४ सि० वैसा * ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

अन्वय—कौन्तेय १ अप्सु २ रसः ३ अहम् ४ शशिसूर्ययोः ५ प्रभा ६ अस्मि ७ सर्ववेदेषु ८ प्रणवः ९ खे १० शब्दः ११ नृषु १२ पौरुषम् १३।

अर्थ—श्रीभगवान् अपनी पूर्णता को विस्तारपूर्वक पांच मन्त्रों में कहते हैं, हे अर्जुन! १ जल में २ रस ३ मैं हूँ ४ चन्द्र सूर्य में ५ प्रभा ६ सि० दीप्ति, चमक या रोशनी * मैं

हूँ ७ सब वेदों में ८ ॐकार ६ सि० मैं हूँ * आकाश में १० शब्द ११ सि० मैं हूँ * पुरुषों में १२ उद्यम १३ सि० मैं हूँ *

तात्पर्य—जल आदि पदार्थ रस आदि पदार्थों के विना कुछ नहीं ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

अन्वय—पृथिव्याम् १ च २ पुण्यः ३ गन्धः ४ विभावसौ ५ तेजः ६ च ७ अस्मि ८ सर्वभूतेषु ६ जीवनम् १० तपस्विषु ११ तपः१२ च १३ अस्मि १४ ।

अर्थ—पृथिवी में १ । २ पवित्र ३ गंध अर्थात् सुगन्ध ४ सि० मैं हूँ * अग्नि में ५ तेज मैं हूँ ६ । ७ । ८ सब भूतों में ६ जीव १० सि० मैं हूँ * तपस्वी पुरुषों में ११ तप[1] मैं हूँ १२ । १३ । १४ ॥ ६ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

अन्वय—पार्थ १ सर्वभूतानाम् २ सनातनम् ३ बीजम् ४ माम् ५ विद्धि ६ बुद्धिमताम् ७ बुद्धिः ८ अस्मि ६ तेजस्विनाम् १० तेजः ११ अहम् १२ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ सब भूतों का २ सनातन ३ बीज ४ मुझको ५ [तू] जान ६ बुद्धिमानों में ७ बुद्धि ८ मैं हूँ ६ तेजस्वी पुरुषों में १० तेज ११ मैं १२ सि० हूँ * ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

अन्वय—अहम् १ कामरागविवर्जितम् २ बलवताम् ३ बलम् ४ च ५ भरतर्षभ ६ धर्माविरुद्धः ७ भूतेषु ८ कामः ६. अस्मि १० ।

अर्थ—मैं १ कामराग से वर्जित २ बलवानों में ३ बल ४

---

१ तप दो प्रकार का है, विचार को भी तप कहते हैं, और द्वन्द्व के सहने को भी तप कहते हैं ।

सि० हूँ * और ५ हे अर्जुन ! ६ धर्म से अविरुद्ध ७ भूतों में ८ काम ९ मैं हूँ १० ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

अन्वय—ये १ च २ एव ३ सात्त्विकाः ४ भावाः ५ राजसाः ६ ये ७ च ८ तामसाः ९ तान् १० मत्तः ११ एव १२ इति १३ विद्धि १४ तेषु १५ अहम् १६ न १७ तु १८ ते १९ मयि २० ।

अर्थ—जो १ । २ । ३ सत्त्वगुणी ४ भाव ५ सि० शम दम आदि * रजोगुणी ६ सि० हर्ष दर्प आदि * और जो ७ । ८ तमोगुणी ९ सि० भाव शोक मोह आदि * उनको १० मुझसे ११ ही १२ ।१३ [तू] जान १४ सि० क्योंकि शम हर्ष शोक आदि * मेरी प्रकृति के गुणों का कार्य है उनमें १५ मैं १६ नहीं सि० वर्तता हूँ * अर्थात् जीववत् उनके अधीन मैं नहीं १७ । १८ सि० परन्तु * वे १९ मुझमें २० सि० मेरे अधीन वर्तते हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय—एभिः १ त्रिभिः २ गुणमयैः ३ भावैः ४ इदम् ५ सर्वम् ६ जगत् ७ मोहितम् ८ एभ्यः ९ परम् १० माम् ११ अव्ययम् १२ न १३ अभिजानाति १४ ।

अर्थ—इन १ तीन २ गुणमय ३ पदार्थों से ४ यह ५ सब ६ जगत् ७ मोहित ८ सि० हो रहा है * इनसे ९ परे १० मुझ ११ अव्यय को १२ नहीं १३ जानता है १४ ।

तात्पर्य—कोई सत्त्वगुण में, कोई रजोगुण में, और कोई तमोगुण में मोहित है । इनसे परे विलक्षण, निर्गुण, शुद्ध, सच्चिदानंद, निराकार, निर्विकार परमेश्वर को नहीं जानते । परमेश्वर को भी सगुण ही समझते हैं ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अन्वय—एषा १ मम २ माया ३ गुणमयी ४ दैवी ५ हि ६ दुरत्यया ७ ये ८ माम् ९ एव १० प्रपद्यन्ते ११ ते १२ एताम् १३ मायाम् १४ तरन्ति १५ ।

अर्थ—अनादि अविद्या शुद्ध, सच्चिदानन्द भगवद्भजन के विना दूर न होगी, यह कहते हैं। यह १ मेरी २ माया ३ त्रिगुणवाली ४ अलौकिक अर्थात् अद्भुत ५ ही ६ सि० है * ('हि' इस शब्द का तात्पर्य यह है कि यह माया ऐसी है कि जो बात समझने के योग्य है, उसको भी दिखा सकती है और जो समझ में नहीं आती उसको भी दिखा सकती है। यह बात संसार में प्रसिद्ध है। इसी हेतु जगत् भ्रान्त हो रहा है। विना परमेश्वर की कृपा यह माया) दुस्तर ७ सि० है। विद्वानों ने ऐसा निश्चय किया है कि * जो अर्थात् ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासु ८ मुझको ९ ही १० भजते हैं ११ वे १२ इस १३ माया को १४ तरेंगे अर्थात् माया को माया समझकर मुझ त्रिगुणरहित शुद्ध सच्चिदानंद को प्राप्त होंगे १५ ।

तात्पर्य—दैवी देवसंबंधी अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण इत्यादि और वैकुंठ आदि जिसके परिणाम हैं; उसको दैवी माया कहते हैं। यह विना ज्ञान-निष्ठा के दूर नहीं होती। मुझ निर्गुण, शुद्ध, सच्चिदानन्द का ही जो चिंतन करेंगे; सगुण पदार्थ में प्रीति नहीं करेंगे; वे ही निर्गुण को प्राप्त होंगे। और जो सगुण पदार्थों में प्रीति करेंगे, उनकी त्रिगुणवाली माया दूर न होगी; क्योंकि जिस पदार्थ को त्यागना है, उसीमें उनकी प्रीति है तो फिर यह तीन गुण कैसे दूर हो सकते हैं। 'एव' शब्द से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'माया' शब्द का अर्थ इस जगह शुद्ध ब्रह्म है। मायोपहित वा लीला-विग्रह सगुण नहीं। मायोपहित ईश्वर सगुण ब्रह्म का जो आराधन करते हैं, तो अवश्य ही माया का भी आराधन उसके साथ होता है। जिसका विशेष चिंतन रहेगा वह पदार्थ कैसे दूर होगा ? और जो सगुण ब्रह्म का ही आराधन करना है, तो निष्काम होकर शुद्ध ब्रह्म की जिज्ञासा करके आराधन करे, तो भी वह मार्ग कर्म-मुक्ति का है और जिनको शुद्ध ब्रह्म की जिज्ञासा ही नहीं; उनकी अविद्या कभी दूर न होगी ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
मायया ऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

अन्वय—नराधमाः १ माम् २ न ३ प्रपद्यन्ते ४ मूढाः ५ दुष्कृतिनः ६ मायया ७ अपहृतज्ञानाः ८ आसुरम् ९ भावम् १० आश्रिताः ११ ।

अर्थ—जो अभागे न निर्गुण ब्रह्म का आराधन करते हैं, और न सगुण ब्रह्म का, वे मनुष्यों में अधम १ मुझको २ नहीं ३ भजते हैं ४ सि० कारण यह है कि वे * विवेकरहित हैं ५ सि० क्योंकि वे * दुष्ट अर्थात् खोटे कर्मों को करनेवाले हैं अर्थात् शास्त्रोक्त मार्ग में नहीं चलते । श्रुति, स्मृति और परमेश्वर की आज्ञा को छोड़ नाना प्रकार के कल्पित पन्थों में शिर मारते हैं ६ सि० इसका जो हेतु है सो सुनो * माया करके ७ दूर हो गया है ज्ञान जिनका अर्थात् तमोगुण और रजोगुण में उनका सत्त्वगुण तिरोभाव हो गया है ८ सि० क्योंकि * असुरभाव का ९ । १० आश्रय कर रक्खा है उन्होंने सि० सोलहवें अध्याय में काम, क्रोध, दंभ, दर्प आदि असुरों का स्वभाव कहेंगे * अर्थात् भगवत् से विमुख सदा काम आदि अनर्थों में फँसे रहते हैं । जो पूर्वसंस्कार से उनमें किसी समय सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है, तो भी कुसंग के दोष से भगवत् के सम्मुख नहीं होते हैं और न शुभ कर्म करते हैं ११ सि० इसी हेतु उनको विवेक नहीं होता, और इसी हेतु वे लोग सबसे अधम हैं* ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

अन्वय—अर्जुन १ चतुर्विधाः २ सुकृतिनः ३ जनाः ४ माम् ५ भजन्ते ६ भरतर्षभ ७ आर्तः ८ अर्थार्थी ९ जिज्ञासुः १० ज्ञानी ११ च १२ ।

अर्थ—जो सगुण ब्रह्म का भी आराधन निष्काम न हो सके, तो सकाम ही परमेश्वर का आराधन करना योग्य है । जो न निष्काम भजन करे और न सकाम, उनसे सकाम पुरुष

ही भगवत् का आराधन करनेवाले श्रेष्ठ हैं। इसी वास्ते चारों प्रकार के मेरे भक्त सुकृती कहे जाते हैं। वे चार प्रकार के भक्त तारतम्यता के साथ उत्तरोत्तर ये हैं। हे अर्जुन! १ चार प्रकार के २ सुकृती जन ३। ४ मुझको ५ भजते हैं ६ हे अर्जुन! ७ सि० वे ये हैं * आर्त ८ अर्थार्थी ९ जिज्ञासु १० और ज्ञानी ११। १२।

तात्पर्य—विपत्समय में परमेश्वर का स्मरण करनेवाले को आर्तभक्त कहते हैं, जैसे द्रौपदी गजेन्द्र आदि ८ पुत्र और राज्य आदि की कामना करके जो परमेश्वर का आराधन करते हैं, वे अर्थार्थी हैं; जैसे ध्रुव आदि ९ ब्रह्म-तत्त्व की जिज्ञासा करके निष्काम जो नारायण का पूजन और भजन करते हैं, वे जिज्ञासु हैं, जैसे उद्धव, सुदामा आदि १० शुद्ध, सच्चिदानंद, निराकार, निर्विकार, नित्यमुक्त, परमात्मा को आत्मा से अभिन्न अपरोक्ष जो जानते हैं, वे ज्ञानी हैं; जैसे शुकदेव, वामदेव, जनक, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ और सनकादिक ११ इन चारों प्रकार के भक्तों को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ समझना चाहिए ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

अन्वय—तेषाम् १ ज्ञानी २ विशिष्यते ३ नित्ययुक्तः ४ एक-भक्तिः ५ अहम् ६ ज्ञानिनः ७ अत्यर्थम् ८ प्रियः ९ हि १० सः ११ च १२ मम १३ प्रियः १४।

अर्थ—पूर्वोक्त भक्तों में ब्रह्मज्ञानी चार हेतु करके सबसे श्रेष्ठ है, यह कहते हैं। उनके १ सि० मध्य में * ज्ञानी २ विशेष है ३ सि० प्रथम तो तीनों अवस्थाओं में सच्चिदानन्द-स्वरूप से च्युत नहीं होता, इस वास्ते ज्ञानी को * नित्ययुक्त ४ सि० कहते हैं अर्थात् उसको सदा आनन्द स्वरूप ब्रह्म का स्मरण रहता है। दूसरे यह कि एक अद्वैत में ही है भक्ति जिसकी, अर्थात् सिवाय सच्चिदानन्द पदार्थ के और कोई दृश्य जड़ पदार्थ उसकी दृष्टि में नहीं। जिसकी दृष्टि में बुरा व भला दूसरा पदार्थ है, निःसन्देह उसमें कभी न कभी मन जायगा। इसी वास्ते

ज्ञानी को * एक भक्ति ५ मि० कहते हैं अर्थात् ज्ञानी परमानन्द का ही उपासक है । परमानन्द-स्वरूप भगवत् ही उसके साधन हैं, और परमानन्द ही फल है, औरों के फल और साधनों में भेद है । तीसरे यह कि * मैं ६ ज्ञानी को ७ अत्यन्त बहुत ८ ही प्यारा ९ । १० हूँ क्योंकि परमानन्द बहुत प्यारा होता है । यह लोक में भी प्रसिद्ध है । ज्ञानी मुझको परमानन्द-रूप जानता है, आनन्दजनक, जड़, दृश्यरूपवाला मुझको नहीं जानता । चौथे यह कि * सो ज्ञानी ११ । १२ मुझको १३ मि० भी अत्यन्त * प्यारा १४ मि० है क्योंकि परात्पर, पूर्णब्रह्म, अखण्ड, अद्वैत मुझको समझता है । सिवाय सच्चिदानन्द के और पदार्थ का अत्यन्त अभाव जानता है । इसी हेतु वह मुझको प्रिय है । एक पदार्थ तो आनन्दजनक और एक पदार्थ निजानन्दरूप है । विचारो दोनों में कौन-सा श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

अन्वय—एते १ सर्वे २ एव ३ उदाराः ४ ज्ञानी ५ तु ६ मे ७ आत्मा ८ एव ९ मतम् १० हि ११ सः १२ युक्तात्मा १३ माम् १४ एव १५ आस्थितः १६ अनुत्तमाम् १७ गतिम् १८ ।

अर्थ—भगवत् विमुखों से सकाम और निष्काम सब भक्त श्रेष्ठ हैं, और ज्ञानी तो साक्षात् नारायण-स्वरूप हैं । यह कहते हैं । आगे बारहवें अध्याय में भी श्रीमहाराज कहेंगे कि निर्गुण ब्रह्म के उपासक तो मुझको प्राप्त ही हैं, जो मेरा स्वरूप है वही उनका । ये अर्थात् पूर्वोक्त आर्त आदि तीनों भक्त १ सब २ ही ३ श्रेष्ठ ४ हैं मि० परन्तु * ज्ञानी ५ तो ६ मेरा ७ आत्मा ८ ही ९ है, अर्थात् ज्ञानी मुझसे दासवत् जुदा नहीं, स्वामीसेवकवत् पृथक् नहीं, वह वनवृक्षवत् मेरा ही स्वरूप है मि० यह मेरा * निश्चय १० मि० है * क्योंकि ११ मि० वह यह समझता है कि मैं पूर्णब्रह्म, सच्चिदानन्द, नित्यमुक्त हूँ इस वास्ते * सो ज्ञानी १२ युक्तात्मा समाहित है १३ और

मुझको १४ ही १५ आश्रय कर रक्खा है १६ सि० कैसा हूँ मैं कि कोई सावयव पदार्थ मुझसे उत्तम गति नहीं है सो मैं ही अनुपमगति हूँ, यह समझकर मुझ * अनुत्तम गति को १७। १८ आश्रयकर रक्खा है, अर्थात् मुझसे पृथक् कुछ और फल नहीं मानता। परात्पर फल और सच्चिदानन्द मैं हूँ ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अन्वय—बहूनाम् १ जन्मनाम् २ अन्ते ३ इति ४ सर्वम् ५ वासुदेवः ६ ज्ञानवान् ७ माम् ८ प्रपद्यते ९ सः १० महात्मा ११ सुदुर्लभः १२।

अर्थ—फिर भी ज्ञानी की स्तुति करते हुए यह कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी भक्त दुर्लभ है। बहुत १ जन्मों के २ अन्त में अर्थात् सकाम निष्काम उपासना करते-करते पिछले जन्म में, जिस शरीर में मोक्ष होना है उस जन्म में, मुझको, जो मेरा भक्त ऐसा समझता है कि ३ यह ४ सब ५ सि० जगत्, चराचर, अस्ति, भाति, प्रियरूप * वासुदेव ६ सि० है, इस प्रकार * ज्ञानवान ७ * मुझको ८ भजता है ९ सि० जो भक्त * वह १० महात्मा ११ परिच्छिन्न-दृष्टि १२ सि० है। प्रायः सब आत्मा को और परमात्मा को परिच्छिन्न समझते हैं। प्रत्युत, कोई-कोई मूर्ख ज्ञानियों की प्रत्यक्ष वा किसी बहाने से असूया (बुराई) करते हैं। श्रीमहाराज के इस वाक्य का आदर नहीं करते। अपने आप अपनी जिह्वा से बारबार यह कहते हैं कि मैं पापी, पापात्मा, पाप करता हूँ किन्तु जो दूसरा कहे कि तुम पापी गुलाम हो, तो उसी समय लड़ने को उद्यत हो जावें। ऐसे लोगों की जो गति होगी वह * दृष्टान्त से स्पष्ट किए देते हैं * एक भेदवादी राजा भगवत् का उपासक सबसे प्रश्न किया करता था कि हे महाराज ! जो पापी भगवत् से विमुख हैं उनका तो उद्धार श्रीनारायण अपने आप करेंगे: क्योंकि उनका नाम पतितपावन, अधमोद्धरण, करुणाकर है, और जो

भगवद्भक्त, कर्मकांडी, ज्ञानी और योगी हैं, वे भक्ति, ज्ञान, कर्म, योग आदि के आश्रय से कृतार्थ होंगे, तो फिर नरक में कौन जायँगे चौरासी लाख योनियों में कौन भ्रमेंगे? इस प्रश्न का उत्तर बहुत पंडितों को न आया. एक ज्ञानी महात्मा राजा के पास पहुँचे, राजा ने उनका बहुत सम्मान करके यही प्रश्न उनसे भी किया। महात्मा ने कहा कि हे राजन! तुम बड़े सुकृती, धर्मात्मा, समझवाले भगवद्भक्त हो। राजा ने कहा कि महाराज ऐसे तो आप ही हैं, मैं तो अधम पापात्मा हूं। महात्मा उसी समय उठकर खड़े हो गए और राजा की तरफ देखकर कहने लगे कि आज कैसे अधम पापात्मा से सम्भाषण हुआ। राजा को इन शब्दों के सुनते ही क्रोध आगया, और कहने लगा कि तू कैसा ज्ञानी है, जो लोगों को गालियाँ देता है। महात्मा ने कहा कि क्या, गालियाँ नहीं देता हूँ, तेरे प्रश्न का उत्तर देता हूँ। मेरे कहने का तात्पर्य समझ। तुझ सरीखे लोग नरक में जायँगे। आप तो अपने मुख से सहस्र बार अपने को पापी कहता है—"पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः।" किंतु हमने जो एक बार कहा, तो उसका इतना बुरा मानता है। अभी तू ने हमको सुकृती, धर्मात्मा, भगवद्भक्त कहा है, और अब डाटता है। तू अपने आप ही यह विचार कि क्या मैं पतित हूँ? जो तू पतित है, तो औरों के कहने से क्यों बुरा मानता है। और जो धर्मात्मा है, तो शुद्धात्मा को पापात्मा क्यों कहता है। अपने को शुद्धात्मा ही समझ। राजा का अज्ञान इतने ही स्वल्प उपदेश से जाता रहा, और जाना कि दास और पतित, जो अपने को कहते हैं, यह ऊपर ही की बोल चाल है। दास पतित बनना कठिन है। मुख से तो यह कहे कि "सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम सप्रेम सुबानी।" और ज्ञानियों की बुराई करे। धन्य है ऐसी समझ। यह इतिहास भले प्रकार विचारने योग्य है ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

अन्वय—अन्यदेवताः १ प्रपद्यन्ते २ तैः ३ तैः ४ कामैः ५ हृत-ज्ञानाः ६ स्वया ७ प्रकृत्या ८ नियताः ९ तम् १० तम् ११ नियमम् १२ आस्थाय १३।

अर्थ—सब भक्त निर्गुण ब्रह्म की निष्काम उपासना क्यों नहीं करते, अन्य देवता का क्यों आराधन करते हैं, इस अपेक्षा में, चार मन्त्रों में यह कहते हैं कि परमेश्वर का भजन करके वैकुंठ आदि में जायँगे, वहाँ के दिव्य विषयों और पदार्थों का भले प्रकार भोग करेंगे, अथवा इसी लोक में स्त्री, पुत्र, धन आदि की प्राप्ति होगी। और प्रायः वर्तमान काल में भी देवताओं की उपासना में शब्द आदि विषयों को त्यागना नहीं पड़ता; प्रत्युत, फूल, बँगला, हिंडोरा, रामलीला, नृत्यगान आदि को उत्तम कर्म समझते हैं। सि० यह कामनाएँ करके जो आत्मा से भिन्न * अन्य मूर्तिमान देवता का १ भजन करते हैं २ सि० इसका हेतु यह है कि * उन ३ उन ४ कामनाओं करके ५ हरा गया है आत्म-ज्ञान जिनका ६ सि० वे * अपनी ७ प्रकृति से ८ प्रेरे हुए ९ उस १० उस ११ नियम को १२ आश्रय करके १३ सि० अन्य देवता का भजन करते हैं *

तात्पर्य—रजोगुण और तमोगुण के वश होकर, भेद और उपासना के सब नियम अंगीकार करके, आत्मा से भिन्न अन्य देवता को ही पूजते हैं। "घर का जोगी जोगना, आन गाँव का सिद्ध।" ऐसे ही वे उपासक हैं। शास्त्र का भी प्रमाण सुनो—"वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते। तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः॥" जो देव सबमें बस रहा है, और साक्षात् चैतन्य आनन्द अनुभव होता है, उसको छोड़कर अन्य देव की जो उपासना करते हैं, वे ऐसे हैं कि जैसे प्यासा मूर्ख श्रीगंगाजी का जल छोड़-कर गंगा के तीर कूप खोदता है। ऐसे ही परमानंद-स्वरूप चैतन्यदेव आत्मा को छोड़, तुच्छ विषयानंद के लिये प्रयत्न करते हैं॥ २०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

अन्वय—यः १ यः २ भक्तः ३ श्रद्धया ४ याम् ५ याम् ६

तनुम् ७ अर्चितुम् ८ इच्छति ६ तस्य १० तस्य ११ अचलाम् १२ श्रद्धाम् १३ ताम् १४ अहम् १५ एव १६ विदधामि १७।

अर्थ—आत्मा से भिन्न अन्य देवताओं के सकाम भक्तों को पिछले मंत्र में परतंत्र, प्रकृति और वासना के वश कहा है। अब अपने अधीन कहते हैं। जो कोई यह शंका करे कि जब परमेश्वर अन्तर्यामी सबके प्रेरक हैं, तो फिर अन्य देवताओं के भक्तों को भी वासुदेव भगवान् पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्द आत्मा के सम्मुख क्यों नहीं कर देते, इस अपेक्षा में श्रीमहाराज यह कहेंगे कि जिसकी जैसी इच्छा होती है, उसके अनुसार उसकी श्रद्धा दृढ़ कर देता हूँ। निष्काम जो मेरा आराधन करते हैं, उनको सन्मार्ग में लगा देता हूँ। मुझको चिन्तामणिवत् समझो। यह वाक्य प्रसिद्ध है कि "जैसे को हरि तैसे।" वही इस मंत्र में कहते हैं। जो १ जो २ सि० विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, इन्द्र आदि का * भक्त ३ श्रद्धा से ४ जिस ५ जिस ६ मूर्ति को ७ पूजा करने की ८ इच्छा करता है ६ उस १० उसके विषय ११ दृढ़ १२ श्रद्धा १३ सि० जो है * उसको १४ मैं १५ ही १६ स्थिर करता हूँ १७ सि० अन्तर्यामी-रूप होकर वेद शास्त्र और आचार्य द्वारा *

तात्पर्य—जो जिस मूर्तिमान देवता में प्रीति करता है, परमेश्वर भी आचार्य-रूप होकर उसी को दृढ़ कर देते हैं। निष्काम भक्तों को परमेश्वर सुधारते हैं॥ २१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥ २२॥

अन्वय—स १ तया २ श्रद्धया ३ युक्तः ४ तस्य ५ आराधनम् ६ ईहते ७ ततः ८ कामान् ६ लभते १० च ११ तान् १२ मया १३ एव १४ विहितान् १५ हि १६।

अर्थ—पूर्वपक्ष की श्रुति स्मृति को ही सिद्धान्त समझकर उनमें श्रद्धा से, सकाम परमेश्वर का आराधन करने से जो कभी किसी को फल भी प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् मूर्तिमान्

परमेश्वर का दर्शन हो जाना, अथवा स्त्री, पुत्र, राज्य, स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि की प्राप्ति हो जाना, ये सब फल उसकी कामना के अनुसार मैं ही देता हूँ; क्योंकि कामियों को रूप रस आदि विषय ही प्रिय होते हैं। जो यह फल किसी को भी प्रत्यक्ष न हो, तो फिर वेद शास्त्र आदि में उनका विश्वास न रहे। जो उनका विश्वास वेद शास्त्र आदि में बना रहेगा, तो कभी-न-कभी सिद्धान्त की श्रुति स्मृतियों में भी उनको विश्वास हो जायगा। फिर मेरा निष्काम आराधन करके कृतार्थ हो जायँगे। उनको प्रत्यक्ष फल दिखाने में मेरा यही तात्पर्य है, इसवास्ते उनको वही श्रद्धा स्थिर करता हूँ। वह १ उस २ श्रद्धा से ३ युक्त ४ उसका ५ आराधन करता है ६। ७ उससे ८ ही कामनाओं को ९ प्राप्त होता है १०। ११ सि० कैसी हैं वे कामनाएँ कि * उनको १२ मैंने १३ ही १४ रची हैं १५ निश्चय १६।

तात्पर्य—सकाम भक्त पूर्वपक्ष की श्रुति स्मृतियों में श्रद्धा करके, जिस भक्त की जिस देवता में प्रीति है, उसका ही आराधन करता है, उससे ही मनोवाञ्छित फल को प्राप्त होता है। वास्तव में वे कामनाएँ परमेश्वर की रची हुई हैं और परमेश्वर ने ही उनको वह फल दिया है, परन्तु वे उस मूर्ति का दिया हुआ समझते हैं, उसी को परात्पर समझ लेते हैं, इसी वास्ते वे जन्म-मरण से नहीं छूटते। इस बात को अगले श्लोक में भले प्रकार स्पष्ट करेंगे ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्वय—अल्पमेधसाम् १ तेषाम् २ तत् ३ फलम् ४ अन्तवत् ५ तु ६ भवति ७ देवयजः ८ देवान् ९ यान्ति १० मद्भक्ताः ११ माम् १२ अपि १३ यान्ति १४।

अर्थ—सच्चिदानन्द आत्मा से अन्य मूर्तिमान् परमेश्वर को परमेश्वर मानकर जो उनका आराधन करता है, क्या उससे निर्गुण निराकार सच्चिदानन्द की उपासना करनेवाले कुछ अधिक फल को प्राप्त होते हैं, इस अपेक्षा में श्रीमहाराज यह

कहते हैं कि हाँ, निःसन्देह फल में बड़ा अन्तर है। वह अन्तर यह है। परिच्छिन्न दृष्टि है जिनकी अर्थात् कम समझ, जो परमेश्वर को एकदेशी समझते हैं १ उनको २ मि० जो फल होता है, मूर्तिमान् परमेश्वर का दर्शन, बैकुंठ आदि की प्राप्ति, स्त्री पुत्र राज्य आदि की प्राप्ति * वह ३ मि० सब * फल ४ अन्तवाला ही ५। ६ है अर्थात् अनित्य है ७ मि० क्योंकि * देवताओं के पूजनेवाले ८ देवताओं को ९ प्राप्त होते हैं १० सि० और * मुझ सच्चिदानंद, निराकार, आत्मा के भक्त ११ मुझ सच्चिदानंद निराकार को १२ ही १३ प्राप्त होते हैं १४।

तात्पर्य—अब विचार करो कि फल में कितना बड़ा अन्तर है। जो यह शंका करे कि श्रीकृष्णचन्द्र महाराज नित्य हैं, और उनके अतिरिक्त अन्य देवता अनित्य हैं, तो फिर यह विचारना चाहिये कि देवताओं की मूर्तियाँ अनित्य हैं वा उनका स्वरूप सच्चिदानंद अनित्य है। और श्रीकृष्णचन्द्र महाराज की मूर्ति श्यामसुंदर-स्वरूप नित्य है, वा उनका स्वरूप सच्चिदानंद नित्य है? दोनों की मूर्तियों को जो नित्य कहे, तो भी नहीं बन सकता, और दोनों के सच्चिदानंदस्वरूप को जो अनित्य कहे, तो भी नहीं बन सकता; क्योंकि वेद शास्त्रों का यह सिद्धान्त है "यद्दृश्यं तदनित्यम्" जो दृश्य है सो सब अनित्य है। और भी कहा है—"गोगोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानो भाई॥" 'मा' शब्द देव शब्द से विलक्षण है। यह बात स्पष्ट है कि श्रीकृष्णचन्द्र महाराज, पूर्णब्रह्म, सच्चिदानंद, निराकार नित्य हैं और मूर्ति परमेश्वर की मायिक होती है। पद्मपुराण में श्रीनारायण लक्ष्मीजी से गीता-माहात्म्य कहते हैं—"मायामयमिदं देवि वपुर्मे न तु तात्त्विकम्।" हे देवि! मेरा यह शरीर मायामय है, वास्तव में नहीं। देव शब्द का तात्पर्य मूर्तियों में है। मा शब्द का तात्पर्य सच्चिदानंद निराकार में है॥ २३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

अन्वय—अबुद्धयः १ माम् २ अव्यक्तम् ३ व्यक्तिम् ४ आपन्नम् ५ मन्यन्ते ६ मम ७ परम् ८ भावम् ९ अजानन्तः १० अव्ययम् ११ अनुत्तमम् १२।

अर्थ—निर्गुण ब्रह्म की उपासना में, और सगुण ब्रह्म लीला-विग्रह-मूर्ति आदि की उपासना में, यत्न तो सम प्रतीत होता है, किंतु आप निर्गुण उपासना का फल विशेष और नित्य कहते हैं, तो फिर लीलाविग्रह-मूर्तियों के उपासक भी आपके निरुपाधिक, शुद्ध-स्वरूप, सच्चिदानंद, निराकार, ब्रह्म की उपासना क्यों नहीं करते। यह शंका करके श्रीमहाराज इस मंत्र में यह कहेंगे कि कम समझ होने से मुझ परात्पर, निर्विकार, शुद्ध, सच्चिदानंद को नहीं जानते, मुझको मूर्तिमान् ही समझते हैं। हे अर्जुन! यह बड़े कष्ट की बात है। इस प्रकार विचार करते हुए श्रीभगवान् यह कहते हैं। अविवेकी अर्थात् विचाररहित १ मुझ २ निराकार को ३ मूर्ति को ४ प्राप्त हुआ ५ मानते हैं ६ मेरे ७ परम ८ प्रभाव को ९ नहीं जानते १० सि० कैसा है मेरा परम प्रभाव, प्रथम तो * निर्विकार ११ सि० और फिर * अनुत्तम अर्थात् उसके सिवाय और कोई पदार्थ उत्तम नहीं है १२ ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

अन्वय—सर्वस्य १ अहम् २ प्रकाशः ३ न ४ योगमाया-समावृतः ५ अयम् ६ मूढः ७ लोकः ८ माम् ९ अजम् १० अव्ययम् ११ न १२ अभिजानाति १३।

अर्थ—सबको १ मैं २ प्रकट ३ नहीं अर्थात् सब मुझको नहीं जान सकते, मेरे भक्त ही मुझको जान सकते हैं ४ सि० क्योंकि * योगमाया से ढका हुआ हूँ अर्थात् मेरी योगमाया अचिन्त्य है। उस माया के संबंध से असक्त अर्थात् अश्रद्धा-वान् मुझको नहीं पहचान सकते ५ सि० इसी हेतु * यह ६ मूढ़ ७ जन ८ मुझ ९ अज १० अव्यय को ११ नहीं १२ जानता १३ ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

अन्वय--अर्जुन १ समतीतानि २ वर्तमानानि ३ च ४ भविष्याणि ५ च ६ भूतानि ७ अहम् ८ वेद ९ माम् १० तु ११ कश्चन १२ न १३ वेद १४ ।

अर्थ—पीछे यह कहा है कि मैं योगमाया से ढका हुआ हूँ । सो वह योगमाया मेरे ज्ञान में प्रतिबन्ध नहीं, जीव को ही मोहनेवाली है । जैसे बाजीगर की माया बाजीगर को नहीं मोहती, औरों को ही मोहती है । यह कहते हैं । हे अर्जुन ! १ पिछले २ और वर्तमान ३ । ४ और अगिले ५ । ६ भूतों को ७ मैं ८ जानता हूँ ९ और मुझको १० । ११ कोई १२ नहीं १३ जानता १४ अर्थात सच्चिदानन्द से पृथक प्रथम तो कोई पदार्थ नहीं है, और जो भ्रान्तिजन्य हैं भी, तो जड़ हैं, वे कैसे चैतन्य को जान सकते हैं ।

तात्पर्य— ईश्वर को आत्मा से पृथक् जो कोई जानना चाहे वह मूर्खतम है, क्योंकि श्रीमहाराज स्पष्ट कहते हैं कि मुझको कोई नहीं जानता । इस वाक्य का यही अभिप्राय है कि आत्मा से भिन्न मुझको कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

अन्वय—परन्तप १ सर्गे २ इच्छाद्वेषसमुत्थेन ३ द्वन्द्वमोहेन ४ भारत ५ सर्वभूतानि ६ सम्मोहम् ७ यान्ति ८ ।

अर्थ—जीवों को जो अज्ञान दृढ़ हो रहा है और विवेक नहीं होता, उसका कारण यह है कि स्थूल शरीर के उत्पन्न होते ही अनुकूल पदार्थों में तो इच्छा, और प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष उत्पन्न होजाता है । इच्छा द्वेष क्यों उत्पन्न होते हैं इसका कारण यह है कि शीत उष्ण आदि द्वन्द्व के निमित्त भ्रान्ति है अर्थात् विवेक नहीं, इस वास्ते इच्छा द्वेष उत्पन्न होते हैं । शीत उष्ण आदि दूर करने के लिये जो प्रयत्न करना है वही भ्रान्ति है, क्योंकि शीत उष्ण आदि की प्राप्ति, और उनका दूर होना प्रारब्धवशात् अवश्यंभावि है । जैसे दुःख के लिये

कोई यत्न नहीं करना, और सुख की प्राप्ति के लिये दिन-रात तत्पर रहते हैं, परन्तु दिन-रात की तरह दुःख सुख बना ही रहता है। जिनके यह विचार नहीं, वे अविवेकी अपने अविवेक से अज्ञानी बन रहे हैं। यही बात इस मंत्र में कहते हैं। हे अर्जुन! १ स्थूल शरीर की उत्पत्ति होने पर २ अर्थात् स्थूल शरीर की उत्पत्ति के पीछे ३ इच्छा द्वेष से उत्पन्न हुए द्वन्द्व के निमित्त जो मोह अर्थात् विवेक का न होना, इससे अर्थात् इस हेतु ३। ४ हे अर्जुन! ५ सब जीव ६ अज्ञान को ७ प्राप्त हैं ८।

तात्पर्य—द्वन्द्व के निमित्त जो प्रयत्न करना है, यह अविवेक है। इसके त्याग किए विना परमेश्वर का ज्ञान, और अपना ज्ञान न होगा। इच्छा, द्वेष, यही दोनों संसार की जड़ हैं, इनका त्याग अवश्य करना चाहिए॥२७॥

येषामन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८ ॥

अन्वय—येषां १ पुण्यकर्मणाम् २ जनानाम् ३ पापम् ४ अन्तगतम् ५ ते ६ द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः ७ दृढव्रताः ८ माम् ९ भजन्ते १०।

अर्थ—शुभ कर्म करने से रजोगुण और तमोगुण कम हो गया है जिनका, उनको द्वन्द्व के निमित्त भी मोह कम होता है। वे मेरा भजन कर सकते हैं, और उनको मेरे स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। यह कहते हैं। जिन १ पुण्यकारी २ जनों का ३ पाप ४ नष्ट हो गया है ५ वे ६ द्वन्द्व के निमित्त मोह से छूटे हुए ७ और दृढ़ हैं व्रत और नियम जिनके वे ८ मुझको ९ भजते हैं १०॥ २८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९ ॥

अन्वय—ये १ माम् २ आश्रित्य ३ जरामरणमोक्षाय ४ यतन्ति ५ ते ६ तत् ७ ब्रह्म ८ विदुः ९ कृत्स्नम् १० अध्यात्मम् ११ अखिलम् १२ कर्म १३ च १४।

अर्थ—जिस वास्ते भजन करते हैं, सो कहते हैं। और

भगवत् भजन करनेवाले जानने योग्य पदार्थों को जानकर कृतार्थ हो जाते हैं, यह भी दो श्लोकों में कहते हैं। जो १ मि० परमानन्द के जिज्ञासु * मुझ परमेश्वर का २ आश्रय करके ३ जरा-मरण से छूटने के वास्ते अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि नाश होने के लिये ४ प्रयत्न करते हैं ५ वे ६ उस ७ ब्रह्म को ८ जानते हैं ६ मि० अथवा जान जावेंगे कि जिस ब्रह्म के जानने से मुक्ति होती है और * समस्त १० अध्यात्म ब्रह्म को ११ समस्त १२ कर्म को भी १३। १४ मि० जानते हैं *।

तात्पर्य—कर्म और अध्यात्म ब्रह्म को भले प्रकार जानते हैं। इन शब्दों का अर्थ श्रीमहाराज आठवें अध्याय में निरूपण करेंगे ॥ २६ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

अन्वय—युक्तचेतसः १ ये २ माम् ३ साधिभूताधिदैवम् ४ साधियज्ञम् ५ च ६ विदुः ७ ते ८ प्रयाणकाले ६ अपि १० च ११ माम् १२ विदुः १३।

अर्थ—भगवद्भक्त अन्तकाल में भी निःसन्देह भगवत् का चिंतन करके परमेश्वर को प्राप्त होंगे। भगवद्भक्तों में योगभ्रष्ट की भी शंका न करना चाहिए, क्योंकि उनके अंतःकरण का प्रेरक, अंतर्यामी, और उनका स्वामी, अपने में उनका मन आप लगा लेगा। इसके सिवाय वे आप परमेश्वर की कृपा से समाहित चित्त होते हैं। सोई कहते हैं। समाहित है चित्त जिनका १ ऐसे जो २ मुझको ३ सहित अधिभूत और अधिदैव के ४ और सहित अधियज्ञ के ५। ६ जानते हैं ७ वे ८ अन्तकाल में भी ६। १०। ११ मुझको १२ जानेंगे १३।

तात्पर्य—उनको मेरे स्मरण का ज्ञान अन्तकाल में बना रहेगा; क्योंकि उनका चित्त सावधान है। अधिभूत आदि शब्दों का अर्थ आठवें अध्याय में महाराज आप ही निरूपण करेंगे ॥ ३० ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ८

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अन्वय—पुरुषोत्तम १ तत् २ ब्रह्म ३ किम् ४ अध्यात्मम् ५ किम् ६ कर्म ७ किम् ८ अधिभूतम् ९ किम् १० प्रोक्तम् ११ च १२ अधिदैवम् १३ किम् १४ उच्यते १५ ।

अर्थ—पिछले अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है कि जो परमेश्वर का आश्रय लेकर मुक्ति के लिये यत्न करते हैं, वे अन्त-काल में भी मुझसहित ब्रह्म आदि सप्त पदार्थों को जानेंगे; क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती । यह वेदों में भी कहा है—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।" इस वास्ते अर्जुन ब्रह्म आदि सप्त पदार्थों के जानने की इच्छा करके प्रश्न करता है । हे पुरुषोत्तम ! १ वह २ ब्रह्म ३ क्या है अर्थात् जिसके जानने से मुक्ति होती है वह सोपाधिक ब्रह्म है, वा निरुपाधिक शुद्ध, सच्चिदानंद, निराकार है ? जो सच्चिदानंद के जानने से ही मुक्ति होती है, तो उसका अर्थ कृपा करके मुझको समझाना चाहिये । मैं तो अब तक इसी श्यामसुंदर मूर्त्ति को परात्पर परब्रह्म समझता था, परंतु सोपाधिक और निरुपाधिक का भेद मैं जानना चाहता हूँ, किस प्रकार आप सोपाधिक हैं, और किस प्रकार निरुपाधिक हैं ? यह मेरा तात्पर्य है, अर्थात् शुद्ध-रूप आपका क्या है ४ अध्यात्म ५ क्या है ? ६ कर्म ७ क्या है ? ८ अधिभूत ९ किसको १० कहते हैं ? ११ और अधिदैव १२ । १३ किसको १४ कहते हैं ? १५ ।

तात्पर्य—अर्जुन का यह प्रश्न है कि शास्त्र में इन शब्दों के अर्थ कितने प्रकार के हैं । जैसे 'ब्रह्म' शुद्ध को भी कहते हैं, और मायोपहित तथा सगुण-निर्गुण को भी । अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि वह ब्रह्म क्या पदार्थ है, जिसके जानने से मुक्ति होती है ? इसी प्रकार कर्म और जीव

आदि पदार्थों का क्या अर्थ है । अर्जुन का तात्पर्य यह है कि मुक्ति का हेतु ब्रह्म आदि पदार्थों का ज्ञान मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अन्वय—मधुसूदन १ अत्र २ देहे ३ अधियज्ञः ४ कः ५ कथम् ६ अस्मिन् ७ नियतात्मभिः ८ प्रयाणकाले ९ च १० कथम् ११ ज्ञेयः १२ असि १३ ।

अर्थ—हे भगवन् ! १ इस २ देह में ३ अधियज्ञ ४ कौन है अर्थात् ५ जो कर्म शरीर, मन, वाणी से होता है उसका फलदाता इस शरीर में कौन है । स्वरूप पूछकर उसके रहने का प्रकार पूछता है कि किस प्रकार ६ इसमें अर्थात् इस देह में ७ सि० वह स्थित है* और ८ समाधान है अन्तःकरण जिनका ऐसे पुरुषों करके ९ अन्तकाल में १० किस प्रकार ११ जानने योग्य १२ हो १३ अर्थात् समाधान अन्तःकरणवाले अन्तकाल में आपको किस प्रकार जानते हैं । सबसे श्रेष्ठ कौन सा उपाय है, जिसके करने से अन्तकाल में मुक्त हो जावे ।

तात्पर्य—जिनका चित्त समाधान है उनकी उपासना में तो सन्देह नहीं है क्योंकि चित्त का निरोध होना ही उपासना का फल है । अर्जुन का प्रश्न है कि उसको अन्तकाल में क्या करना चाहिए । इस हेतु स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपासना से बढ़कर दूसरा कोई उपाय पूछता है । इन प्रश्नों का अर्थ इन्हीं प्रश्नों के उत्तर से स्पष्ट हो जायगा ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच--

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अन्वय—परमम् १ ब्रह्म २ अक्षरम् ३ उच्यते ४ स्वभावः ५ अध्यात्मम् ६ भूतभावोद्भवकरः ७ विसर्गः ८ कर्मसंज्ञितः ९ ।

अर्थ—ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म इन तीन प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में है । परम १ ब्रह्म को २ शुद्ध, सच्चिदानन्द, अक्षर, अखण्ड, नित्यमुक्त, निराकार, परात्पर ३ कहते हैं ४ और

जीवों को ५ अध्यात्म ६ मि० कहते हैं * भूतों की उत्पत्ति और उद्भव करनेवाला ७ मि० जो देवताओं का उद्देश करके द्रव्य का * त्याग ८ मि० है सो * कर्मसंज्ञित[१] है ९ ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥ ४ ॥

अन्वय—क्षरः १ भावः २ अधिभूतम् ३ च ४ पुरुषः ५ अधिदैवतम् ६ देहभृतांवर ७ अत्र ८ देहे ९ अधियज्ञः १० अहम् ११ एव १२ ।

अर्थ—तीन प्रश्नों का उत्तर इस मंत्र में है। नाशवान् १ पदार्थ को २ अधिभूत ३ मि० कहते हैं * और पुरुषों को ४ । ५ अधिदैव ६ मि० कहते हैं * हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! ७ इस ८ देह में ९ अधियज्ञ १० मैं अन्तर्यामी हो ११ । १२ हूँ ।

तात्पर्य—देह आदि पदार्थ नश्वर हैं । और जिससे यह सब जगत् पूर्ण हो रहा है, अथवा सब शरीर में जो विराजमान है, उसको वैराज पुरुष और हिरण्यगर्भ भी कहते हैं । सूर्यमण्डल के मध्यवर्ती, और व्यष्टि सब देवताओं का अधिपति समष्टि देवता है । पीछे अर्जुन ने यह भी प्रश्न किया था कि किस प्रकार वह अधियज्ञ इस देह में स्थित है और अधियज्ञ किसको कहते हैं । श्रीभगवान् ने कहा कि अन्तर्यामी अधियज्ञ मैं हूँ । इसीके कहने से यह जान लेना चाहिए कि ईश्वर अन्तर्यामी देह में आकाशवत् स्थित है, जो सबका साक्षी, बुरे भले कर्मों के फल का देनेवाला है और वह असंग है । सारांश यह कि ईश्वर को ऐसा समझने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अन्वय—अन्तकाले १ च २ माम् ३ एव ४ स्मरन् ५ यः ६

---

१ कर्म है संज्ञा जिसकी, उसको कर्मसंज्ञित कहते हैं । यज्ञ से तात्पर्य है ।

२ "चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः । चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते" अधिष्ठान जो चैतन्य, और सूक्ष्म शरीर, और सूक्ष्म शरीर में उसी चैतन्य का प्रतिबिम्ब, इन सबके संघात को जीव कहते हैं ।

कलेवरम् ७ मुक्त्वा ८ प्रयाति ६ मः १० मद्भावम् ११ याति १२ अत्र १३ संशयम् १४ न १५ अस्ति १६ ।

अर्थ—सातवें प्रश्न का उत्तर इस मंत्र में है अर्थात् मुक्ति का मुख्य उपाय यह है । अन्तकाल में १ । २ मुझ अन्तर्यामी को ३ ही ४ स्मरण करता हुआ ५ जो ब्रह्म का जिज्ञासु ६ शरीर को ७ त्यागकर ८ अर्चिरादि मार्ग से * जाता है ९ वह १० कारण ब्रह्म को ११ प्राप्त होता है १२ इसमें १३ संशय १४ नहीं १५ है १६ ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

अन्वय—यम् १ यम् २ भावम् ३ स्मरन् ४ वा ५ अपि ६ अन्ते ७ कलेवरम् ८ त्यजति ६ कौन्तेय १० तम् ११ तम् १२ एव १३ एति १४ सदा १५ तद्भावभावितः १६ ।

अर्थ—अन्तकाल में जिस पदार्थ का चिंतन करेगा उसी को प्राप्त होगा, यह कहते हैं । जिस १ जिस २ पदार्थ का ३ स्मरण करता हुआ ४ । ५ । ६ [जीव] अन्तकाल में ७ शरीर को ८ त्यागता है ६ हे अर्जुन ! १० उस उसको ११ । १२ ही १३ प्राप्त होता है १४ [क्योंकि *] सदा १५ उसका चिंतन करके वश हो गया है चित्त जिसका अर्थात् सदा जिसका चिंतन रहेगा, वही पदार्थ उसके मन में बस जायगा, इस हेतु अन्तकाल में भी उसको वही स्मरण होगा १६ ।

तात्पर्य—"बद्धो बद्धाभिमानी स्यान्मुक्तो मुक्ताभिमानिनः । किंवदन्तीः सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥" यह कहानी सच्ची है कि जिसको यह अभिमान है अर्थात् यह मानता है कि मैं बद्ध हूँ, परतंत्र हूँ, परमेश्वर का दास हूँ, वह ऐसा ही होगा, और जो आत्मा को स्वतंत्र, असंग, मुक्त मानता है, वह स्वतंत्र मुक्त होगा । जैसी जिसकी समझ है उसकी वही गति होगी । इस हेतु परमानंद के उपासक परमानंद को ही प्राप्त होंगे । मूर्तियों के उपासक मूर्तियों को और स्त्री-छोकरों के उपासक स्त्री-छोकरों को प्राप्त होंगे ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अन्वय—तस्मात् १ सर्वेषु २ कालेषु ३ माम् ४ अनुस्मर ५ युध्य ६ च ७ मयि ८ अर्पितमनोबुद्धिः ९ माम् १० एव ११ एष्यसि १२ असंशयम् १३ ।

अर्थ—जब यह नियम है कि सदा जिस पदार्थ का चिंतन रहेगा, अंतकाल में वह अवश्य याद आवेगा; इस वास्ते सदा परमेश्वर का चिंतन करना चाहिए । और अन्तःकरण शुद्ध हुए विना परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता, इस वास्ते अन्तःकरण की शुद्धि के लिये स्वधर्म का अनुष्ठान करना चाहिए । यही कहते हैं । इस कारण १ सब काल में २ । ३ मुझ अंतर्यामी का ४ स्मरण कर ५ सि० जो न हो सके तो * युद्ध कर ६ सि० क्योंकि युद्ध करना ही क्षत्रियों का धर्म है । युद्ध करने से क्षत्रियों का अन्तःकरण शुद्ध होता है * और ७ मुझमें ८ अर्पित किया है मन और बुद्धि जिसने ९ सि० ऐसा होकर तू * मुझको १० ही ११ प्राप्त होगा १२ सि० इसमें * संशय नहीं १३ ।

तात्पर्य—प्रथम अंतःकरण शुद्ध करके और फिर मुझमें मन लगाकर, तू मुझको ही प्राप्त होगा । इसमें संशय मत कर कि युद्ध से अंतःकरण शुद्ध होगा वा नहीं ? निःसन्देह अंतःकरण शुद्ध होगा, और फिर मेरा सदा स्मरण करके मुझको प्राप्त होगा । परमेश्वर में जो मन नहीं लगता, इसका हेतु यही है कि अंतःकरण शुद्ध नहीं । मुक्ति का प्रथम उपाय यही है कि निष्काम होकर भले प्रकार कर्मों का अनुष्ठान करे ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अन्वय—पार्थ १ अनुचिन्तयन् २ परमम् ३ पुरुषम् ४ दिव्यम् ५ याति ६ अभ्यासयोगयुक्तेन ७ चेतसा ८ अनन्यगामिना ९ ।

अर्थ—परमेश्वर का स्मरण करने में दो प्रकार के साधन हैं, एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग । यज्ञ आदि निष्काम कर्मों का

अनुष्ठान करना बहिरंग साधन है, और शम आदि अंतरंग साधन हैं क्रम से दोनों प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। इसी वास्ते पहले मंत्र में बहिरंग साधन कहा है, और इस मन्त्र में अन्तरंग साधन कहते हैं। हे अर्जुन! १ सि० शास्त्रों और आचार्यों द्वारा परमेश्वर का जैसा स्वरूप निश्चय किया गया है, उसी प्रकार परमेश्वर का ※ चिंतन करता हुआ २ परम ३ पुरुष ४ दिव्य को ५ प्राप्त होता है अर्थात् कारण ब्रह्म को अर्चिरादि मार्ग से प्राप्त होना है ६। सि० उनका अन्तरंग साधन यह है कि स्त्री, धन आदि पदार्थों से मन हटाकर परमेश्वर में लगाना योग्य है। जब-जब किसी पदार्थ में मन जावे, उसी समय वहाँ से हटाकर परमेश्वर में लगाना, इसको अभ्यास-योग कहते हैं। इस ※ अभ्यास-योग से युक्त ७ चित्त से ८ सि० परमेश्वर का चिंतन हो सकता है। और दूसरा विशेषण उस चित्त का यह है कि इस अभ्यास-योग के पीछे ※ नहीं रहता है अन्य पदार्थ में जाने का स्वभाव जिसका ९ अर्थात् परमेश्वर के सिवाय और किसी पदार्थ में जो चित्त स्वाभाविक नहीं जाता ऐसे चित्त से, जिसके ये दो विशेषण कहे हैं, हे अर्जुन! परमेश्वर का चिंतन करता हुआ परमेश्वर को ही प्राप्त होता है॥ ८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

अन्वय—कविम् १ पुराणम् २ अनुशासितारम् ३ अणोः ४ अणीयांसम् ५ सर्वस्य ६ धातारम् ७ अचिन्त्यरूपम् ८ आदित्य-वर्णम् ९ तमसः १० परस्तात् ११ यः १२ अनुस्मरेत् १३।

अर्थ—उस परम पुरुष के ये विशेषण हैं, और इस मंत्र का पिछले मंत्र के साथ सम्बन्ध है। सि० कैसा है वह परम पुरुष※ सर्वज्ञ १ अनादिसिद्ध २ नियन्ता अर्थात् प्रेरक ३ सूक्ष्म से ४ अतिसूक्ष्म ५ सबका ६ पालन करनेवाला ७ सि० अचिंत्य शक्तिमान् होने से, और अप्रमाण महिमा और गुणप्रभाव होने

से * अचिंत्यरूप ८ आदित्यवत् स्वप्रकाशरूप अर्थात् ज्ञान-स्वरूप, अग्निसूर्यवत् उसका प्रकाश नहीं समझना, केवल शुद्ध, ज्ञान, ज्ञप्ति, चित्, चिती, चैतन्यमात्र ६ सि० अनुभव करना चाहिए। फिर इसीको व्यतिरेक मुख से कहते हैं * अज्ञान से १० परे ११ सि० पूर्वोक्त पुरुष का * जो १२ सि० शुद्ध ब्रह्म का जिज्ञासु * स्मरण करता है १३ वह उसी दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है। फिर ज्ञान द्वारा शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

अन्वय—प्रयाणकाले १ अचलेन २ मनसा ३ योगबलेन ४ च ५ एव ६ प्राणम् ७ भ्रुवाः ८ मध्ये ९ सम्यक् १० आवेश्य ११ भक्त्या १२ युक्तः १३ सः १४ तम् १५ परम् १६ दिव्यम् १७ पुरुषम् १८ उपैति १९।

अर्थ—इस प्रकार सच्चिदानंद पुरुष का जो स्मरण करता है, वह उसी सच्चिदानंद को प्राप्त होता है, यह कहते हैं। अंतकाल में १ अचल २ मन से ३ और योग के बल से ४। ५। ६ प्राण को ७ दोनों भ्रुवों के ८ बीच में ९ भले प्रकार १० ठहराकर ११ भक्ति से १२ युक्त १३ सि० जो पुरुष, पूर्वोक्त प्रकार सच्चिदानंद का स्मरण करता है * वह १४ उस १५ परम १६ दिव्य पुरुष को १७। १८ प्राप्त होता है १९।

तात्पर्य—सच्चिदानंद निराकार के सिवाय स्त्री, पुत्र, धन, मान, अपमान आदि किसी पदार्थ में मन न लगावे। आसन प्राणायाम आदि के बल से ४ सुषुम्णा मार्ग से प्राण को स्थिर करके सच्चिदानंद का ध्यान करे। यही भक्ति है, ऐसी भक्ति करता हुआ परम पुरुष सच्चिदानंद को ही प्राप्त होगा अर्थात् सच्चिदानंद-रूप हो जायगा ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

अन्वय—वेदविदः १ यत् २ अक्षरम् ३ वदन्ति ४ वीतरागाः ५

यतयः ६ यत् ७ विशन्ति ८ यत् ९ इच्छन्तः १० ब्रह्मचर्यम् ११ चरन्ति १२ तत् १३ पदम् १४ ते १५ संग्रहेण १६ प्रवक्ष्ये १७ ।

अर्थ--महावाक्यों का अर्थ विचारने में जो समर्थ हैं, अर्थात् निर्मल और तीव्र बुद्धिवाले जो अंतर्मुख हैं, वे तो उत्तम अधिकारी हैं। उनको मुक्ति के वास्ते ब्रह्म-विद्या का श्रवण करना ही मुख्य उपाय है । और जो मंद-बुद्धि हैं, मंदवैराग्य हैं, (गृहस्थ को छोड़कर) जिनसे ब्रह्मविद्जनों का सेवन नहीं हो सकता, अथवा जिनको ब्रह्म-विद्या के पढ़ानेवाले गुरु किसी कारण से प्राप्त नहीं होते, और ब्रह्म-विद्या के पढ़ने की सामग्री (पुस्तक आदि) नहीं मिलती, ऐसे पुरुष मोक्ष-मार्ग के मंद और मध्यम अधिकारी हैं। उनके लिये परम करुणाकर श्रीभगवान् ऐसा अच्छा उपाय बतलाते हैं कि उसका अनुष्ठान करने से शीघ्र निःसंदेह ज्ञान द्वारा मुक्ति को प्राप्त होंगे। प्रथम उस मुक्त-पद की स्तुति करते हैं, फिर आगे दो श्लोकों में उसकी प्राप्ति का उपाय कहेंगे । वेद के जाननेवाले १ उसको २ अक्षर ३ कहते हैं ४ और दूर हो गया है राग जिनका ५ मि० ऐसे * संन्यासी अर्थात् ज्ञान-निष्ठ महात्मा ६ जहाँ ७ प्रवेश करते हैं ८ मि० और * जिसकी ९ इच्छा करते हुए १० मि० ब्रह्मचारी गुरुजी के घर रहकर * ब्रह्मचर्यव्रत ११ करते हैं १२ वह १३ पद १४ तेरे लिये १५ संक्षेप में १६ कहूँगा १७ ।

तात्पर्य—उस पद की प्राप्ति का उपाय तुझसे कहूँगा, जिस पद को वेदों का सिद्धांत जाननेवाले 'अक्षरब्रह्म' कहते हैं। और सब पदार्थों से दूर हो गया है राग जिनका, अर्थात् न इस लोक के किसी पदार्थ में राग है और न परलोक के, ऐसे विरक्त, साधु, महात्मा, विज्ञानी, महापुरुष जिस परमपद में प्रवेश करते हैं और जिस पद की इच्छा करके ब्रह्म-चारी काशी आदि क्षेत्रों में जाकर, गुरुदेव की टहल करके, सांगोपांग वेदों का अध्ययन करते हैं, और ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित रहते हैं ऐसे पद की प्राप्ति का उपाय तुझसे कहूँगा, सावधान होकर सुन ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

अन्वय—सर्वद्वाराणि १ संयम्य २ मनः ३ हृदि ४ निरुध्य ५ च ६ आत्मनः ७ प्राणम् ८ मूर्ध्नि ९ आधाय १० योगधारणाम् ११ आस्थितः १२ ।

अर्थ—अब उत्तम उपासना दो मंत्रों में कहते हैं । सब इन्द्रियों के द्वारों को १ रोककर २ मन को ३ हृदय में ४ रोककर ५ । ६ अपने ७ प्राण को ८ मूर्द्धा में ९ ठहराकर १० योगधारणा का ११ आश्रय किया हुआ १२ सि॰ परमगति को प्राप्त होता है ※ अगले मंत्र के साथ इसका अन्वय है ।

तात्पर्य—रूप आदि के साथ नेत्र आदि का संबंध नहीं होने देना, इसीको इन्द्रियों का रोकना कहते हैं, अर्थात् देह-यात्रा के सिवाय दर्शन आदि क्रियाएँ नहीं करना । अन्तःकरण को बहिर्मुख नहीं करना, अर्थात् बाहर के शब्द आदि पदार्थों का संकल्प-विकल्प नहीं करना । आत्मा के सिवाय किसी (भूत भविष्य) पदार्थ का चिंतन नहीं करना, और आत्मा के सिवाय किसी पदार्थ में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं करना, अर्थात् आत्मा ही सत्य है । आत्मा के सिवाय और किसी को सत्य नहीं समझना, देह आदि के साथ तादात्म्य संबंध करके अहंकार नहीं करना, इसको अन्तःकरण का निरोध कहते हैं । प्राणायाम के अभ्यास से प्राण की गति को मस्तक में निश्चल करना, अर्थात् प्राण का निरोध करना चाहिए । प्राण के निरोध करने से ही अन्तःकरण का निरोध होता है । मन और प्राण की एक गति है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये आठ योग के अंग हैं । इस योग का आश्रय अवश्य करना चाहिए । इसका अनुष्ठान करना उचित है । इसका अनुष्ठान किए बिना मन और प्राण का निरोध कठिन है और जब प्राण तथा मन का निरोध न हुआ, तो आत्मानन्द का साक्षात्कार होना बहुत कठिन है, और जीवन्मुक्ति का होना तो बहुत ही दुर्लभ है । पूर्व संस्कार से, ईश्वर की कृपा से, वा महात्मा जनों के अनुग्रह से आत्मानंद का साक्षात्कार हो जाना दूसरी बात है, किंतु अपरोक्ष ज्ञान का मार्ग यही है, जो इस श्लोक में बतलाया गया है । इसका फल प्रत्यक्ष है । जिसको यह योग थोड़ा-सा भी प्राप्त हुआ है, उसको बहुत पढ़ने-सुनने की अपेक्षा नहीं है ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अन्वय—ओम् १ इति २ एकाक्षरम् ३ ब्रह्म ४ व्याहरन् ५ माम् ६ अनुस्मरन ७ यः ८ देहम् ९ त्यजन् १० प्रयाति ११ सः १२ परमाम् १३ गतिम् १४ याति १५ ।

अर्थ—'ओम्' इस शब्द का उच्चारण करना वेदों में बहुत जगह लिखा है और इसका प्रत्यक्ष परिचय है । ओम् १ यह २ एक अक्षर ३ सि० ब्रह्म का वाचक होने से * ब्रह्म-स्वरूप है ४ सि० इसको दीर्घस्वर से * उच्चारण करता हुआ ५ सि० और इसका वाच्य जो ईश्वर मैं हूँ * मुझ सच्चिदानन्द ईश्वर का ६ स्मरण करता हुआ ७ जो अर्थात् ब्रह्म का जिज्ञासु ८ शरीर को ९ छोड़कर १० सि० अर्चिरादि मार्ग से * जाता है ११ वह १२ परम १३ गति को १४ प्राप्त होता है अर्थात् ऐसे उपासक का फिर जन्म नहीं होता । ब्रह्म-लोक में जाकर ज्ञान द्वारा परमानंद-स्वरूप आत्मा को प्राप्त होता है १५ ।

तात्पर्य—जैसे घंटा का शब्द वेग से उठकर फिर धीरे-धीरे कम होकर, जहाँ से उठता है वहीं समा जाता है । इसी प्रकार दीर्घस्वर से ओंकार का उच्चारण करना चाहिए । थोड़ी देर पीछे मकार में थम जाना चाहिए,—"ओंकारः सर्ववेदानां सारस्तत्त्वप्रकाशकः । तेन चित्तसमाधानं मुमुक्षूणां प्रकाश्यते ॥" असंख्यात श्लोकों में ओंकार का अर्थ है । वेद शास्त्रों में बहुत जगह जो नामोच्चारण का माहात्म्य लिखा है, वहाँ तात्पर्य इसी नाम के उच्चारण से है और तारक मंत्र यही है । चार वेद, षट् शास्त्र और पुराण आदि इसकी टीका हैं । इसके जप करने की विधि महात्माओं से श्रवण करके अवश्य ही अनुष्ठान करना चाहिए । अन्तकाल में एक बार उच्चारण करने से जो परम गति को प्राप्त होता है, तो फिर क्या कहना है कि पहिले से अभ्यास करनेवाले को परम गति प्राप्त होने में क्या सन्देह है । यह ओंकार सब वेदों का सार, महत्तत्त्व का प्रकाश करनेवाला, और चित्त का समाधान करनेवाला है ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

अन्वय—अनन्यचेताः १ यः २ माम् ३ सततम् ४ नित्यशः ५ स्मरति ६ पार्थ ७ तस्य ८ नित्ययुक्तस्य ९ योगिनः १० अहम् ११ सुलभः १२।

अर्थ—इस प्रकार धारण करके प्रतिदिन अभ्यास करनेवाला ही अन्तकाल में मेरा स्मरण कर सकता है। अभ्यास के विना अंतकाल में मेरा स्मरण कठिन है। श्रीभगवान् पहले भी यह बात कह चुके हैं, और फिर भी उसी का स्मरण कराते हैं। नहीं है अन्य पदार्थ में मन जिसका अर्थात् सिवाय परमेश्वर के और किसी पदार्थ (पुत्र, मित्र, स्त्री, धन आदि) में जिसका चित्त नहीं है १ सि० ऐसा ब्रह्म का जिज्ञासु * जो २ मुझको ३ निरन्तर ४ प्रतिदिन ५ स्मरण करता है ६ हे अर्जुन! ७ उस ८ नित्ययुक्त ९ योगी को १० मैं ११ सुलभ १२ सि० हूँ, दूसरे को नहीं अर्थात् प्रातःकाल से सायंकाल पर्यंत, और सायंकाल से प्रातःकाल पर्यंत अंतर न पड़े, अर्थात् आठों प्रहर के बीच में निद्रा, शौच, स्नान और भोजन आदि प्रमित क्रिया के अनन्तर, नारायण के सिवाय और किसी पदार्थ का चिंतन न हो। जब तक जीवित रहे तब तक सच्चिदानंद के सिवाय और कहीं मन विशेषता से न जाने पावे। ऐसे समाहित चित्त को मैं सुलभ हूँ, अर्थात् अंतकाल में मेरी प्राप्ति उसको निःसन्देह सुखपूर्वक होगी॥ १४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

अन्वय—महात्मानः १ माम् २ उपेत्य ३ पुनः ४ जन्म ५ न ६ आप्नुवन्ति ७ परमाम् ८ संसिद्धिम् ९ गताः १० दुःखालयम् ११ अशाश्वतम् १२।

अर्थ—आपकी प्राप्ति से क्या लाभ है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहते हैं। महात्मा अर्थात् विरक्त, वैराग्यवान् १ मुझको २ प्राप्त होकर अर्थात् सच्चिदानन्द-रूप होकर ३ फिर ४ जन्म को ५ नहीं ६ प्राप्त होते हैं ७ सि० क्योंकि वे जाते ही * परम ८ सिद्धि को अर्थात् जीवन्मुक्ति को ८। ९ प्राप्त हो

गए हैं १० सि० कैसा है वह जन्म ? * दुःखों का स्थान है ११ सि० फिर यह भी नहीं कि ऐसा ही बना रहे, क्योंकि उसका दूसरा विशेषण यह है कि * अनित्य है अर्थात् क्षणभंगुर है । दूसरे क्षण में दूसरा जन्म होते देर नहीं लगती १२ ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अन्वय—अर्जुन १ आब्रह्मभुवनात् २ लोकाः ३ पुनरावर्तिनः ४ कौन्तेय ५ माम् ६ उपेत्य ७ तु ८ पुनः ९ जन्म १० न ११ विद्यते १२ ।

अर्थ—ब्रह्म-लोक आदि की प्राप्ति में क्या आपकी प्राप्ति नहीं, सच्चिदानंद-रूप होने में ही आपकी प्राप्ति है, इस अपेक्षा में श्रीमहाराज कहते हैं कि नहीं सि० क्योंकि * हे अर्जुन ! १ ब्रह्म-लोक से लेकर २ सि० जितने मात्रयत्र * लोक ३ सि० हैं सब * पुनरावृत्तिवाले हैं अर्थात् सब लोकों में (वैकुंठ आदि में भी) जाकर लौट आता है, मनुष्य-लोक में जो ब्रह्म के साथ शुभ सच्चिदानंद को प्राप्त होता है, सो शुद्ध सच्चिदानंद निराकार का उपासक ही प्राप्त होता है । उसके सिवाय सब लौट आते हैं, क्योंकि वे शुभ शुद्ध सच्चिदानंद के उपासक नहीं अर्थात् ज्ञान-निष्ठ नहीं, वे भेदवादी हैं ४ सि० और * हे अर्जुन ! ५ सि० शुभ शुद्ध सच्चिदानंद के उपासक तो * शुभ सच्चिदानंद को ६ प्राप्त होकर ७ । ८ फिर ९ जन्म को १० नहीं ११ प्राप्त होते हैं १२ ।

तात्पर्य—ब्रह्म-लोक का अर्थ यह नहीं समझना कि वह लोक ब्रह्माजी का है, उसमें केवल ब्रह्माजी के उपासक जाते हैं और राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि के उपासक गो-लोक वा वैकुंठ आदि लोकों को जाते हैं । वे नित्य हैं, यह सब अर्थवाद है । स्थूल बुद्धिवालों के लिये स्थूल अर्थात् रोचक वाक्य हैं, क्योंकि सब देवताओं के उपासक अपने-अपने स्वामी के लोक को सबसे बड़ा और नित्य कहते हैं । प्रत्युत यह कहते हैं कि इसके सिवाय दूसरा कोई लोक नहीं है; इसके सिवाय गो-लोक आदि का वर्णन

वेदों में तो है नहीं, पुराणों में सुना जाता है । स्वर्ग का वर्णन वेदों में बहुत जगह है । पूर्वमीमांसावाले वेद का प्रमाण देकर स्वर्ग को नित्य और अनादि कहते हैं । अब विचारना चाहिये कि श्रीभगवान् ने स्वर्ग को क्यों अनित्य कहा; जो श्रुति हैं वे रोचक वाक्य हैं, उनको अर्थवाद समझना चाहिये । अब विचारो कि वेद की श्रुति को तो अर्थवाद और रोचक माना, फिर पुराणों के वाक्यों को रोचक और अर्थवाद मानने में क्या सन्देह है । प्रत्युत पुराणों का वाक्य तब तक प्रमाण के योग्य नहीं, जब तक उस वाक्य के अनुसार श्रुति न हो; क्योंकि कितने ही पुराण सन्दिग्ध हैं । हम स्पष्ट कहते हैं कि भागवत दो प्रसिद्ध हैं, उनमें से एक निःसंदेह मनुष्यकृत है । जब एक पंडित ने एक पुराण बनाकर अठारह सहस्र श्लोकों का प्रचार कर दिया, तो उन पुराणों में सन्देह क्यों जो श्रुति के अनुसार नहीं हैं । ब्रह्म-लोक न हो, पूर्णब्रह्म नारायण का लोक है । पूर्णब्रह्म सच्चिदानंद के उपासक उस लोक में जाते हैं । जब वही अनित्य है, तो औरों की अनित्यता में क्या सन्देह है । ब्रह्म-लोक में जाकर कोई तो ब्रह्माजी के साथ मुक्त हो जाते हैं, और कोई लौट आते हैं । यह बात भी इसी अध्याय में आगे कहेंगे ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

अन्वय—अहोरात्रविदः १ जनाः २ ते ३ ब्रह्मणः ४ यत् ५ अहः ६ सहस्रयुगपर्यन्तम् ७ विदुः ८ रात्रिम् ९ युगसहस्रान्ताम् १० ।

अर्थ—ब्रह्मलोक आदि इस हेतु अनित्य हैं, दिन-रात के जाननेवाले अर्थात् काल की संख्या करनेवाले १ सि० जो * पुरुष २ वे ३ ब्रह्माजी का ४ जो ५ दिन ६ सि० है, उसको * सहस्रयुगपर्यन्त ७ अर्थात् ४३२०००००० वर्ष कहते हैं ८ सत्ययुग १७२८०००, त्रेता १२९६०००, द्वापर ८६४०००, कलियुग ४३२०००, इन चारों युगों का जोड़ ४३२०००० वर्ष होते हैं । ४३२०००० को १००० से गुणा किया जावे तो चार अर्ब बत्तीस करोड़ ४३२००००००० वर्ष होते हैं । चार अर्ब बत्तीस करोड़ वर्ष का ब्रह्माजी का एक दिन होता है ८

सि० और रात्रि भी इतने ही वर्षों की होती है * रात्रि को ९ सि० भी * युगसहस्रांता १० सि० कहते हैं। इस प्रकार महीनों और वर्षों की कल्पना करके शतवर्ष की ब्रह्माजी की अवस्था है। जिस दिन ब्रह्माजी प्रयाण करते हैं, उसी दिन सब सावयव लोक नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्माजी का दिन-रात आठ अर्ब चौंसठ करोड़ ८६४०००००० वर्षों का होता है; इस संख्या के निरूपण करने का तात्पर्य वैराग्य से है। *

तात्पर्य--हजार युगों पर अंत है जिसका, उसको 'सहस्रयुगपर्यंत' कहते हैं, और हजार युगों का अंत है जिसका, उसको 'युगसहस्रान्ता' कहते हैं। सहस्रयुग शब्द का तात्पर्य सहस्र चौकड़ी से है॥ १७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

अन्वय—अहरागमे १ सर्वाः २ व्यक्तयः ३ अव्यक्तात् ४ प्रभवन्ति ५ रात्र्यागमे ६ अव्यक्तसंज्ञके ७ तत्र ८ एव ९ प्रलीयन्ते १०।

अर्थ—यह मनुष्य-लोक और इससे ऊपर तथा नीचे के कई लोक ब्रह्माजी की रात में नष्ट हो जाते हैं, और रातभर कारण-रूप होकर सब अविद्या में रहते हैं। सि० फिर * दिन के आगम में अर्थात् ब्रह्माजी का दिन उदय होते ही १ सब २ व्यक्ति अर्थात् सब भूत आकाश आदि कार्य के सहित ३ अव्यक्त से अर्थात् कारण-रूप से ४ प्रकट हो जाते हैं ५ और रात्रि के आगम में ६ अव्यक्त संज्ञा है जिसकी ७ उसमें ८ ही ९ लीन हो जाते हैं १०।

तात्पर्य--स्थावर और जंगम सब ब्रह्माजी की स्वप्न अवस्था में लय हो जाते हैं और जाग्रत् अवस्था में उसी स्वप्न में से सब प्रकट हो जाते हैं। ब्रह्मा और ब्रह्म-लोक आदि सहित यह संसार स्वप्न है। यह समझकर सच्चिदानंद आत्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ में प्रीति न करना चाहिए, क्योंकि और सब अनित्य हैं, अनित्य पदार्थ वर्तमान-काल में भी दुःख का हेतु होता है॥ १८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

अन्वय—अयम् १ भूतग्रामः २ सः ३ एव ४ अवशः ५ अहरागमे ६ भूत्वा ७ पार्थ ८ रात्र्यागमे ९ प्रलीयते १० भूत्वा ११ प्रभवति १२।

अर्थ—यह न समझना चाहिए कि नूतन सृष्टि में नए जीव उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जीव नित्य और अनादि हैं। और संसार अनित्य और आदि-अन्त-सहित है। इस वास्ते यह श्लोक वैराग्य के लिये कहते हैं। यह १ भूतों का समूह २ सि० जो पूर्व-कल्प में लय हो गया था * वह ३ ही ४ परतंत्र होकर अर्थात् अविद्या के वश होकर ५ दिन के आगम में ६ सि० प्रकट * होकर ७ हे अर्जुन! ८ रात्रि के आगम में ९ लय हो जाता है १० सि० और फिर दिन के आगम में स्थूल तथा सूक्ष्मरूप * होकर ११ प्रकट होता है १२।

तात्पर्य—'भूत्वा, भूत्वा' दो-बार कहने से यह अभिप्राय है कि जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक यह चक्र चला ही जाता है: इसवास्ते अवश्य ज्ञान में ही यत्न करना चाहिए। अथवा इस श्लोक का अन्वय ऐसा किया जाय कि हे अर्जुन! यह भूतों का समुदाय जो प्रथम कल्प में था, वह अवश होता हुआ रात्रि के आगम में लय होकर और फिर प्रकट होकर लय हो जाता है, और दिन के आगम में फिर प्रकट हो जाता है। इस अन्वय में भी वही अभिप्राय है॥ १९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

अन्वय—तस्मात् १ अव्यक्तात् २ तु ३ यः ४ सनातनः ५ भावः ६ अव्यक्तः ७ सः ८ परः ९ अन्यः १० सर्वेषु ११ भूतेषु १२ नश्यत्सु १३ न १४ विनश्यति १५।

अर्थ—सावयव लोकों को अनित्य कहकर शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप को परात्पर नित्य प्रतिपादन करते हैं, और उसीको परम गति; अपना धाम और अपने से अभिन्न कहते हैं, अर्थात्

सच्चिदानंद-स्वरूप परमेश्वर से जुदा न कोई धाम है और न कोई मुक्ति पदार्थ है। पूर्णब्रह्म, शुद्ध, सच्चिदानंद, नित्यमुक्त, आत्मा को जानना ही मुक्ति है, यही परमधाम है, और यही परमेश्वर का दर्शन अर्थात् प्राप्ति है। इससे भिन्न सब भ्रान्ति है, यही दो श्लोकों में कहते हैं, और तीसरे श्लोक में प्रथम पद 'पुरुषः स परः' तक अन्वय है। सि० चराचर का कारण जो अव्यक्त ७ * उससे अर्थात् पूर्वोक्त १ अव्यक्त से २ भी ३ जो ४ सनातन ५ पदार्थ ६ अव्यक्त ७ सि० है * वह ८ श्रेष्ठ ९ और विलक्षण १० सि० है। कैसा है वह कि * सब भूतों के ११। १२ नष्ट होने पर भी १३ नहीं १४ नष्ट होता है १५।

तात्पर्य—सोपाधिक अर्थात् मायासहित ब्रह्म को कारण अव्यक्त कहते हैं, और शुद्ध, सच्चिदानंद, अखंड, नित्यमुक्त, द्वैत एकरस, निराकार को शुद्ध अव्यक्त कहते हैं। ज्ञान-काल में उपाधि का नाश हो जाता है, फिर केवल अद्वैत, मायारहित, अखंड, सच्चिदानंद रह जाता है, इसी को अव्यक्त निराकार कहते हैं॥ २०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

अन्वय—अव्यक्तः १ अक्षरः २ इति ३ उक्तः ४ तम् ५ परमाम् ६ गतिम् ७ आहुः ८ तत् ९ मम १० परमम् ११ धाम १२ यम् १३ प्राप्य १४ न १५ निवर्तन्ते १६॥ २१॥

अर्थ—शुद्ध अव्यक्त सच्चिदानंद को अद्वैत अव्यक्त को १ सि० सच्चिदानंद से जुदा कोई और पदार्थ नहीं। अव्यक्त को १ सि० ही * अक्षर २ कहते हैं ३। ४ और उसको ५ सि० ही * परमा ६ गति अर्थात मोक्ष, मुक्त ७ कहते हैं ८ और वही ९ मेरा १० परम ११ धाम १२ सि० है। कैसा है, वह धाम * जिसको १३ प्राप्त होकर १४ नहीं १५ लौटकर आते हैं अर्थात् फिर सच्चिदानंद जीव को उपाधि का संबंध नहीं होता; क्योंकि ज्ञान से उपाधि का अत्यंत अभाव हो जाता है १६।

तात्पर्य—सब दुःखों की निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति को ही परमगति, मुक्ति और परमधाम कहते हैं। गो-लोक, सत्य-लोक, वैकुंठ,

अयोध्या, वृन्दावन और कैलास आदि सब इसी अव्यक्त सच्चिदानंद परम-धाम के नाम हैं, इस प्रकार समझकर जो वैकुंठ आदि को नित्य परात्पर कहे, तो उसका कहना सत्य है, और जो उनको सावयव और सच्चिदानंद से भिन्न कहे, अर्थात् वैकुंठ आदि को श्रेष्ठ मंदिर बतावे, और विष्णु आदि देवताओं को उन मंदिर आदि लोकों का स्वामी बतावे, यह अर्थवाद है। इस मंत्र में यह अर्थ स्पष्ट है कि परमात्मा से परमात्मा का धाम भिन्न नहीं, क्योंकि परमात्मा निराकार है। आश्रय साकारों को चाहिए। परमेश्वर अपने को अव्यक्त, अमूर्त, अक्षर, अखंड, अविनाशी कहते हैं। स्पष्ट समझकर भी जो फिर परमेश्वर को और उनके धाम को सावयव अर्थात् साकार कहे, वह मूर्खतम विना पुच्छ का पशु है, जिसका भगवद्वाक्य में विश्वास नहीं ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

अन्वय—पार्थ १ सः २ परः ३ पुरुषः ४ भक्त्या ५ लभ्यः ६ तु ७ अनन्यया ८ यस्य ९ भूतानि १० अन्तःस्थानि ११ येन १२ इदम् १३ सर्वम् १४ ततम् १५।

अर्थ—परमगति की प्राप्ति का सबसे श्रेष्ठ और मुख्य उपाय ज्ञानलक्षणा अनन्यपरा भक्ति है, इसी को उत्तम पुरुष, परमपुरुष और परमात्मा कहते हैं 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' यह श्रुति है। पुरुष से पर श्रेष्ठ कुछ नहीं। यही पुरुष परात्पर अवधि है, और यही परमगति है। हे अर्जुन! १ वह २ परम ३ पुरुष अर्थात् परब्रह्म पूर्ण नारायण सच्चिदानंद ४ भक्ति से ५ प्राप्त होता है ६ मि० 'तु' शब्द विलक्षण अर्थ में भी आता है। इस जगह विलक्षणता यह है कि भजन, कीर्तन, सेवा, प्रद-क्षिणा इत्यादि भक्ति का अर्थ नहीं है, क्योंकि उसके आगे 'अन-न्यया' विशेषण है। श्रीभगवान् कहते हैं कि परमात्मा भक्ति से प्राप्त होता है, परन्तु कैसी भक्ति से * अनन्य से ७। ८ सिवाय सच्चिदानन्द के अन्य दूसरा और कोई पदार्थ जिसकी वृत्ति में नहीं है ऐसी वृत्ति से परमात्मा प्राप्त होता है। घंटा बजाना, परिक्रमा करना यह तो बालक, मूर्ख और बहिर्मुख विषयी भी कर सकते हैं। सुन्दर पदार्थ में सबका मन लग

जाता है। इसके सिवाय यह बात स्पष्ट है कि श्रीभगवान् अर्जुन को उपदेश करते हैं। श्यामसुन्दर-स्वरूप तो अर्जुन को प्राप्त ही है, सच्चिदानंद निराकार आत्मा का ही उसको ज्ञान नहीं, उसीको परम पुरुष श्रीभगवान् बताते हैं। जिसके ९ भूत १० सि० आकाश आदि * भीतर स्थित हैं अर्थात् सब जगत् सोपाधिक सच्चिदानंद कारण ईश्वर में स्थित है ११ सि० और * जिससे १२ यह १३ सब १४ व्याप्त है अर्थात् सब जगत् में सच्चिदानंद 'अस्ति, भाति' होकर पूर्ण हो रहा है १५ ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

अन्वय—यत्र १ काले २ तु ३ प्रयाताः ४ योगिनः ५ अनावृत्तिम् ६ आवृत्तिम् ७ च ८ एव ९ यान्ति १० भरतर्षभ ११ तम् १२ कालम् १३ वक्ष्यामि १४।

अर्थ—ज्ञानी जीते ही ब्रह्माजी से स्वतन्त्र होकर मुक्त होता है और ब्रह्म का उपासक ब्रह्माजी से परतन्त्र होकर मुक्त होता है, और कर्म-निष्ठावाले तथा भेद उपासनावाले सदा परतंत्र रहते हैं। स्वर्ग आदि में जाकर, सालोक्य आदि मुक्ति को प्राप्त होकर, फिर जन्म-मरण-चक्र में घूमते हैं। सो इन परतंत्र मुक्तिवालों का मार्ग मुझसे सुनो। ब्रह्म-ज्ञान के बिना इनका जो हाल होता है, वह आगे दो श्लोकों में कहूंगा। बहिर्मुख, विषयी, पामर, इनका तो कुछ प्रसंग ही नहीं, ये तो संसार में डूबे रहते हैं। जिस मार्ग में १। २। ३ जाते हुए ४ योगी ५ अनावृत्ति ६ आवृत्ति को ७। ८। ९ प्राप्त होते हैं १० हे अर्जुन! ११ उस १२ मार्ग को १३ मैं कहूंगा १४ सि० आगे दो श्लोकों में उन मार्गों के कहने से मेरा यह अभिप्राय है कि जहाँ तक हो सके स्वतन्त्र होना चाहिए * "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं। सोचि विचारि देखु मनमाहीं ॥"

तात्पर्य—कर्मनिष्ठ और भेदवादी आवृत्ति मार्ग होकर, परतंत्र और पराधीन स्वर्ग आदि को जाते हैं। ब्रह्म के उपासक अनावृत्ति मार्ग हो-

कर ब्रह्म-लोक को जाते हैं। ज्ञानी महात्मा स्वतन्त्र होकर सबसे पहिले मुक्त होते हैं, वे किसी के घर नहीं जाते, निजानंद को प्राप्त होते हैं ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अन्वय—अग्निः १ ज्योतिः २ अहः ३ शुक्लः ४ षण्मासाः ५ उत्तरायणम् ६ तत्र ७ प्रयाताः ८ ब्रह्मविदः ९ जनाः १० ब्रह्म ११ गच्छन्ति १२।

अर्थ—सच्चिदानंद ब्रह्म निराकार के उपासकों का अनादि मार्ग कहते हैं अर्थात् ब्रह्मपद की ये मंज़िलें हैं। अग्नि १ ज्योति २ दिन ३ शुक्लपक्ष ४ छः महीने उत्तरायण ५। ६ इस मार्ग में ७ जाते हुए ८ ब्रह्म के जाननेवाले अर्थात् ब्रह्मउपासक ९ जन १० मि० क्रम से अर्थात् उत्तरोत्तर * ब्रह्म को ११ प्राप्त होंगे अर्थात् फिर उनका जन्म न होगा। ज्ञान द्वारा परमानंद-स्वरूप आत्मा को प्राप्त होंगे १२।

तात्पर्य—ब्रह्म के उपासक पहले अग्नि के देवता के पास पहुँचेंगे, फिर वह देवता ज्योति के देवता के पास पहुँचा देगी। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। क्रमशः ब्रह्म-लोक में पहुँचेंगे, फिर ब्रह्माजी के साथ मुक्त हो जायँगे। अग्नि आदि शब्द देवताओं का उपलक्षण है, तात्पर्य देवताओं से है। यह मार्ग सनातन श्रौत उपासना का है इस प्रकार की उपासना इन दिनों में बहुत कम करते हैं, प्रत्युत इसके जाननेवाले भी कम हैं। इसका कारण यह है कि जिस उपासना में रूप, रंग, नृत्य आदि हैं, उस उपासना में आसक्त हो रहे हैं। यथार्थ उपासना और भक्ति वह है, जो वेद शास्त्रों में बतलाई गई है ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

अन्वय—तथा १ धूमः २ रात्रिः ३ कृष्णः ४ षण्मासाः ५ दक्षिणायनम् ६ तत्र ७ योगी ८ चान्द्रमसम् ९ ज्योतिः १० प्राप्य ११ निवर्तते १२।

अर्थ—कर्म-निष्ठावालों का आवृत्तिमार्ग कहते हैं, अर्थात्

वह रास्ता कि जिस रास्ते से जाकर लौट आते हैं जैसे अनावृत्ति मार्गवाले ब्रह्मवित् अग्नि आदि देवताओं को प्राप्त होकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, फिर उनका जन्म नहीं होता, वैसे १ सि० कर्म-निष्ठ अर्थात् आवृत्ति मार्गवाले धूम आदि देवताओं को पहले प्राप्त होकर, फिर स्वर्ग-लोक को प्राप्त होकर, लौट आते हैं। उनकी मंज़िल यह है * धूम २ रात्रि ३ कृष्णपक्ष ४ छः महीने दक्षिणायन ५। ६ इन रास्तों में ७ सि० जाता हुआ * कर्म-योगी ८ चांद्रमस ९ ज्योति को अर्थात् स्वर्ग को १० प्राप्त होकर ११ लौट आता है १२ सि० मनुष्य-लोक को *

तात्पर्य--पहिले धूम के पास जाता है; फिर रात्रि के, फिर कृष्णपक्ष के, फिर दक्षिणायन के, इस प्रकार क्रमशः स्वर्ग में पहुँचता है। जो निवृत्तिमार्ग में स्थित होकर अंतरंग उपासना करते हैं, अर्थात् सच्चिदानन्द अक्षर निराकार आत्मा का जो आराधन करते हैं, वे क्रम-क्रम से ब्रह्म-लोक में पहुँचकर मुक्त होते हैं। कर्म-निष्ठ वहाँ का भोग भोगकर लौट आते हैं। निषिद्ध कर्म करनेवाले नरक में जाकर फिर मनुष्यों में जन्म लेते हैं, और अतिनिषिद्ध कर्म करनेवाले चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमते हैं ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

अन्वय—शुक्लकृष्णे १ एते २ गती ३ हि ४ जगतः ५ शाश्वते ६ मते ७ एकया ८ अनावृत्तिम् ९ याति १० अन्यया ११ पुनः १२ आवर्तते १३ ।

अर्थ—शुक्ल और कृष्ण १ ये २ दो गति ३। ४ जगत् की ५ अनादि ६ मानी हैं ७ सि० क्योंकि संसार अनादि है, इस वास्ते इन दोनों मार्गों को भी महात्मा अनादि मानते हैं। 'हि' शब्द स्पष्ट करता है कि यह बात वेदशास्त्रों में प्रसिद्ध है * एक से अर्थात् शुक्ल मार्ग से ८ अनावृत्ति को ९ प्राप्त होता है अर्थात् फिर उसका जन्म नहीं होता। ब्रह्माजी के साथ मुक्त हो जाता है। तब तक ब्रह्म-लोक में दिव्य-भोग भोगता है और ब्रह्म-ज्ञान श्रवण करता है १० सि० और * अन्य से

अर्थात् दूसरे कृष्ण मार्ग से ११ फिर १२ जन्म-मरण को प्राप्त होता है १३ ।

तात्पर्य—कृष्ण मार्ग से जो स्वर्ग आदि को जाता है, वह लौट आता है, और जो शुक्ल मार्ग से जाता है, वह मुक्त होता है । जगत् कहने से सब जगत् नहीं समझना चाहिए । इस जगत् में ज्ञान-निष्ठ और कर्म-निष्ठ जो पुरुष हैं, उनकी ये दो गति हैं, सब जगत् की नहीं । भेदवादी उपासक आदि का कर्म-निष्ठ पुरुषों में अंतर्भाव है । ज्ञान प्रकाश-स्वरूप है, इसवास्ते उसको शुद्ध कहा, और कर्म तम-जड़-रूप है, इसवास्ते उसका मार्ग कृष्ण कहा । स्पष्ट बात है कि ज्ञान-मार्ग अज्ञान को दूर कर सकता है । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी प्रकाशवाले रास्ते जाते हैं और अज्ञानी (कर्मी) अंध-कार के रास्ते जाते हैं । अब विचारना चाहिए कि इन दोनों मार्गों में से ज्ञान-मार्ग श्रेष्ठ है, वा कर्म-मार्ग ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

अन्वय—पार्थ १ कश्चन २ योगी ३ एते ४ सृती ५ जानन् ६ न ७ मुह्यति ८ अर्जुन ९ तस्मात् १० सर्वेषु ११ कालेषु १२ योगयुक्तः १३ भव १४ ।

अर्थ—पूर्णब्रह्म सच्चिदानंद का ध्यान करनेवाला योगी इन दोनों मार्गों में प्रीति नहीं करता । अर्थात् ब्रह्म-लोक आदि में जाने की इच्छा नहीं करता । ब्रह्माजी से पहले ही मुक्त हुआ चाहता है । हे अर्जुन ! १ कोई २ योगी ३ इन दो ४ मार्गों को ५ जानता हुआ ६ नहीं ७ मोह को प्राप्त होता है ८ सि० बहिर्मुख विषयी सब पदार्थों के भोगने की इच्छा करते हैं । जैसे इस लोक के भोग वैसे ही परलोक के, क्योंकि दोनों अनित्य दुःखदायी हैं । जो कोई ब्रह्म-लोक में जाकर मुक्त होंगे, उनको क्या दुःख है, इसका उत्तर यह है कि जैसे व्यवहार में, राज्य करने में, द्रव्य, ऐश्वर्य और ईश्वरता की प्राप्ति में, और उनके साधनों में भी तो सुख मानते हैं, और कहते हैं कि राज्य करने में क्या दुःख है, ऐसा ही यह प्रश्न है । विचार करो कि किसी के मकान में, उसकी आज्ञा से रहना दुःख है वा सुख ।

जिन्होंने सदा स्त्री, धन, राज्य आदि की सेवा टहल की है उनको सेवा में ही सुख प्रतीत होता है। इसी हेतु परमेश्वर के भी दास बनना चाहते हैं * हे अर्जुन! ९ इस कारण १० सब काल में ११। १२ योगयुक्त १३ हो १४।

तात्पर्य--कोई भी सच्चा योगी ब्रह्म-लोक आदि की इच्छा नहीं करता, क्योंकि इन मार्गों को जानता है और समझ जाता है कि जगह-जगह धक्के खाकर ब्रह्म-लोक में पहुँचेंगे। फिर वहां ब्रह्माजी पूछते हैं कि तू कौन है, ऐसी तू-तड़ाक नीच आदमी सहते हैं; महात्मा ऐसी जगह नहीं जाते, जहां कोई तू-तड़ाक करे। इसीवास्ते हे अर्जुन! उत्साह और धीरज से कमर बांध, दिन-रात गंगाप्रवाहवत् शुद्ध सच्चिदानंद का ध्यान कर पूर्ण सच्चिदानंद को ही प्राप्त होगा॥ २७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

अन्वय—यत् १ पुण्यफलम् २ वेदेषु ३ यज्ञेषु ४ तपस्सु ५ च ६ एव ७ दानेषु ८ प्रदिष्टम् ९ योगी १० इदम् ११ विदित्वा १२ तत् १३ सर्वम् १४ अत्येति १५ च १६ आद्यम् १७ परम् १८ स्थानम् १९ उपैति २०।

अर्थ—श्रद्धा बढ़ाने के लिये योग की स्तुति करते हैं। श्रीभगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! ध्यान-निष्ठ योगी का माहात्म्य सुनो। जो १ पुण्यफल २ वेदों में ३ सि० और * यज्ञों में ४ और तप में ५।६।७ सि० और*दान में ८ सि० वेद, शास्त्र और महात्माओं ने * कहा है अर्थात् सांग और सोपांग विधिवत् वेदों के अध्ययन करने में जो पुण्य का फल होता है, जैसा शास्त्र ने कहा है ९ ध्यान-निष्ठ योगी १० यह ११ जानकर अर्थात जो पीछे कहा गया, वह सब फल मुझको हुआ, यह समझकर, अथवा सप्त प्रश्नों का अर्थ भले प्रकार जानकर और उनका भले प्रकार अनुष्ठान करके १२ उस १३ सबको १४ उलँघ जाता है अर्थात् यह फल अवान्तर, बीच का फल, जिसको गौण कहते हैं, उसको उलँघकर उससे श्रेष्ठ फल को

प्राप्त होता है १५ फिर १६ आदि १७ पर १८ स्थान को १९ प्राप्त होता है अर्थात् कारणब्रह्म को प्राप्त होता है २० ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे महापुरुषयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ९

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

अन्वय—इदम् १ तु २ ज्ञानम् ३ विज्ञानसहितम् ४ गुह्यतमम् ५ ते ६ प्रवक्ष्यामि ७ अनसूयवे ८ यत् ९ ज्ञात्वा १० अशुभात् ११ मोक्ष्यसे १२ ।

अर्थ—इस अध्याय में अचिन्त्य प्रभाव और अपनी अचिंत्य शक्ति का निरूपण करके, तत्पदार्थ की त्वं पदार्थ के साथ लक्ष्यार्थ में एकता दिखाकर, उसकी प्राप्ति का सुलभ उपाय निरूपण करेंगे, और वह उपाय सबके वास्ते साधारण है । सि० जो इस अध्याय में कहना है ※ यह १। २ ज्ञान ३ अनुभव के साथ ४ गुह्यतम ५ तेरे अर्थ ६ कहूँगा ७ सि० कैसा है तू ※ असूया-रहित है अर्थात् किसी के गुणों में अवगुण का आरोपण नहीं करता है ८ सि० किसी के गुणों में अवगुण का आरोपण करना बड़ा अनर्थ है । जो दूसरे के गुणों में अवगुणों का आरोप करेगा, वह ब्रह्म-विद्या का अधिकारी नहीं । इस विशेषण से अर्जुन को ब्रह्म-विद्या अधिकारी बतलाया है । कैसा है वह ज्ञान ※ जिसको ९ जानकर १० अशुभ (संसार) से ११ [तू] छूट जायगा १२ ।

तात्पर्य—'तु' यह शब्द ऐसी जगह आता है, जहाँ पूर्वोक्त से विशेष निरूपण होता है । धर्मतत्त्व गुह्य है, और उपासना का तत्त्व गुह्यतर है, और ज्ञान का तत्त्व गुह्यतम है । सो केवल तेरे कल्याण के अर्थ तुझसे कहूँगा, मेरा कुछ मतलब नहीं । ऐसे कौन हैं, जो गुणों में अवगुण निकालें

सो सुनो । ज्ञान-निष्ठा में जो तर्क करते हैं, श्रद्धा नहीं करते. जान-बूझकर ब्रह्म-विद्या का उलटा अर्थ करते हैं । तात्पर्य, ब्रह्मविद्या का अधिकारी जानकर तुझसे कहूंगा । तू मेरा भक्त है । इस ज्ञान के आश्रय से तू मुक्त होगा । कोई-कोई जो यह कहते हैं कि विना अद्वैत-ब्रह्म-ज्ञान के भी मोक्ष हो जाता है, सो नहीं, किन्तु इसी ज्ञान से, जो विज्ञान के सहित मैं कहूंगा, जिससे आत्मा अद्वैत जाना जावे, उससे मोक्ष होगा । तेरे द्वैत-ज्ञान में सन्देह नहीं । द्वैत-उपासना का साक्षात् फल मैं प्रत्यक्ष हूं । आत्मा का यथार्थ ज्ञान तुझको नहीं है, वह मैं विलक्षण कहूंगा । इसवास्ते इस श्लोक में 'तू' पद है ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अन्वय--इदम् १ राजविद्या २ राजगुह्यम् ३ पवित्रम् ४ उत्तमम् ५ प्रत्यक्षावगमम् ६ धर्म्यम् ७ कर्तुम् ८ सुसुखम् ९ अव्ययम् १० ।

अर्थ—इस श्लोक में ब्रह्म-ज्ञान के सब विशेषण हैं । यह १ सि० ब्रह्मज्ञान सब * विद्याओं का राजा है अर्थात् अठारह विद्याएँ जो प्रसिद्ध हैं, उन सबका यह राजा है २ सि० और * गुप्त पदार्थों का भी राजा है ३ सि० क्योंकि कोई विरले महात्मा जानते हैं और यह * पवित्र ४ सि० है, क्योंकि निरवयव पदार्थ है, चतुर्थ अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है कि ज्ञान के सदृश और कोई पदार्थ पवित्र नहीं, और सबसे * श्रेष्ठ ५ सि० है; क्योंकि अनेक जन्मों के पापों को, अनादि काल की अविद्या को एक क्षण में नाश कर देता है * दृष्ट-फलवाला है ६ सि० क्योंकि जीवित अवस्था में ही आत्मा का अनुभव करता है, अर्थात् ज्ञानी को परात्पर परमानंद नित्यमुक्त की प्राप्ति जीते ही होती है; क्योंकि ज्ञानियों को जीवन्मुक्त कहते हैं, और * सब धर्मों का फल यही है, सब धर्म, कर्म, उपासना इसीके वास्ते हैं ७ सि० और * करने को अर्थात् अनुष्ठान करने के लिये ८ सुखवाला है ९ अर्थात् सुखपूर्वक इसका अनुष्ठान हो सकता है, क्योंकि अपना आत्मा सुख रूप है, सुख को सब जानते हैं, सुख पदार्थ के जानने में कुछ

प्रयत्न नहीं करना पड़ता। केवल इतना और समझना चाहिए कि मेरे हृदय में जो यह सुख प्रतीत होता है, इसका अखंड-अद्वैत-पुंज मैं हूं। वसिष्ठजी ने श्रीरामचंद्रजी से कहा है कि हे राम! फल के मिलने में विलंब और यत्न होता है, ज्ञान की प्राप्ति उससे भी जल्दी होती है; क्योंकि स्वयं शुद्ध आत्मा सदा प्राप्त है। केवल अज्ञान दूर होना चाहिए, और अज्ञान दूर होने में एक पल भी समय नहीं लगता। मूर्ख बका करते हैं कि अजी! ज्ञान बड़ा कठिन है। देखो श्रीभगवान् उनके मुख पर क्या धूल डालते हैं। जड़ पदार्थों के जानने में ज्ञान की इच्छा होती है। ज्ञान का स्वरूप जानने में क्या प्रयत्न करना चाहिए। जैसे कोई कहे कि मैं अपनी आंख नहीं देखता हूँ, तो उस मूर्ख से कहना चाहिए कि जिससे तू सबको देखता है वही तेरी आंख है। और, जैसे कोई कहे कि मेरे मुख में जीभ है वा नहीं, ऐसे ही अज्ञानी कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान हमको है वा नहीं। सो निश्चय से उसको ज्ञान नहीं, और न होगा; क्योंकि ज्ञान-स्वरूप आत्मा से पृथक् पदार्थ को ब्रह्म जानना चाहते हैं, तो वह कैसे प्राप्त होगा? सि० और इसका फल * अविनाशी १० सि० है, क्योंकि आत्मा नित्य है, आत्मा के अतिरिक्त सब पदार्थ अनित्य हैं, प्रत्युत, परमार्थ-दृष्टि से अभाव-रूप हैं * ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अन्वय—परन्तप १ अस्य २ धर्मस्य ३ अश्रद्दधानाः ४ पुरुषाः ५ माम् ६ अप्राप्य ७ मृत्युसंसारवर्त्मनि ८ निवर्तन्ते ९।

अर्थ—जब कि यह ब्रह्म-ज्ञान सर्व-गुण-संपन्न है, तो बहुत से लोग कर्मकांडी द्वैतवादी इसका क्यों नहीं आदर करते? यह शंका करके कहते हैं। हे अर्जुन! १ इस २ धर्म के ३ अश्रद्धावाले ४ पुरुष ५ अर्थात् जो ब्रह्म-ज्ञान में श्रद्धा नहीं करते वे ५ मुझको ६ न प्राप्त होकर ७ जन्म-मरण-रूप संसार-मार्गमें ८ भ्रमा करते हैं ९।

तात्पर्य—अन्तःकरण मैला होने से, और कम समझ से, कर्मकांडी, द्वैतवादी, उपासक आदि ब्रह्म-विद्या का श्रवण नहीं करते । इसहेतु वे इस परम धर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकते । और जो श्रवण भी करते हैं, पढ़ते भी हैं, तो उसका अर्थ उलटा समझते हैं । अर्थात् शास्त्र का अभिप्राय नहीं समझते, रोचक अर्थवाद वाक्यों में विश्वास करते हैं । सिद्धान्त में श्रद्धा नहीं करते, इसहेतु उनको उलटा ही फल मिलता है । अर्थात् वेदोक्त अनुष्ठान करने से परम फल (मुक्ति) होना चाहिए, सो वे आप अपने मुख से कहते हैं कि हम वृन्दावन के गीदड़ शृगाल हो जावें, परन्तु मुक्ति हम नहीं चाहते । इस वाक्य को विचारो जिनकी मुक्ति-फल में श्रद्धा नहीं, तो ज्ञान-निष्ठा, जो मुक्ति का साधन है, उसमें उनकी श्रद्धा कब हो सकती है ? चतुर्थ अध्याय में कह चुके हैं कि ज्ञान को श्रद्धावान् प्राप्त होता है । यह जो लोग बहिर्मुख हैं, और रूप रस आदि ही में सुख समझते हैं, अन्तः सुख नहीं जानते, यह बहिर्मुख होना ही ज्ञान-निष्ठा में अश्रद्धा का कारण है । और, यह न समझना चाहिए कि भक्ति और उपासना के बहाने से, जो रूप का देखना और शब्द का सुनना है, यह विषय विषवत् नहीं; इससे कुछ क्षति नहीं होती । किन्तु विषय सब बराबर हैं, भेद केवल इतना है, कि जैसे लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी । अर्थात् लौकिक प्रसिद्ध विषयों से वे अच्छे हैं । यह बात कुछ बुरा मानने की नहीं है । विचार कर देखो कि रामलीला आदि के देखनेवाले प्रायः विषयी, बहिर्मुख, पामर होते हैं, वा प्रेमी, वैराग्यवान, विवेकी, या (धन-संपन्न होते हैं ? और कुछ नये लोग जो श्रद्धापूर्वक ऐसी भक्ति को पुण्यजनक, मोक्षप्रद, परात्पर समझकर लगेंगे, वा लगते हैं, तो वे परिणाम में बहिर्मुख ही रहते हैं, वा अन्तर्मुख शम दम आदि साधन-संपन्न हो जाते हैं ? तात्पर्य यह है कि जो ऐसा-ऐसा रस चाखते हैं, उनको ज्ञान-निष्ठा आप ही फीकी लगेगी । यह व्यवस्था सुनी हुई है, अनुमान द्वारा मैं नहीं लिखी, किन्तु अपनी आंखों से देखी हुई और बरती हुई लिखी है । ऐसे आदमियों के सामने ज्ञान का नाम भी लेना दुःख का मूल है ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

अन्वय—मया १ अव्यक्तमूर्तिना २ इदम् ३ सर्वम् ४

जगत् ५ ततम् ६ सर्वभूतानि ७ मत्स्थानि ८ अहम् ९ तेषु १० न ११ च १२ अवस्थितः १३ ।

अर्थ—ज्ञान-निष्ठा के अनधिकारियों को फल के सहित कहकर, और अर्जुन को ज्ञान-निष्ठा में श्रद्धावान् असूयारहित समझकर, अर्जुन को सम्मुख करके ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं । मुझ १ अव्यक्त मूर्ति से अर्थात् सोपाधिक सच्चिदानन्द से २ यह ३ सब ४ जगत् ५ व्याप्त हो रहा है ६ अर्थात् इन्द्रिय और मन के विषय जो जो पदार्थ हैं, सबमें निराकार, सत्, चित्, आनन्द पूर्ण हो रहा है, ऐसा कोई पदार्थ नहीं कि जिसमें सत्ता, चैतन्यता और आनन्दता न हो । सब भूत (सूक्ष्म स्थूल) ७ मुझ सोपाधिक सच्चिदानन्द में स्थित हैं अर्थात् कल्पित हैं ८ क्रि० जैसे शुक्ति में रजत । और ९ मैं १० उनमें ११ नहीं १२ स्थित हूं १३ अर्थात् मैं असंग हूं मेरा किसी के साथ संबंध नहीं । जैसे यह कहते हैं कि घट में आकाश है, सो नहीं, वास्तव में घट ही आकाश में है । जो भीतर भी प्रतीत होता है तो भी निर्विकार असंग है १३ ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

अन्वय—भूतानि १ न २ च ३ मत्स्थानि ४ न ५ च ६ भूतस्थः ७ मे ८ योगम् ९ ऐश्वरम् १० पश्य ११ मम १२ आत्मा १३ भूतभृत् १४ भूतभावनः १५ ।

अर्थ—परमानंद-स्वरूप नित्यमुक्त निराकार परमात्मा में यह त्रिगुणात्मक जगत् स्थूल सूक्ष्म और इन दोनों का कारण अज्ञान कल्पित है । यह भी जिज्ञासु के समझाने के लिये अध्यारोप में कहा जाता है । वास्तव में तीन काल में यह जगत् नहीं है, अखंड अद्वैत नित्यमुक्त है, कल्पित शब्द भी कल्पित है । जो यह कहो कि इस कल्पना-रूप क्रिया का कर्त्ता, कर्म और अधिकरण कौन है, सो सुनो, यह सब अविद्या है अर्थात् कर्ता कर्म क्रिया अधिकरण यह सब अविद्या है । कल्पना करनेवाली भी अविद्या, कल्पना भी अविद्या, जो पदार्थ कल्पना

किया जाता है, सो भी अविद्या, जिसमें कल्पना होती है, सो भी अविद्या, जिससे जिसके लिये कल्पना होती है, वह भी सब अविद्या है। अविद्या का लक्षण क्या है; सुनो "अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव हि लक्षणम्।" अविद्या का अविद्या ही रूप है, और जो कोई यह प्रश्न करे कि चैतन्य-रूप आत्मा में अज्ञान होना असंभव है, उससे फिर पूछना कि जब तुम आप ही कहते हो, हम तो प्रथम ही कह चुके हैं कि तीन काल में अज्ञान है नहीं। और जो यह कहो कि अज्ञान हमको और बहुत लोगों को प्रतीत होता है, तो विचारना चाहिए कि आत्मा चैतन्य है वा जड़ है। प्रत्यक्ष में प्रमाण और युक्तियों की क्या आवश्यकता है, और तुम कैसे कहते हो कि ज्ञान-रूप में अज्ञान नहीं हो सकता, यह बातें अलौकिक हैं। सि० वही इस मंत्र में कहते हैं कि वास्तव में * भूत १ न २। ३ मुझमें स्थित हैं ४ और न ५। ६ सि० में * भूतों में स्थित हूं ७ सि० हे अर्जुन! * मेरे ८ सि० इस * योग और ईश्वरता को ९। १० देख अर्थात् विचार कर ११ सि० कि * मेरा १२ आत्मा अर्थात् मैं ही १३ सि० असंग नित्यमुक्त निर्विकार हूं और मैं ही * भूतों को धारण करता हूं १४ भूतों का पालन करता हूं १५ भूतों को जो धारण करे उसको भूतभृत् कहते हैं, जो भूतों का पालन करे उसको भूतभावन कहते हैं। और योग-शब्द जो इस मंत्र में है, इसका अर्थ अचिन्त्य शक्ति है। जगत् की रचना, स्थिति, लय के विषय बुद्धि को बहुत श्रम न देना चाहिए। केवल अपने कल्याण पर दृष्टि रखना योग्य है। जीव को यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मैं अज्ञान से जगत् में फँसा हुआ हूं, अपनी व्यवस्था, और अपने घर की व्यवस्था, मुझको मालूम नहीं, फिर परमेश्वर की व्यवस्था और उनकी लीला की व्यवस्था मैं कैसे जान सकूंगा। अज्ञान की निवृत्ति का उपाय करना चाहिए। जो पूछो कि क्या उपाय है, तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि अज्ञान ज्ञान से दूर होता है। ज्ञान किसको कहते हैं, इसका उत्तर बहुत सीधा और सहज है, परंतु अधिकारी

की समझ में आता है, और इस गीता-शास्त्र में जगह-जगह ज्ञान का उपदेश है। ज्ञान में श्रद्धा करना चाहिए, और जितेंद्रिय होकर तत्पर होना चाहिए, सद्गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त हो जायगा। जो श्रीभगवान् ने ऊपर निरूपण किया है वह सब समझ में आ जायगा। इस बात में केवल विद्या और चर्चा का काम नहीं, तीनों साधन जो पीछे कहे गए हैं, वे प्रथम करना चाहिए पीछे विद्या और चर्चा भी चाहिए ॥ ५ ॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

अन्वय—यथा १ महान् २ सर्वत्रगः ३ वायुः ४ नित्यम् ५ आकाशस्थितः ६ तथा ७ सर्वाणि ८ भूतानि ९ मत्स्थानि १० इति ११ उपधारय १२ ।

अर्थ—दो श्लोकों में जो अर्थ पीछे निरूपण किया है, उसको दृष्टांत देकर स्पष्ट करते हैं। जैसे १ अप्रमाण २ सब जगत् में ३ वायु ४ सदा ५ आकाश में स्थित है ६ वैसे ही ७ सब ८ भूत ९ मुझमें स्थित हैं १० यह ११ जान तू १२ ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अन्वय—कौन्तेय १ कल्पक्षये २ सर्वभूतानि ३ मामिकाम् ४ प्रकृतिम् ५ यान्ति ६ कल्पादौ ७ पुनः ८ तानि ९ अहम् १० विसृजामि ११ ।

अर्थ—जगत् जैसे स्थित है सो व्यवस्था कहकर सृष्टि और लय की भी व्यवस्था कहते हैं, अर्थात् श्रीभगवान् यह कहते हैं कि जैसे जगत् के स्थिति-काल में मैं असंग हूँ, ऐसे ही सृष्टि और प्रलय-काल में भी मैं असंग हूँ। हे अर्जुन! कल्प के क्षय में अर्थात् प्रलय-काल में २ सब भूत ३ सि० सिवाय ब्रह्मवित् के * मेरी ४ प्रकृति को अर्थात् अपरा जो त्रिगुणात्मिका माया उसको ५ प्राप्त होते हैं ६ सि० सूक्ष्म-रूप होकर माया में लय हो जाते हैं और * कल्प के आदि में अर्थात् जगत् के सृष्टि-

समय ७ फिर ८ उनको ९ में १० रच देता हूँ अर्थात् प्रकट कर देता हूँ ११ ।

तात्पर्य--माया, उसका कार्य, और परा प्रकृति, जीव-रूप, सब परतंत्र हैं, स्वतंत्र कोई नहीं । सब ईश्वराधीन हैं । इसवास्ते सदा ईश्वर का आराधन करना योग्य है, जो स्वतंत्र और मुक्त होना चाहते हो ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अन्वय—स्वाम् १ प्रकृतिम् २ अवष्टभ्य ३ इमम् ४ कृत्स्नम् ५ भूतग्रामम् ६ पुनः ७ पुनः ८ विसृजामि ९ प्रकृतेः १० वशात् ११ अवशम् १२ ।

अर्थ—निराकार निरवयव आप जगत् को कैसे रचते हो, यह शंका करके कहते हैं । अपनी १ प्रकृति को २ वश करके अर्थात् माया के साथ सम्बन्ध करके ३ इस ४ समस्त ५ भूतों के समूह को ६ बार-बार ७ । ८ मैं रचता हूँ ९ सि० कैसा है यह भूतग्राम, अर्थात् जगत् प्रकृति के १० वश मे ११ परतंत्र है १२।

तात्पर्य--यह जगत् अपने कर्मों के वश में है, स्वतंत्र नहीं है । त्रिगुणात्मक जो अज्ञान है, वह शुद्ध सत्त्व-प्रधान हो माया कहलाता है । उस माया के सम्बन्ध से जगत् रचता हूँ । और उसके मैं वश नहीं, वह मेरे अधीन है । और वही अज्ञान मलिन सत्त्व-प्रधान हो अविद्या कहलाता है । यह समस्त जगत् अविद्या के अधीन हो रहा है, अर्थात् अवश अर्थात् परतंत्र हो रहा है । उनके कर्मों के अनुसार उनको बार-बार मैं रचता हूँ । बार-बार कहने से यह तात्पर्य है कि यह जगत् अनादि है । असंख्य बार उत्पन्न हुआ और नाश हुआ । यह सब जगत् अविद्या के वश में है और अविद्या ईश्वर के वश में है ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

अन्वय--धनञ्जय १ तानि २ कर्माणि ३ माम् ४ न च ५ निबध्नन्ति ६ उदासीनवत् ७ आसीनम् ८ तेषु ९ कर्मसु १० असक्तम् ११ ।

अर्थ—जब जगत् की रचना, पालन और संहार करना, इन क्रियाओं को आप करते हो, तो वे कर्म आपको जीववत् बंधन क्यों नहीं करते, यह शंका करके कहते हैं। हे अर्जुन! १ सि० जगत् की रचना आदि जो कर्म हैं * वे २ कर्म ३ मुझको ४ नहीं ५ बन्धन करते हैं ६ सि० क्योंकि मैं * उदासीनवत् ७ स्थित हूँ ८ उन कर्मों में ९। १० असक्त नहीं ११।

तात्पर्य—असक्त और आसीन, ये दोनों मां-शब्द के विशेषण हैं। उदासीन भी होना और कर्म भी करना। इसका तात्पर्य कर्म-फल के विषय उदासीन रहना है। जो जीव कर्म-फल के विषय उदासीन होकर कर्म करे, वह भी कर्म से बद्ध नहीं होता, फिर मैं कैसे बद्ध हो सकता हूँ॥ ९॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

अन्वय—प्रकृतिः १ मया २ अध्यक्षेण ३ सचराचरम् ४ सूयते ५ कौन्तेय ६ अनेन ७ हेतुना ८ जगत् ९ विपरिवर्तते १०।

अर्थ—जगत् की रचना आदि क्रिया में विषम दोष प्रतीत होता है, यह शंका करके कहते हैं। प्रकृति १ मुझ २ अध्यक्ष-रूप से अर्थात् मुझ निमित्त-मात्र कारण से ३ सचराचर ४ सि० जगत को * उत्पन्न करती है ५ हे अर्जुन! ६ इस ७ हेतु ८ जगत् ९ वारंवार उत्पन्न होता है १०।

तात्पर्य—जगत् की रचना आदि क्रिया में प्रकृति उपादान कारण है, और मैं निमित्त कारण हूं। वह प्रकृति मेरी अचिन्त्य शक्ति है, मुझसे भिन्न नहीं, इस वास्ते मैं अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ। यह बात दृष्टांत के सहित भले प्रकार 'आनंदामृतवर्षिणी' के द्वितीय अध्याय में लिखी है। निमित्त कारण होना, और उदासीन रहना, ये दोनों हो सकते हैं, जैसे प्रकाश व्यवहार में निमित्त कारण है। विना प्रकाश कुछ व्यवहार भी नहीं हो सकता और प्रकाश में जो बुरा-भला कर्म करे, वह प्रकाश को नहीं लगेगा, क्रिया करनेवाले को लगेगा। इसी प्रकार यह विषम दोष माया में है, ईश्वर में नहीं। यह बात भले प्रकार विचारने योग्य है। जो ईश्वर जगत् का कर्ता कहा जावे, तो ईश्वर में विषम दोष आता है, और जो

माया को कर्ता कहा जावे, तो वह जड़ है, और जो जगत् को अनीश्वर कहा जावे, तो वेद-शास्त्र आदि सब व्यर्थ हुए जाते हैं । तात्पर्य यह है कि ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है । इसमें कोई दोष नहीं । चैतन्य का आश्रय अर्थात् सम्बन्ध लिये विना स्वतंत्र माया जगत् को नहीं रच सकती, और प्रकाशवत् ईश्वर को निमित्त-मात्र होने में कुछ दोष नहीं ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ॥
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

अन्वय—मूढाः १ माम् २ अवजानन्ति ३ मानुषीम् ४ तनुम् ५ आश्रितम् ६ मम ७ परम् ८ भावम् ९ अजानन्तः १० भूत-महेश्वरम् ११ ।

अर्थ—जैसा स्वरूप मैंने पहिले कहा, वैसा बहुत जीव मुझको नहीं जानते हैं । मनुष्यों के बराबर मुझको समझकर मेरा अनादर करते हैं । मेरे वाक्य में जो श्रद्धा नहीं करते, यही मेरी अवज्ञा है । मुझ निराकार को हठ से, अज्ञान से, मोह के वश होकर साकार कहते हैं । नित्य क्या है, और अनित्य क्या है, इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का जिसको विचार नहीं, ऐसे विवेक-रहित मूढ १ मेरा अनादर करते हैं मेरी अवज्ञा अर्थात् तिरस्कार करते हैं २ । ३ सि० मेरे किस स्वरूप का अनादर करते हैं, जिस * मनुष्य-सम्बन्धी ४ शरीर का ५ सि० मैंने * आश्रय किया है ६ अर्थात् दुष्टों के नाश करने, और साधुजनों या अपने भक्तों की रक्षा करने को मनुष्य आकारवाला जो मैं प्रतीत होता हूँ, उस स्वरूप को मूर्ख मनुष्य राजपुत्र इत्यादि ही समझते हैं, यही मेरी अवज्ञा है । (१ से ६ तक) मेरे ७ परम ८ प्रभाव को ९ नहीं जानते १० सि० अर्थात् मुझको ऐसा नहीं समझते कि यह * भूतों के महेश्वर हैं ११ ॥

तात्पर्य--महात्माओं और वेदों ने अध्यारोपापवाद-न्याय से निष्प्रपंच वस्तु जो सच्चिदानंद उसमें त्रिगुणात्मक जगत्प्रपंच निरूपण किया है । जैसे जिज्ञासु के समझाने के लिये तत्पद का वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, और त्वं

पद का वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ अध्यारोप में निरूपण किया है। और ईश्वर को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बतलाया है। फिर लक्ष्यार्थ में दोनों पदों की जैसी एकता कही है, उस सम्बन्ध और लक्षणादि से, जो जीव ईश्वर को इस प्रकार नहीं जानते अथवा जान-बूझकर अनादर करते हैं, शास्त्र के पढ़ने और सुनने से शास्त्रीय ज्ञान हो भी जाता है, तो भी उसमें श्रद्धा नहीं करते, अध्यारोप और पूर्व-पक्ष की श्रुति-स्मृतियों का प्रमाण दे-देकर वृथा वाद करते हैं, यही ईश्वर की अवज्ञा अर्थात् अनादर है। और अपने मनुष्य-शरीर में जो सच्चिदानंद आत्मा है, उसके परम प्रभाव को नहीं जानते। वर्णाश्रमवाला, औरों का दास, सिद्धान्त में भी सदा समझते हैं, यह सच्चिदानंद की अवज्ञा अर्थात् तिरस्कार है। इतिहास से इस बात को स्पष्ट करते हैं *।

* इतिहास—एक साहूकार अपने लड़के को घर में छोड़ परदेश चला गया। लड़का तरुण होकर अपने पिता को ढूँढ़ने के लिये निकला। ढूँढ़ता-ढूँढ़ता वह अपने पिता के पास पहुँच गया। पिता ने न लड़के को पहचाना और न लड़के ने पिता को। और उस लड़के को टहल करने के लिये नौकर रख लिया। लड़के ने कहा भी कि मैं अमुक देवदत्त साहूकार का लड़का हूँ, अपने पिता को ढूँढ़ने आया हूँ। उनका कहीं पता नहीं लगता। कोई कहीं बतलाता है और कोई कहीं। मैं बहुत दुःखी हो गया हूँ। साहूकार को यह सुनकर कुछ विश्वास हुआ, परन्तु मूर्ख सहवासियों के उपदेश से उसने पूर्ण विश्वास न किया कि यही मेरा लड़का है। सदा से उसी लड़के की तलाश में था, दिन-रात चाहता था कि किसी प्रकार मेरा लड़का मुझको मिले। एक सच्चा सद्गुणाकर विद्यावान् मनुष्य उस लड़के को पहिचानता था और उसी जगह का रहनेवाला था, जहाँ साहूकार का पहिला घर था। दैव-योग से वह आदमी साहूकार के पास आ पहुँचा। लड़के को देखा और पहिचाना, परन्तु साहूकार की प्रीति उस लड़के में पुत्रवत् न देखी। इसहेतु और अन्य कारण से भी साहूकार से यह न कहा कि इस लड़के में तेरी प्रीति पुत्रवत् क्यों नहीं है। साहूकार ने भी उससे कभी नहीं पूछा था, इसवास्ते कुछ भी न कहा। एक दिन एकांत में साहूकार ने उस आदमी से अपने लड़के के स्नेह की व्यवस्था कहकर लड़के का पता पूछा और लड़के के कहने के अनुसार कुछ विश्वास हुआ था और मूर्ख सहवासियों के कहने से लड़के में विश्वास नहीं किया था, यह सब व्यवस्था कही। उस आदमी ने कहा कि निःसंदेह तेरा लड़का यही है। यह सुनकर साहूकार पुत्र के आनंद में मग्न हो गया। लड़के को छाती से लगाकर बहुत सम्मान किया, और उन सहवासी उपदेश करनेवाले मन्त्रियों को मूर्ख समझा। उस आदमी के साथ, जिसने लड़के पर विश्वास कराया था, बहुत स्नेह किया और अपना सुहृद् हितकारी समझा। इस दृष्टांत के एक-एक पद में दार्ष्टांत हैं। भले प्रकार विचारो, जैसे साहूकार ने मूर्ख मन्त्रियों के उपदेश से लड़के का तिरस्कार किया, इसी प्रकार अज्ञानी जीवों ने मूर्खों के उपदेश से सच्चिदानंद आत्मा का तिरस्कार किया है। जो कोई कहे कि

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

अन्वय—मोघाशाः १ मोघकर्माणः २ मोघज्ञानाः ३ विचेतसः ४ राक्षसीम् ५ आसुरीम् ६ च ७ एव ८ प्रकृतिम् ९ मोहिनीम् १० श्रिताः ११।

अर्थ—जब तक शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप पूर्णब्रह्म आत्मा को नहीं जानता है, तब तक उसका कर्म, ज्ञान और आशा, ये सब निष्फल हैं; क्योंकि जो पदार्थ अनित्य है, अथवा दीवार में चित्रवत् प्रतीत होता है, ऐसे पदार्थों की आशा रखना और उनके लिये प्रयत्न करना, ये सब निष्फल हैं। अनित्य फल की प्राप्ति भी हो जावे, वह भी निष्फल है; प्रत्युत, पहले से भी अधिक दुःख का हेतु है। प्राप्त होकर जो पदार्थ जाता रहे, उससे उस पदार्थ का न मिलना अच्छा है। पिछले मन्त्र में जो मूढ़-शब्द है, उसी के विशेषण इस मन्त्र में हैं। सि० कैसे हैं वे मूढ़ कि * निष्फल है आशा जिनकी अर्थात् सच्चिदानंद-रूप आत्मा से अन्य ईश्वर के मिलने की जो आशा रखते हैं, यह उनकी आशा निष्फल है? सि० क्योंकि आत्मा से भिन्न परमार्थ में कोई ईश्वर नहीं और * निष्फल हैं कर्म जिनके अर्थात् आत्मा से पृथक् ईश्वर, वा स्वर्ग वैकुंठ आदि की प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न करते हैं वे भी निष्फल हैं *

साहूकार के सहवासी मन्त्री उपदेष्टा तो मूर्ख अनजान थे, उनका क्या दोष था, तो इसका उत्तर यह है कि मूर्खों को मन्त्री और उपदेष्टा बनाना किसने कहा है। दार्ष्टांत में साहूकार के उपदेश करनेवालों को लोभी, विषयी, बहिर्मुख, प्रवृत्तिमार्गवाले समझना चाहिए। जैसे साहूकार के सहवासी मंत्रियों ने जान बूझकर, अपने खाने पीने का हर्ज समझकर, लड़के में विश्वास न होने दिया, इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्गवाले उपदेष्टा, आचार्य, गुरु, ये अपने विषयानंद में ब्रह्म-ज्ञान को विक्षेप का हेतु समझकर आत्मा में विश्वास नहीं होने देते। नाना प्रकार की युक्ति और तर्क सिखाते हैं। तात्पर्य, ब्रह्म-ज्ञान में मोहन भोग आदि पदार्थ खाने को, और फूलबँगला, हिंडोरा, नृत्य आदि देखने को, राग आदि सुनने को, स्त्री, छोकरे, राजा आदि धनी विषयी जन चेली-चेला करने को नहीं मिलते हैं। इसहेतु ब्रह्म-ज्ञान को भूसे का कूटना बताते हैं। ऐसे पुरुषों के लक्षण और कर्म-फल के सहित अगले मन्त्र में श्रीभगवान् निरूपण करेंगे।

सि० इसमें भी वही पहिला हेतु है। और * निष्फल हैं ज्ञान जिनके अर्थात् आत्मा से भिन्न जो-जो पदार्थ उन्होंने सच्चे समझ रक्खे हैं, वे सब झूठे हैं; क्योंकि आत्मा अद्वैत एक है। इस विशेषण से यह भी समझना चाहिए कि वे बालकवत् मूढ़ अज्ञानी नहीं, अनात्म-शास्त्र का उनको बहुत ज्ञान है। आत्मा को तो यथार्थ जानते नहीं; अनात्म-पदार्थ को बहुत जानते हैं। आत्मा के यथार्थ न जानने में, और मोघाश आदि होने में, ये दो हेतु हैं १।२।३ सि० प्रथम यह कि वे * विक्षिप्त-चित्त हैं, अर्थात् बहिर्मुख विषयी हैं, मूर्खवत् रूप, रस आदि विषयों की इच्छा रखते हैं, अंतःसुख में वृत्ति नहीं लगाते। यह हेतु हेतुगर्भित विशेषण है ४ सि० अर्थात् इसहेतु में दूसरा हेतु यह है कि * राक्षसी ५ और आसुरी माया ६।७।८।९ मोहमयी का १० आश्रय कर रक्खा है अर्थात् जैसे असुर और राक्षस देहाभिमानी होते हैं, ऐसे ही अज्ञानी अनात्मदर्शी होते हैं, क्योंकि जिसको अन्तरात्मानंद प्राप्त न होगा, वह निःसंदेह विषयानंद की कामना रक्खेगा। कामना से क्रोध आदि असुर राक्षसों का स्वभाव अवश्य होगा ११।

तात्पर्य—इन दोनों मंत्रों का अभिप्राय ज्ञाननिष्ठा में प्रयत्न करने के लिये है। अनात्मदर्शियों की निष्ठा हटाने में, और उनकी निन्दा करने में तात्पर्य नहीं; क्योंकि प्रवृत्ति-मार्ग भी अधिकारी के प्रति मोक्ष-मार्ग है ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय—पार्थ १ महात्मानः २ तु ३ अनन्यमनसः ४ दैवीम् ५ प्रकृतिम् ६ आश्रिताः ७ भूतादिम् ८ अव्ययम् ९ माम् १० ज्ञात्वा ११ भजन्ति १२।

अर्थ—ऐसे पुरुष परमेश्वर का आराधन करते हैं। हे अर्जुन! १ महात्मा पुरुष २।३ अनन्य मन हुए ४ दैवी ५ प्रकृति का ६ आश्रय किए हुए ७ आकाश आदि भूतों का कारण ८ अविनाशी ९ मुझको १० जानकर ११ सेवते हैं १२।

तात्पर्य--संसार को दुःखरूप और मुक्ति को मुख्य पुरुषार्थ समझकर संसार के विषयों से उपराम हो मोक्ष के लिये जो प्रयत्न करते हैं, वे महात्मा हैं। वे श्रीनारायण के सिवाय और किसी जगह पुत्र, मित्र, स्तुति, मान आदि में मन नहीं लगाते। सोलहवें अध्याय में दैवी संपत्ति के छब्बीस लक्षण कहेंगे, उन साधनों से संपन्न अर्थात् धीरजवाले, इंद्रियों को विषयों से विमुख करनेवाले परमेश्वर को ही सेवते हैं, स्त्री छोकरों को और बहिर्मुख धनी कामी जनों को नहीं सेवते ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

अन्वय--सततम् १ कीर्तयन्तः २ माम् ३ उपासते ४ नित्ययुक्ताः ५ भक्त्या ६ माम् ७ च ८ नमस्यन्तः ९ यतन्तः १० च ११ दृढव्रताः १२।

अर्थ--महात्मा जिस प्रकार भजन करते हैं, वह इन दो मंत्रों में वर्णन किया जाता है, सि० महात्मा * निरंतर १ कीर्तन करते हुए २ मुझको ३ सेवते हैं अर्थात् मोक्ष-शास्त्र का पढ़ाना और जिज्ञासुओं को सुनाना, विष्णुसहस्रनाम, गीता आदि का पाठ करना, नामोच्चारण करना, गुरुमंत्र जपना, और सबसे श्रेष्ठ है गायत्री का जप करना, यही मेरी उपासना है। इस प्रकार महात्मा मेरी उपासना करते हैं ४ सि० कैसे हैं वे कि सदा * युक्त हुए ५ प्रेम-लक्षणा भक्ति से ६ मुझको ७।८ नमस्कार करते हैं अर्थात् सदा यही स्मरण करते हैं कि विश्वम्भर नारायण हमारे स्वामी हैं। यह समझकर बहुत प्रीति और नम्रता के साथ ॐ नमो नारायणाय इत्यादि मंत्र पढ़कर बार-बार नमस्कार करते हैं ९ सि० फिर कैसे हैं कि मोक्ष-मार्ग में सर्वांग लगाकर सदा * यत्न करते हैं १०।११ सि० जैसे धन और स्त्री के चाहनेवाले रुपए के लिये और स्त्री के लिये प्रयत्न करते हैं। और फिर कैसे हैं कि * दृढ़ व्रत हैं जिनके १२।

तात्पर्य--ब्रह्मचर्य आदि व्रत में ऐसे दृढ़ हैं कि जहांतक बने स्वप्न में भी वीर्य को स्खलित नहीं होने देते। बुद्धिपूर्वक वीर्य का त्याग करना तो

महापामरों का काम है। यद्यपि गृहस्थों के वास्ते अपनी स्त्री का संग करना कहीं-कहीं लिखा है, परंतु वहां भी उनका अभिप्राय वीर्य के निरोध में ही है। जो पुरुष वीर्य का निरोध नहीं कर सकता उससे मोक्ष-मार्ग में प्रयत्न होना कठिन है, क्योंकि घर की पूँजी का तो वृथा व्यय करता है, फिर यह कैसे विश्वास हो कि यह कुछ बाहर से कमाई करके इकट्ठा करेगा। यह वीर्य एक अमोल प्रकाशमान रत्न है। जिसके भीतर यह रहेगा, वह भगवत्स्वरूप को देख सकेगा। और जिसने इस रत्न को खो दिया वह परमेश्वर के दर्शन की आशा न करे। इसी प्रकार खोटा धन अपने खर्च में नहीं लाना, किसी को किसी प्रकार दुःख नहीं देना, प्रारब्ध परमेश्वर पर विश्वास रखना, और भी ऐसे अनेक दृढ़ व्रत या नियम हैं, जिनमें यह सब परमेश्वर की भक्ति है ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

अन्वय—ज्ञानयज्ञेन १ माम् २ यजन्तः ३ उपासते ४ अन्ये ५ च ६ अपि ७ एकत्वेन ८ पृथक्त्वेन ९ बहुधा १० विश्वतोमुखम् ११।

अर्थ—सि० कोई महात्मा तो * ज्ञान यज्ञ से १ मुझको २ पूजते हुए ३ उपासना करते हैं अर्थात् मुझ सच्चिदानंद को सब भूतों में जानते हैं सि० क्योंकि साधु महात्मा भगवद्भक्तों का पूजन करना, उनकी सेवा या उपासना करना, उनको भगवद्रूप समझना, यह मेरी उत्तम उपासना है; क्योंकि जैसे मेरे रामकृष्ण आदि निमित्त अवतार हैं, वैसे ही साधु महात्मा मेरे भक्त नित्य अवतार हैं * और कोई ५।६।७ सि० लक्ष्यार्थ में जीव और ईश्वर को एक समझकर * अभेद (अद्वैत भावना) से ८ अर्थात् "सोऽहं, ब्रह्माहमस्मि" यही निरंतर निदिध्यासन करते रहते हैं ८ सि० और कोई * पृथक् भावना से अर्थात् परमेश्वर सच्चिदानंदघन सर्वज्ञता, भक्तवत्सलता, करुणा आदि अनेक गुणों और शक्तियों से युक्त नित्य-मुक्त प्रभु सगुण ब्रह्म हैं। यद्यपि मैं भी सच्चिदानंद हूँ, परंतु अनादि त्रिगुणमय माया में फँस रहा हूँ, उस पूर्णब्रह्म सगुण

कार की कृपा से छूटूँगा, और अपने परमानंद-स्वरूप को प्राप्त हूँगा। ये दोनों बातें भगवत्कृपा के विना प्राप्त न होंगी, यह समझकर पूर्णब्रह्म सच्चिदानंद की उपासना करते हैं ९ सि० और कोई * बहुत प्रकार का १० सि० मुझको समझकर मेरी उपासना करते हैं, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, शक्ति, गणेश, अग्नि, चन्द्र और राम कृष्ण आदि को साक्षात् मेरा ही रूप, मुझ सच्चिदानंद को मूर्तिमान् समझकर मेरी उपासना करते हैं, और कोई * विराट् विश्वरूप ११ मुझको समझकर मेरी उपासना करते हैं। अपने-अपने अधिकार में ये सब महात्मा हैं, काल पाकर पूर्णब्रह्म, शुद्ध, सच्चिदानंद, निराकार, निर्विकार, नित्यमुक्त मेरे स्वरूप को अवश्य प्राप्त होंगे ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

अन्वय—क्रतुः १ अहम् २ यज्ञः ३ अहम् ४ स्वधा ५ अहम् ६ औषधम् ७ अहम् ८ मंत्रः ९ अहम् १० एव ११ आज्यम् १२ अहम् १३ अग्निः १४ अहम् १५ हुतम् १६ अहम् १७।

अर्थ—पिछले मंत्र में दश अंकवाला जो (बहुधा) पद है उसकी व्याख्या चार मंत्रों में करते हैं। श्रौत यज्ञ १ सि० अग्निष्टोम आदि * अहम् अर्थात् मैं हूँ २ स्मार्त यज्ञ अतिथि अभ्यागत की पूजा इत्यादि पंचयज्ञ ३ मैं हूँ ४ पितरों को जिस मंत्र से अन्न दिया जाता है वह ५ मैं हूँ ६ मनुष्य आदि जो यव आदि भक्षण करते हैं वह ७ मैं हूँ ८ यज्ञ में जो पढ़े जाते हैं, ॐ नमः शिवाय इत्यादि मंत्र ९ मैं ही हूँ १०। ११ होम आदि का साधन १२ मैं हूँ १३ अग्नि १४ मैं हूँ १५ होम १६ मैं हूँ १७ अर्थात् ये सब अंतःकरण की शुद्धि के कारण हैं, और मोक्ष के साधन हैं ॥ १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

अन्वय—अस्य १ जगतः २ अहम् ३ पिता ४ माता ५ धाता ६ पितामहः ७ वेद्यम् ८ पवित्रम् ९ ओंकारः १० ऋक्सामयजुः ११ एव १२ च १३ ।

अर्थ—इस जगत् का १ । २ मैं ३ पिता ४ माता ५ विधाता ६ पितामह ७ सि० हूँ * जानने के योग्य ८ पवित्र (शुद्ध) ९ प्रणव १० ऋक्सामयजुष्, यह वेदत्रयी भी ११ । १२ । १३ सि० मैं हूँ *

तात्पर्य—उत्पन्न करनेवाला, पालन करनेवाला, कर्मों के फल को देनेवाला, वेद आदि प्रमाणों का विषय, प्रमेय, चैतन्य मैं ही हूँ सब वेद मुझको ही प्रतिपादन करते हैं । चकार से अथर्ववेद भी जानना चाहिए । ऋक् आदि वेद, और ॐ प्रणव भी मैं ही हूँ, और प्रमाता और प्रमाण भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

अन्वय—गतिः १ भर्ता २ प्रभुः ३ साक्षी ४ निवासः ५ शरणम् ६ सुहृत् ७ प्रभवः ८ प्रलयः ९ स्थानम् १० निधानम् ११ अव्ययम् १२ बीजम् १३ ।

अर्थ—कर्मों का फल १ पोषण करनेवाला २ समर्थ अर्थात् स्वामी ३ शुभाशुभ देखनेवाला ४ भोग-स्थान ५ रक्षा करनेवाला ६ निष्प्रयोजन हित करनेवाला ७ जगत् का आविर्भाव है जिससे ८ संहर्ता ९ सब भूत स्थित हैं जिसमें १० लय का स्थान ११ अविनाशी १२ बीज १३ सि० मैं हूँ * ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अन्वय—अहम् १ तपामि २ वर्षम् ३ उत्सृजामि ४ च ५ निगृह्णामि ६ अमृतम् ७ च ८ एव ९ मृत्युः १० च ११ सत् १२ असत् १३ च १४ अहम् १५ अर्जुन १६ ।

अर्थ—सि० ग्रीष्म-ऋतु में सूर्य में स्थित होकर * मैं १ सि० जगत् को * तपाता हूँ २ वर्षा को ३ वर्षाता हूँ ४ और ५

सि० जब कभी प्रजा पुण्य करना छोड़ देती है, तब वर्षा का* निग्रह कर लेता हूँ अर्थात् पानी नहीं बर्षाता हूँ ६ अमृत अर्थात् जीवन और मृत्यु अर्थात् भूतों का अदर्शन भी ७ । ८ । ९ । १० । ११ सि० मैं ही हूँ और * स्थूल १२ सूक्ष्म प्रपंच १३ । १४ मैं १५ सि० हूँ * हे अर्जुन ! १६ ।

तात्पर्य—महात्मा लोग इस प्रकार मुझको जानकर सर्वात्मदृष्टि से मेरी उपासना करते हैं १९ ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् २०

अन्वय—त्रैविद्याः १ सोमपाः २ पूतपापाः ३ यज्ञैः ४ माम् ५ इष्ट्वा ६ स्वर्गतिम् ७ प्रार्थयन्ते ८ ते ९ पुण्यम् १० लोकम् ११ आसाद्य १२ दिवि १३ दिव्यान् १४ देवभोगान् १५ अश्नन्ति १६ ।

अर्थ--जो कामना करके वेदोक्त भी कर्म करते हैं, उनका जन्म-मरण ज्ञान-निष्ठा के बिना दूर न होगा । प्राकृतों का अर्थात् मूढ़ों का तो कुछ प्रसंग ही नहीं, यह दो श्लोकों में कहते हैं । सि० जो * तीन वेद के जाननेवाले १ अमृत के पान करनेवाले २ पवित्र जन ३ सि० श्रौत स्मार्त * यज्ञों करके ४ मेरा ५ पूजन करके ६ स्वर्ग की प्राप्ति ७ चाहते हैं ८ वे ९ पुण्यफल १० सि० जो * स्वर्ग लोक उसको ११ प्राप्त होकर १२ स्वर्ग में १३ दिव्य अर्थात् अलौकिक, जो इस लोक में नहीं, स्वर्ग में ही है १४ उन देवभोगों को १५ भोगते हैं १६ ।

तात्पर्य—ऋक्, साम और यजुष् इन तीन वेदों के जाननेवाले, अर्थात् अथर्ववेद में ब्रह्म-विद्या विशेष है, उसको नहीं जानते । यज्ञ के शेष भाग को, अर्थात् यज्ञ में से बचा हुआ जो अन्न उसको अमृत कहते हैं । उस अन्न के भोजन करनेवालों का अंतःकरण शुद्ध हो जाता है, जो निष्काम होकर करेंगे । नहीं तो स्वर्ग को प्राप्त होंगे । बनिज वा नौकरी आदि लौकिक कर्म करनेवालों से वैदिक कर्म करनेवाले अच्छे हैं, इस हेतु वैदिक-कर्म करनेवाले पवित्र कहे जाते हैं । वेदोक्त कर्मों को कर्मकांडी ईश्वर जानते हैं, अर्थात् कर्म ही को स्वर्ग-फल का दाता समझते हैं ।

वेदोक्त कर्मों का निष्काम अनुष्ठान करना, अथवा भगवद्भक्ति और ज्ञान-निष्ठा-सम्बन्धी कर्मों का करना, बन्धन का हेतु नहीं, अंतःकरण की शुद्धि और जीवन्मुक्त होने का हेतु है। और मुक्ति के लिये भेद-उपासना भी अच्छी है, वैकुंठ आदि लोकों की प्राप्ति के लिये, और सावयव भगवन्मूर्ति की प्राप्ति के लिये जो मूर्तिमान् भगवत् की सकाम उपासना करते हैं, उसका भी इन्हीं लोगों में अन्तर्भाव है। बीस और इक्कीस, दो श्लोकों में यह प्रसंग है। जो फल अनित्य कर्मकांडियों को होगा वही फल भेदवादियों को होगा। मूर्तिमान् परमेश्वर की उपासना भी निष्काम करना चाहिए। रूप देखने के वास्ते न करे। उसका फल अनित्य और दुःख का हेतु होगा। जैसे प्रथम किसी समय दशरथ, कौशल्या, गोपी, यशोदा और नन्द आदि को हुआ है, और जो उसको दुःख न समझे, वह निःसंदेह करे॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१ ॥

अन्वय—ते १ तम् २ विशालम् ३ स्वर्गलोकम् ४ भुक्त्वा ५ पुण्ये ६ क्षीणे ७ मर्त्यलोकम् ८ विशन्ति ९ एवम् १० त्रयीधर्मम् ११ अनुप्रपन्नाः १२ कामकामाः १३ गतागतम् १४ लभन्ते १५।

अर्थ—वे अर्थात् शब्द स्पर्श आदि विषयों की कामनावाले, वेदोक्त कर्म करनेवाले, सकाम पुरुष १ उस २ विशाल स्वर्ग को ३। ४ भोग कर अर्थात् अपने कर्मों के फल को स्वर्ग में भोगकर ५ पुण्य के ६ नाश होते ही ७ मनुष्य-लोक में ८ प्राप्त होंगे ९ इस प्रकार १० वेदोक्तधर्म का ११ आचरण करनेवाले १२ भोगों की कामना करनेवाले १३ गतागत को १४ प्राप्त होते हैं १५।

तात्पर्य--स्वर्ग आदि में गए, फिर वहाँ से धक्के खाकर मनुष्य-लोक में आए, फिर भी वही कर्म किए। और जब खोटे कर्म बन गए, तब नरक में गए, वे लोग कभी नरक में, कभी स्वर्ग में, कभी मनुष्य-योनि में, कभी पशु-पक्षी की योनियों में सदा भटकते फिरा करते हैं। शुद्ध सच्चिदानन्द भगवत् से विमुख होकर भोगों के वश में फँसे रहते हैं। जब ऐसे लोगों की यह व्यवस्था है, तो जो सदा लौकिक बखेड़ों में ही लगा रहता है, उसकी व्यवस्था क्या कही जावे? यह एक बारीक बात सोचने के योग्य है

कि सकाम वैदिक-कर्म करनेवालों की तो यह व्यवस्था है, फिर पुराणोक्त सकाम कर्म और सकाम उपासना जो करते हैं, उनको क्या फल होगा। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार विचार करना चाहिए। प्रकट करके लिख देने में बहुत लोग जो मोक्ष-मार्ग का आश्रय लेकर भोग भोगते हैं वे दुःख पावेंगे। बुद्धिमान् मन में समझ लेते हैं। इस शास्त्र में जिस जगह सकाम कर्म का प्रसंग है, उस जगह अर्थ से सकाम उपासना को भी वैसा ही समझना चाहिए, और जिस जगह स्वर्ग आदि फल का प्रसंग है, उस जगह वैकुंठ आदि फल को भी वैसा ही समझना चाहिए ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

अन्वय—ये १ जनाः २ अनन्याः ३ माम् ४ चिन्तयन्तः ५ पर्युपासते ६ तेषाम् ७ नित्याभियुक्तानाम् ८ योगक्षेमम् ९ अहम् १० वहामि ११ ।

अर्थ—जो ज्ञान-निष्ठ पुरुष अभेद भावना से मेरी उपासना करते हैं, उनको इस लोक और परलोक के पदार्थ (मुक्ति पर्यन्त) देकर मैं ही रक्षा करता हूँ, यह कहते हैं। जो १ जन अर्थात् कर्मफल के संन्यासी, अभेद उपासक २ अनन्य ३ मेरा ४ चिन्तन करते हुए ५ उपासना करते हैं अर्थात् सदा वे यह चिन्तन करते रहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अंतःकरण से परे सच्चिदानंदस्वरूप, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, जो यह हमारा आत्मा है, यही पूर्णब्रह्म है, जिसको महावाक्य प्रतिपादन करते हैं। इससे अन्य और कोई सच्चिदानंद ब्रह्म नहीं। इस प्रकार अनन्य हो निदिध्यासन करते हैं। शरीर आदि विजातीय पदार्थों का तिरस्कार करके सजातीय पदार्थ सच्चिदानंद आत्मा में निर्मल अंतःकरण की वृत्ति का गंगावत् प्रवाह किया है जिन्होंने ६ उन ७ नित्य आत्म-निष्ठों को ८ योगक्षेम ९ मैं सोपाधिक सच्चिदानंद मायोपहित ईश्वर १० प्राप्त करता हूँ ११।

तात्पर्य—अप्राप्त पदार्थ के प्राप्त करने को योग कहते हैं, और प्राप्त पदार्थ की रक्षा करने को क्षेम कहते हैं। आत्म-निष्ठ पुरुषों को आत्मतत्त्व

की प्राप्ति मेरी कृपा से होती है, और मैं ही उसकी रक्षा करता हूँ, और करूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है। तब तक, जब तक कि ज्ञान निष्ठा का भले प्रकार परिपाक न होगा। जो कोई यह शंका करे कि जो भगवद्भक्त नहीं, उसको क्या रुपये आदि नहीं मिलते, और उनके पदार्थों की क्या रक्षा नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि जो भगवद्भक्त नहीं, वे आप दिन-रात पदार्थों के योगक्षेम में प्रयत्न करते हैं। फिर भी संदेह रहता है, और परमानंद-रूप मुक्ति से तो वे सदा विमुख रहते हैं। और जो भगवद्भक्त हैं, उनको मुख्यफल परमानंद-स्वरूप मुक्ति तो अवश्य ही मिलेगी, परंतु गौणफल शरीर-यात्रा के लिये अन्न वस्त्र आदि उनको विना यत्न प्राप्त होते हैं और उनकी रक्षा अंतर्यामी करता है। वे सदा निःसन्देह रहते हैं। जैसे कोई फल की इच्छा करके बाग में गया, वह फल तो उसको अवश्य ही मिलेगा और रास्ते में फुलवारी का देखना, सुगंध का सूँघना इत्यादि गौणफल उनको अपने आप मिल जाते हैं। और मुख्य फल भी प्राप्त होता है। भक्त और अभक्त के योगक्षेम में इतना भेद है ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अन्वय—कौन्तेय १ ये २ अपि ३ भक्ताः ४ श्रद्धया ५ अन्विताः ६ अन्यदेवताः ७ यजन्ते ८ ते ९ अपि १० माम् ११ एव १२ यजन्ति १३ अविधिपूर्वकम् १४ ।

अर्थ—जो भक्त आत्मा से भिन्न विष्णु, महेश, राम कृष्ण आदि देवतों को समझकर भेदभावना से, व्यास आदि के वाक्यों में विश्वास करके राम, कृष्ण, इंद्र आदि की उपासना करते हैं, वे भी परमेश्वर का ही भजन करते हैं। परंतु वह उनकी निष्ठा अज्ञानपूर्वक है, उसकी स्थिरता नहीं। इस मंत्र में श्रीभगवान् यह बात स्पष्ट वर्णन करते हैं। हे अर्जुन ! १ जो २ । ३ भक्त ४ श्रद्धा से ५ युक्त ६ अन्य देवता का अर्थात् सच्चिदानंद-स्वरूप आत्मा से पृथक् सावयव वा निरवयव देवता का ७ यजन पूजा सेवा ध्यान करते हैं ८ वे ९ भी १० मेरा ही ११ । १२ यजन करते हैं १३ सि० परंतु * अज्ञानपूर्वक १४ सि० यजन करते हैं *

तात्पर्य—उनके भजन में तो संदेह नहीं, परंतु वह उनका किया हुआ मेरा भजन अज्ञानपूर्वक है, क्योंकि उन्होंने वास्तव में न मेरा स्वरूप जाना, और न अपना। परंतु जो वह भजन निष्काम होगा, तो वे भी ज्ञान द्वारा अवश्य मुक्त होंगे, और उनका योगक्षेम भी मैं ही करूँगा। जो निष्काम भजन करता है, उसको विदेह मोक्ष पर्यंत पदार्थ मैं देता हूँ, और रक्षा करता हूँ, तो भी पशु-वृत्ति को अवश्य त्यागना चाहिए। जैसे पशु मनुष्यों का दास बना रहता है, वैसे ही अन्य देवता का उपासक देवता का पशु बना रहता है। जो आपको ब्रह्म नहीं जानता वह निराकार सच्चिदानंद होकर साकार-रूप का दास बनकर साकारों के अधीन रहता है, और आप भी साकार बनता है। इससे परे और क्या अज्ञान होगा। पूर्ण, अनन्य को परिच्छिन्न, तुच्छ, एकदेशी मानना, जड़ और चैतन्य, द्रष्टा और दृश्य को एक समझना, इससे परे और क्या अज्ञान होगा। तदुक्तम्—"अन्योऽसावहमन्योऽस्मीत्युपास्ते योऽन्यदेवताम्। न स वेद नरो ब्रह्म स देवानां यथा पशुः॥" तात्पर्यार्थ इस मंत्र का तात्पर्य ऊपर लिखा गया है॥ २३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

अन्वय—सर्वयज्ञानाम् १ भोक्ता २ च ३ प्रभुः ४ एव ५ च ६ अहम् ७ हि ८ माम् ९ तत्त्वेन १० न ११ तु १२ अभिजानन्ति १३ अतः १४ ते १५ च्यवन्ति १६।

अर्थ—पिछले मंत्र में कहा है कि भेदवादी अज्ञानपूर्वक मेरा भजन करते हैं, इस मंत्र में फिर उसी बात को स्पष्ट करते हैं। सब यज्ञों का १ भोक्ता २। ३ और स्वामी ४। ५। ६ मैं ७ ही ८ सि० हूँ * मुझको ९ तत्त्व से १० नहीं ११। १२ जानते १३ इसवास्ते १४ वे १५ गिर पड़ते हैं १६।

तात्पर्य—श्रौत स्मार्त सब यज्ञों का भोगनेवाला और मालिक मैं सच्चिदानंद हूँ। मुझको यथार्थ नहीं जानते, अर्थात् यह नहीं समझते कि फलदाता अंतर्यामी सच्चिदानंद मायोपहित एक शुद्ध सच्चिदानंद-रूप यज्ञों का स्वामी और फल का दाता है, और वही अविद्योपहित उस फल का भोक्ता है। और वह मुझ सच्चिदानंद-रूप आत्मा से पृथक् वास्तव में कोई सच्चिदानंद

नहीं। इस प्रकार जो ईश्वर का स्वरूप नहीं जानते, वे इसहेतु जन्म-मरण के चक्र में घूमते हैं। इस मंत्र में प्रभु-शब्द तत्पद का वाच्यार्थ है, और भोक्ता-शब्द त्वं पद का वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ में दोनों की एकता श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि प्रभु भी और भोक्ता भी दोनों मैं ही हूँ। अहं-शब्द का लक्ष्यार्थ में तात्पर्य है अर्थात् श्रीभगवान् कहते हैं कि मैं शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप मायोपहित तो सब यज्ञों का स्वामी फलदाता हूँ, और अविद्योपहित उसी फल का मैं ही भोक्ता हूं। अब विचार करना चाहिए कि जप, स्वाध्याय, इन्द्रिय, प्राण आदि का निरोध इत्यादि जो यज्ञ चतुर्थ अध्याय में श्रीभगवान् ने निरूपण किए हैं उनका भोक्ता ईश्वर है, वा जीव है ॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

अन्वय—देवव्रताः १ देवान् २ यान्ति ३ पितृव्रताः ४ पितॄन् ५ यान्ति ६ भूतेज्याः ७ भूतानि ८ यान्ति ९ मद्याजिनः १० माम् ११ अपि १२ यान्ति १३।

अर्थ—भेदभावना से वा अभेदभावना से, जो परमेश्वर का आराधन करते हैं, उन दोनों का फल इस मन्त्र में कहते हैं। देवतों के उपासक १ देवतों को २ प्राप्त होते हैं ३ पितरों के उपासक ४ पितरों को ५ प्राप्त होते हैं ६ भूतों के उपासक ७ भूतों को ८ प्राप्त होते हैं ९ मेरे उपासक १० मुझको ११ ही १२ प्राप्त होते हैं १३।

तात्पर्य—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण इत्यादि और इन्द्र आदि मूर्तिमान देवतों के आराधन करनेवाले सलोकता, सरूपता, समीपता और सायुज्यता, इन चार मुक्तियों को प्राप्त होते हैं। विनायक, मातृगण और भूतों के पूजनेवाले भूतों में जा मिलेंगे, और इस कलियुग में जो मीरा गूंगा आदि पीरों का (भूत-प्रेतों का) पूजन करते हैं, वे उनको ही प्राप्त होंगे, अर्थात् मरकर सब भूत-प्रेत बनेंगे। और मुझ शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप आत्मा को यजन करनेवाले, अर्थात् ज्ञान-निष्ठावाले मुझ नित्यमुक्त परमानन्द-स्वरूप निराकार निर्विकार को अवश्य प्राप्त होंगे, अर्थात् नित्यमुक्त परमानंद-स्वरूप ही हो जावेंगे। माम्-शब्द का अर्थ जो सावयव मूर्तिमान् वासुदेव

किया जावे, तो इस गीता-शास्त्र को योग-शास्त्र ब्रह्म-विद्या कहना ठीक नहीं होता, क्योंकि इस अर्थ में यह ग्रन्थ स्पष्ट एकदेशीय प्रतीत होता है। मूर्तिमान् वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र महाराज के उपासकों का यह ग्रन्थ हुआ, औरों को इससे क्या प्रयोजन रहा। यह बात नहीं, किंतु माम्-शब्द का अर्थ सच्चिदानंद निराकार है, सो वह नित्य है, उससे पृथक् सब अनित्य है, इतने में ही तात्पर्यार्थ समझ लेना चाहिए। श्रीमहाराज ने आठवें अध्याय में स्पष्ट कह दिया है कि ब्रह्म-लोक से बड़ा और कोई नहीं, क्योंकि उसका निरूपण वेदों में है। जब उसी को अनित्य कहा तो औरों को कैमुतिक-न्याय से अनित्य समझ लेना चाहिए। ब्रह्म-शब्द का अर्थ बड़ा बृहत् है। इस प्रकार नहीं समझना कि ब्रह्म-लोक केवल ब्रह्माजी के लोक को कहते हैं। ब्रह्माजी से विष्णु, महेश बड़े हैं, उनके लोक जुदे हैं, सो नहीं, किंतु पूर्णब्रह्म परमेश्वर के सावयव लोक का नाम ब्रह्म-लोक है और वह एक ही है। सत्य-लोक, वैकुंठ, कैलास आदि यह पुराणों की प्रक्रिया है ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

अन्वय—यः १ पत्रम् २ पुष्पम् ३ फलम् ४ तोयम् ५ मे ६ भक्त्या ७ प्रयच्छति ८ तत् ९ भक्त्युपहृतम् १० प्रयतात्मनः ११ अहम् १२ अश्नामि १३ ।

अर्थ—मैं परमेश्वर का दास हूँ, इस प्रकार भेद-भावना से श्रद्धापूर्वक परमेश्वर की जो भक्ति करते हैं, उनको ज्ञान-निष्ठा की प्राप्ति का सुलभ उपाय श्रीभगवान् बताते हैं। जो १ सि० भक्त * पत्र २ फूल ३ फल ४ जल ५ मेरे अर्थ ६ भक्ति से ७ अर्पण करता है ८ वह ९ भक्ति से अर्पण किया हुआ १० सि० पदार्थ थोड़ा भी रूखा सूखा * शुद्धान्तःकरणवाले का अर्थात् अपने भक्त का ११ मैं १२ सि० आदरपूर्वक प्रीति के साथ * खाता हूँ अर्थात् ग्रहण करता हूँ १३ ।

तात्पर्य—श्रीमहाराज कहते हैं कि मैं फल भोजन करता हूँ, फूल सूँघता हूँ, पत्र ग्रहण करता हूँ, जल पान करता हूँ। जैसे गुलदस्ते में फूल

भी होते हैं, उसको हाथ में ग्रहण करके फूलों को सूँघते हैं और पत्रों को देखते हैं। "दुर्योधन की मेवा त्यागी शाक विदुर घर खायो" इसी प्रकार किसी जगह पत्र का भी भोजन होता है ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

अन्वय—कौन्तेय १ यत् २ करोषि ३ यत् ४ अश्नासि ५ यत् ६ जुहोषि ७ यत् ८ ददासि ९ यत् १० तपस्यसि ११ तत् १२ मदर्पणम् १३ कुरुष्व १४ ।

अर्थ—परम करुणाकर श्रीभगवान उससे भी और सुलभ उपाय बतलाते हैं। पत्र आदि से जो श्रीनारायण का पूजन करना है, सो परतंत्र है; यह स्वतंत्र उपाय सुनो। हे अर्जुन! १ जो २ [तू] करता है ३ जो ४ [तू] खाता है ५ जो ६ [तू] होम करता है ७ जो ८ [तू] देता है ९ जो १० [तू] तप करता है ११ सो १२ सि० सब * [तू] मुझको अर्पण १३ कर १४ ।

तात्पर्य—लौकिक, वैदिक, शुभाशुभ जो तू कर्म करता है, अर्थात् जो तू खाता है, पहिनता है, होम करता है, तप करता है, हे अर्जुन! सब निष्काम होकर मुझको अर्पण कर, फल की इच्छा मत कर। "आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधि-स्थितिः। संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥" यह शरीर आपका घर शिवालय है, इस शरीर में सदाशिव-रूप सच्चिदानंद आत्मा आप हो। बुद्धि श्रीपार्वतीजी हैं। आपके साथ चलनेवाले नौकर प्राण हैं। यह जो मैं विषया-नंद के वास्ते विषय भोगता हूं, अर्थात् जो खाता हूं, पीता हूं, देखता हूं, सुनता हूं, सूंघता हूं, बोलता हूं, स्पर्श करता हूं, यही मैं आपकी पूजा करता हूं। मेरी निद्रा समाधि है। मेरा फिरना आपकी प्रदक्षिणा है। जो कुछ मैं बोलता हूं, वह सब आपकी स्तुति करता हूं। और भी जो कर्म करता हूं, हे चन्द्रशेखर! वह सब आपका ही आराधन करता हूं। आप आशुतोष हो, जल्दी मुझ पर कृपा करो, जिससे मैं विदेह मुक्ति को प्राप्त हूँगा ॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

अन्वय--एवम् १ शुभाशुभफलैः २ कर्मबन्धनैः ३ मोक्ष्यसे ४ संन्यासयोगयुक्तात्मा ५ विमुक्तः ६ माम् ७ उपैष्यसि ८ ।

अर्थ--निष्काम कर्म करनेवाले निष्फल नहीं रहते, उनको अनंत अविनाशी परमानंद फल प्राप्त होता है। इसहेतु हे अर्जुन! इस प्रकार तू मेरी भक्ति करता हुआ निःसंदेह मुझ अविनाशी परमानंद-रूप को प्राप्त होगा, यह इस श्लोक में कहते हैं। सि० जैसा निरूपण किया * इस प्रकार १ सि० मेरी भक्ति करता हुआ * शुभ अशुभ फल हैं जिनके २ सि० उन * कर्म बंधनों से ३ (तू) छूट जायगा ४ सि० फिर * संन्यास-योग से युक्त है आत्मा अर्थात् अंतःकरण जिसका ५ सि० ऐसा होकर तू * जीवन्मुक्त होकर अर्थात् शरीर-पात के पीछे ६ मुझ परमानंद-स्वरूप नित्यमुक्त पूर्ण ब्रह्म शुद्ध अनंत आत्मा को ७ (तू) प्राप्त होगा ८ ।

तात्पर्य—निष्काम उपासना करने से चित्त शुद्ध होकर एकाग्र हो जाता है, फिर कर्म उसको अपने आप बंधन विषय-रूप प्रतीत होने लगते हैं। उन सब कर्मों का त्याग करके विरक्त संन्यासी हो जाता है, तब विरक्त अवस्था में ज्ञान-निष्ठा प्राप्त होती है। फिर जीते-जी उस परात्पर परमानंद का अनुभव करता है और जीवन्मुक्त हो विचरता है। प्रारब्ध कर्म नाश होने के पीछे देह-पात हो जाता है। मूलाज्ञान कार्य सहित नष्ट हो जाता है। यही सब अनर्थों की निवृत्ति, और परमानंद की प्राप्ति है, इसी का नाम कैवल्यमुक्ति है ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

अन्वय—सर्वभूतेषु १ अहम् २ समः ३ न ४ मे ५ द्वेष्यः ६ अस्ति ७ न ८ प्रियः ९ तु १० ये ११ माम् १२ भक्त्या १३ भजन्ति १४ ते १५ मयि १६ तेषु १७ च १८ अपि १९ अहम् २०।

अर्थ—कोई प्राणी अपने को बड़ा समझवाला समझकर भगवद्भक्ति-रहित यह कहा करता है कि "विना भक्ति तारो तो तारिबो तिहारो है" यह आलसी विषयी बाहिर्मुखों की बात है। इस वाक्य से यद्यपि भगवत् की महिमा पाई जाती है, परंतु भक्ति का माहात्म्य जाता रहता है। इस वाक्य का तात्पर्य भगवन्माहात्म्य में समझना चाहिए। इस जगह भक्ति के माहात्म्य का प्रसंग है, क्योंकि भगवान् अपने को राग द्वेष आदि से रहित (सम) कहते हैं। दूसरे का भला बुरा राग-द्वेष के विना नहीं हो सकता। भक्ति के विना भगवान् यदि किसी का भला करें, तो बड़ी विषमता की बात है। अन्य जीव फिर भक्ति क्यों करेंगे। भगवद्भक्ति करना आवश्यक है, सोई कहते हैं। सब भूतों में अर्थात् भक्तों में और अभक्तों में १ मैं २ बराबर ३ सि० हूँ * न ४ मि० कोई * मेरा ५ वैरी ६ है ७ न ८ सि० कोई मेरा * प्यारा ९ मि० है * परंतु १० जो ११ मुझको १२ भक्ति से १३ भजते हैं अर्थात् मेरी भक्ति (सेवा) करते हैं १४ वे १५ मुझमें १६ मि० हैं * और उनमें १७। १८। १९ सि० हूँ * अर्थात् वे मेरे हृदय में हैं २० मुझको सदा उनके उद्धार करने का स्मरण बना रहता है, और मैं सदा उनके हृदय में विराजमान रहता हूँ। यह मेरी भक्ति का प्रताप है। जैसे अग्नि सम है, उसका किसी से राग द्वेष नहीं। परंतु जो अग्नि के पास जाता है, उसी का शीत दूर होता है। जो अग्नि का सेवन नहीं करता, उसका शीत दूर नहीं होता। इसी प्रकार जो भगवत् की भक्ति करते हैं, वे ही मुक्त होंगे। जनों में विषमता दोष है, क्योंकि कोई भक्ति करता है, कोई नहीं। ईश्वर में यह दोष नहीं है कि जो दो पुरुष भक्ति करें, उनमें से एक भक्त हो, एक न हो, तो ईश्वर में विषमता आवे। जो कोई यह शंका करे कि अजामिल आदि बहुत जीव विना भक्ति मुक्त हुए, यह उनका कहना झूठ है। उनके पहिले जन्मों की कथा श्रवण करना चाहिए, वे लोग योग-भ्रष्ट थे ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

अन्वय--चेत् १ अनन्यभाक् २ सुदुराचारः ३ अपि ४ माम् ५ भजते ६ सः ७ साधुः ८ एव ९ मन्तव्यः १० हि ११ सः १२ सम्यग्व्यवसितः १३ ।

अर्थ--भगवद्भक्ति का माहात्म्य और उसका अनकर्य प्रभाव कहते हैं। कदाचित् १ अनन्य भजन करनेवाला अर्थात् सब तरफ से मन को रोककर केवल श्रीनारायण का जो आराधन करता है २ सि० वह लोक-दृष्टि में यदि * अत्यंत दुराचार भी है अर्थात् वह स्नान आदि आचार नहीं भी करता, परंतु अनन्य हो ३ । ४ मुझको ५ भजता है अर्थात् सदा नारायण का ध्यान या श्रीकृष्ण आदि के चरित्रों का स्मरण करता रहता है, अथवा ज्ञान-निष्ठ महापुरुष आत्मानंद में मग्न रहता है ६ सो ७ साधु ८ ही ९ मानना योग्य है १० सि० कभी उसको बुरा नहीं समझना, मुख से बुरा कहना तो बड़ा ही अनर्थ है * क्योंकि ११ सो १२ भले प्रकार बहुत अच्छे निश्चयवाला है अर्थात् उसके भीतर का निश्चय अच्छा है १३ ।

तात्पर्य—निश्चय यह बात है कि पार हुए पीछे नौका का क्या काम है । आचार पूजा-पाठ तब तक है, जब तक श्रीमहाराज के चरण-कमल में, वा आत्म-स्वरूप में मन अनन्य होकर नहीं लगा "ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥" इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, वा मेरा भक्त, बेपरवाह, सब दिखावट के चिह्नों को, आश्रमों को त्यागकर, भगवद्भजन वा आत्म-निष्ठा के सिवाय सब वेद-शास्त्र की विधि को नमस्कार कर, पंचमाश्रम परमहंस अवस्था में विचरे । वेद में भी यह लिखा है कि जिसको वर्णाश्रम का अभिमान है, वह निःसंदेह श्रुति-स्मृति का दास है । और, जो वर्णाश्रम-रहित अपने को सर्वथा श्रीनारायण का दास वा सच्चिदानंद पूर्णब्रह्म आत्मा जानता है, वह श्रुति-मार्ग का उल्लंघन करके वर्तता है । अर्थात्

यह समझता है कि वेद की विधि तब तक है, जब तक स्त्री, पुत्र, धन, राज्य आदि का दास है। अनन्य नारायण का दास नहीं, और आत्मनिष्ठ नहीं। और यह प्रकट रहे कि यह कथा सच्चे पुरुषों की है, बिना भक्ति वा ज्ञान-भ्रष्ट भी ऐसे ही होते हैं। तथाहि "वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतिदासो भवेन्नरः। वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुतिमूर्धनि॥" ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

अन्वय—धर्मात्मा १ भवति २ क्षिप्रम् ३ शश्वत् ४ शान्तिम् ५ निगच्छति ६ कौन्तेय ७ प्रतिजानीहि ८ मे ९ भक्तः १० न ११ प्रणश्यति १२।

अर्थ—मि० अर्जुन, भक्ति का माहात्म्य सुनो। अनन्य भक्त दुराचारी भी * धर्मात्मा १ है २ शीघ्र ३ नित्य ४ शान्ति को अर्थात् उपरम उपशम को ५ प्राप्त होगा ६ हे अर्जुन! ७ सि० इस बात की * तू प्रतिज्ञा कर ८ मि० कि * मेरा ९ भक्त अर्थात् परमेश्वर का दुराचारी भक्त भी १० नहीं ११ भ्रष्ट होता है अर्थात् अधोगति को नहीं प्राप्त होता है १२ उपासनाकांड का यह सूत्र है "अथातो भक्तिजिज्ञासा" धर्म के पीछे भक्ति की जिज्ञासा होती है। इसहेतु प्रतीत होता है कि पहले जन्मों में वह धर्म कर चुका है, इसीवास्ते श्रीमहाराज ने भी उसको धर्मात्मा कहा, और अपने भक्त से (भुजा उठाकर) कहते हैं कि कुतर्कियों की सभा में यह प्रतिज्ञा करके भगद्भक्त दुराचारी भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है। भक्तिमार्गवालों का यह डंका बजता है॥ ३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

अन्वय—पार्थ १ ये २ अपि ३ पापयोनयः ४ स्युः ५ ते ६ अपि ७ माम् ८ हि ९ व्यपाश्रित्य १० तथा ११ शूद्राः १२ स्त्रियः १३ वैश्याः १४ पराम् १५ गतिम् १६ यान्ति १७।

अर्थ—मेरी भक्ति आचार-भ्रष्ट को जो पवित्र कर दे, तो

इसमें क्या आश्चर्य तू मानता है, हे अर्जुन! मेरी भक्ति रजोगुणी वा तमोगुणी जन्म के पापियों को कृतार्थ कर देती है। हे अर्जुन! १ जो २ निश्चय से ३ जन्म के पापी ४ सि० भी * हैं अर्थात् पापियों के कुल में, अन्त्यज, म्लेच्छ, वर्ण-संकरों में उत्पन्न हुए हों ५ वे ६ भी ७ मेरा ८ ही ९ आश्रय करके १० सि० परमगति मुक्ति को प्राप्त होंगे, पहले बहुत हो गए, अब भी हैं, और भी होंगे। और जैसे ये मेरा आश्रय लेकर मुझको प्राप्त होते हैं * वैसे ही ११ शूद्र १२ स्त्री १३ वैश्य १४ परमगति को १५। १६ प्राप्त होते हैं १७।

तात्पर्य—रजोगुणी, तमोगुणी, मूर्ख, पंडित, लुगाई ये सब लोग मेरा आश्रय लेकर मुझको प्राप्त होते हैं। मेरी कृपा और भक्ति के प्रताप से ज्ञानवान होकर सब परमानंद-स्वरुप आत्मा को प्राप्त होते हैं। मेरी भक्ति में सबका अधिकार है, भक्तजन ही मुझको प्यारे हैं। मेरा भक्त व्यवहार में कोई जाति कहलाता हो, चाहे शूद्र म्लेच्छ वा वर्णसंकर भी क्यों न हो, जो वह मेरा भक्त है, तो परमार्थ में उसको साधु संन्यासी समझना चाहिए, क्योंकि वही उत्तमपद का भागी है। ज्ञातृगुरुप (विद्वान्) व्यवहार में भी उसको श्रेष्ठ जानते हैं, परमार्थ में तो वह निःसन्देह सबसे श्रेष्ठ है। बारहवें अंक से सत्रहवें अंक तक की टीका लिखते हैं—मैत्रेयी, गार्गी, मदालसा, मीरा, करमेती इत्यादि हजारों स्त्रियां परमपद को प्राप्त हुई। वर्तमानकाल में भी बहुत-सी स्त्रियाँ उदार-चरिता, दात्री, तपस्विनी, ज्ञानी और भक्त-चित्ता प्रसिद्ध हैं। जिनकी सहायता से और मुख्यकर जिनके वास्ते यह टीका बनी, वे बीबी बीरा और बीबी जानकी दोनों ब्राह्मणी हैं। जानकी को दो विशेषण विद्वानों ने दिए हैं "ब्राह्मणवंशविद्वज्जनैर्वन्दिता" अर्थात् ब्राह्मणों के वंश में जो विद्वज्जन, वे भक्ति और विरक्ति के प्रताप से इसकी वन्दना करते हैं, और श्रीसम्प्रदायचन्द्रिका कहते हैं, अर्थात् श्रीसंप्रदाय के प्रकट और प्रसिद्ध करने के लिये यह जानकी चांदनी के सदृश है। गुजरात देशके अहमदाबाद नगरकी रहनेवाली, शंकरलालविष्णु नागर-ब्राह्मण की बेटी, मानकलाल सांकलला त की पत्नी, श्रीमती उत्तम गुणों की खान, अब श्रीवृन्दावन में वास करती है। घर में इसका नाम पार्वती था। जब यह श्रीसम्प्रदाय की शरण हुई, तब विधिवत् इसका द्वितीय नाम बीबी-

जानकी रक्खा गया। बीबी बीरा का द्वितीय नाम बीबी झूनिया भी प्रसिद्ध है। इन्होंने श्रीबीरबिहारीजी और बीरेश्वर महादेवजी का मंदिर बनवाकर सर्वस्व दान कर दिया। यह भी वृन्दावन में वास करती है। हरिराम सारस्वत-ब्राह्मण की बेटी, शिवदत्त की पत्नी है। सर्वस्व दान से विशेष कोई दान नहीं। सर्वस्व दान का फल अक्षय है, और जीते-जी प्रत्यक्ष होता है। इस विषय पर एक इतिहास है। श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीशंकराचार्य महाराजजी एक स्त्री. के घर भिक्षा के लिये गए। उस समय उस स्त्री के घर में कुछ न था। स्त्री बहुत पछताई। उसकी दशा देखकर श्रीमहाराज को करुणा आई, और कहा कि तेरे घर में जो दाना अन्न का या कोई फल सूखा पड़ा हो, ढूँढ़कर ला। एक आमला उस स्त्री को मिला। अतिसंकोच के साथ उसे महाराज के भिक्षा-वस्त्र में दिया। उस स्त्री के घर में सिवाय उस आमले के और कुछ न था। श्रीमहाराज ने सर्वस्व दान की कल्पना कर लक्ष्मीजी का आवाहन किया। लक्ष्मीजी आई। महाराज ने कहा, इस स्त्री को विशेष द्रव्य दो। महारानीजी ने कहा, इसको देने में इनकार नहीं, परंतु यह सप्त जन्म दरिद्री रहेगी, ऐसा इसके कर्म में है, और यह मर्यादा भी आपकी बाँधी हुई है। महाराज ने कहा, इसने इस समय सर्वस्व दान किया, इसका प्रत्यक्ष मनवांछित फल शीघ्र होना चाहिए। देवीजी बोलीं कि सत्य है, जो आज्ञा हो। महाराज ने कहा कि इसका घर सोने के आमलों से भर दो। उसी समय सोने के आमले उसके घर में बरसे, घर भर गया। श्रीमहाराज उस स्त्री को सर्वस्व दान का माहात्म्य सुनाकर, परमपद की प्राप्ति का वरदान दे, चले गए। भक्ति-मार्ग में तर्क का अवसर नहीं। स्त्री शूद्र आदि सब भक्ति करके परमपद के अधिकारी हैं। भक्ति का फल प्रत्यक्ष देखने के लिये बीबी जानकी और बीबी बीरा की कथा लिखी गई "भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर्नाम वपु एक। तिनके पद वंदन किए, नाशत विघ्न अनेक॥" अथवा "तिनके जस बरनन किए, नाशत विघ्न अनेक।" चारों का प्रभाव इस टीका में लिखा गया। ग्रंथ के बीच का यह मंगलाचरण है। आनंदचन्द्रप्रभा ग्रन्थ वार्तिक-भाषा में बीबी बीरा और बीबी जानकी ने मिलकर बनाया है। संख्या में दश हजार श्लोकों से कम नहीं, अधिक होगा। अ, क, ह इत्यादि अक्षरों की संख्या पर, अकार से हकार पर्यन्त कई सौ प्रामाणिक महानुभावों की कथाएँ

वैराग्य, विद्या और भक्ति इत्यादिकों के विषय पर लिखी हैं। उस ग्रंथ से, और शब्द आदि प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्त्री शूद्र आदि सब लोग भक्ति के प्रताप से परमगति को प्राप्त होते हैं। जिससे परे अन्य कोई श्रेष्ठ गति नहीं, उसको ही परमगति कहते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—तथा १ ब्राह्मणाः २ राजर्षयः ३ पुण्याः ४ भक्ताः ५ पुनः ६ किम् ७ अनित्यम् ८ असुखम् ९ इमम् १० लोकम् ११ प्राप्य १२ माम् १३ भजस्व १४ ।

अर्थ—व्यवहार में जो ब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते हैं, वे मेरी भक्ति से परमगति को प्राप्त हों, तो इसमें क्या कहना है, अर्थात् यह बात निःसंदेह है, इसमें व्यवहार और परमार्थ दोनों का सम्मत है। परन्तु मेरी भक्ति के बिना, हे अर्जुन! जो तू चाहे कि मैं व्यवहार में क्षत्रिय कहलाता हूँ, इस हेतु परमगति को प्राप्त हो जाऊँगा, इसका लेश-मात्र भी भरोसा मत रख। मैं तुझको समझाता हूँ कि यह व्यावहारिक जाति का अभिमान छोड़, जल्द मेरा भजन कर। शरीर का भरोसा नहीं, शरीर का नाम दुःखालय है, अर्थात् यह शरीर दुःखों का घर है। इसमें सुख की आशा छोड़। वर्तमान में तू जैसा है वैसा ही भजन कर। श्रीभगवान् कहते हैं कि जैसे व्यवहार में शूद्र वर्णसंकर आदि कहलाते हैं, वे मेरा आश्रय लेकर मुझको प्राप्त होंगे, अर्थात् परमगति को प्राप्त होंगे, वैसे १ सि० ही व्यवहार में जो * ब्राह्मण २ सि० और * राजऋषि (क्षत्रिय) ३ सि० कहलाते हैं, कैसे हैं वे कि व्यवहार में भी उनको जन्म से ही * पवित्र ४ सि० कहते हैं, वे मेरे * भक्त ५ सि० होकर, अर्थात् मेरी भक्ति करके परमगति को प्राप्त हों तो * फिर ६ क्या ७ सि० कहना है। अर्जुन इस बात का निश्चय रख, निःसन्देह तू भक्ति से परमगति को प्राप्त होगा। इस वास्ते * अनित्य ८ सि० और असुख अर्थात् नहीं है किसी काल में सुख जिसमें,

ऐसे ६ इस १० शरीर को ११ प्राप्त होकर १२ मेरा १३ भजनकर अर्थात् मुझको भज १४ ।

तात्पर्य—अनित्य होने से तू देर मत कर, और असुख होने से यह मत समझ कि जब सुख होगा, तब भजन करूंगा । इसमें कभी सुख होता ही नहीं, सुख भजन में ही है । व्यवहार की जाति का आश्रय छोड़, भक्ति का आश्रय ले । जिस भक्ति के प्रताप से, व्यवहार में जो वर्णसंकर कहे जाते हैं, वे भी परम गति को प्राप्त होते हैं, और तू तो व्यवहार में भी उत्तम कहलाता है, तू क्यों देर करता है, जल्द भजन कर ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

अन्वय—मन्मनाः १ भव २ मद्भक्तः ३ मद्याजी ४ माम् ५ नमस्कुरु ६ एवम् ७ आत्मानम् ८ युक्त्वा ९ मत्परायणः १० माम् ११ एव १२ एष्यसि १३ ।

अर्थ—भजन का प्रकार दिखलाते हुए फलपूर्वक इस प्रसंग को समाप्त करते हैं । मुझमें है मन जिसका १ सि० ऐसा * तू हो अर्थात् मुझमें ही मन लगा २ मेरा भक्त ३ सि० हो और * मेरा यजन करनेवाला सि० तू हो * अर्थात् मेरी पूजा कर ४ सि० और * मुझको ५ नमस्कार कर ६ इस प्रकार ७ मन को ८ सि० मुझमें * लगाकर ९ मुझमें परायण हुआ १० मुझको ११ ही १२ तू प्राप्त होगा अर्थात् मुझ परमानन्द-स्वरूप को प्राप्त होगा १३ ॥ ३४ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः १०

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

अन्वय—महाबाहो १ भूयः २ एव ३ मे ४ वचः ५ शृणु ६ यत् ७ परमम् ८ ते ९ प्रीयमाणाय १० हितकाम्यया ११ अहम् १२ वक्ष्यामि १३।

अर्थ—सातवें और नवें अध्याय में मैंने संक्षेप में अपनी विभूतियों का निरूपण किया, अब विस्तारपूर्वक कहता हूँ। हे अर्जुन! १ फिर भी २। ३ मेरा ४ वचन ५ सुन ६ सि० कैसा है वह वचन कि * जो ७ परमार्थ-निष्ठवाला अर्थात् मेरा वचन सुनने से परमार्थ में निष्ठा हो जाती है, बार-बार तुझसे इसलिये कहता हूँ कि मेरे वचन सुनने में तेरी प्रीति है ८ तुझ प्रीतिमान् के अर्थ अर्थात् तू मेरे वचन में श्रद्धा करता है, इसवास्ते तेरे अर्थ अर्थात् तुझसे ९। १० हित की कामना करके अर्थात् तू मेरा प्यारा है, मैं यह चाहता हूँ कि पीछे तेरा भला हो, इसवास्ते भी ११ मैं १२ कहूंगा १३ ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

अन्वय—मे १ प्रभवम् २ न ३ सुरगणाः ४ विदुः ५ न ६ महर्षयः ७ हि ८ सर्वशः ९ देवानाम् १० महर्षीणाम् ११ च १२ अहम् १३ आदिः १४।

अर्थ—मेरे सिवाय मेरे प्रभाव को कोई नहीं जानता, इसवास्ते भी कहूँगा। मेरे १ प्रभाव को २ न ३ देवतों के समूह ४ जानते हैं ५ न ६ महर्षि ७ क्योंकि ८ सब प्रकार से ९ देवतों का १० और महर्षियों का भी ११। १२ मैं १३ आदि १४ सि० हूँ *

तात्पर्य—प्रभु की अचिन्त्य शक्ति और सामर्थ्य को जब देव नहीं जानते, तो फिर मनुष्य कब जान सकते हैं, क्योंकि कारण से कार्य होता है, इसवास्ते कार्य कारण को नहीं जान सकता। परंतु कार्य से कारण का अनुमान हो सकता है, अर्थात् सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा से पृथक परमेश्वर को कोई नहीं जान सकता ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—यः १ माम् २ अजम् ३ अनादिम् ४ च ५ लोकमहेश्वरम् ६ वेत्ति ७ सः ८ मर्त्येषु ९ असंमूढः १० सर्वपापैः ११ प्रमुच्यते १२ ।

अर्थ—मुझको इस प्रकार जो जानता है, सो तो जानता है, और वह ज्ञानी निःसन्देह मुक्त होगा, जो १ मुझको अर्थात् सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को मुझसे अभिन्न २ जन्मरहित ३ और अनादि ४ । ५ सि० सच्चिदानन्द सोपाधिक मायोपहित * लोकों का महेश्वर ६ सि० है, इस प्रकार जो मुझको * जानता है ७ सो ८ मनुष्यों में ९ अज्ञान रहित है अर्थात् उसीका अज्ञान दूर हुआ १० सि० वही * सब पापों से अर्थात् समस्त कर्मों के फल (अगले पिछले) से ११ निःसन्देह मुक्त होगा १२ । यदि इस श्लोक का अर्थ ऐसा किया जाय कि जो मुझ वासुदेव को अज, अनादि, लोकों का महेश्वर जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है, सब पापों से मुक्त होगा, तो इस अर्थ में यह शंका होती है कि श्रीकृष्णचन्द्र महाराज मूर्तिमान् को उपासक जन भी अज आदि महेश्वर कहते हैं, और ज्ञाननिष्ठावाले भी यही कहते हैं । वह कौन है, जो श्रीमहाराज को जन्म आदिवाला जीव कहता है । प्राकृत, मूर्ख, स्त्री, बालक और नास्तिक, इनका इस जगह कुछ प्रसंग नहीं । कर्मी कर्म ही को फलदाता जानते हैं । कर्म से पृथक् कोई ईश्वर नहीं मानते । विचारो कि श्रीभगवान् का यह उपदेश किसको है ।

तात्पर्य—मायोपहित सच्चिदानन्द को अविद्योपहित सच्चिदानन्द से, अर्थात् ईश्वर को जीव से, जो लक्ष्यार्थ में अपृथक् समझते हैं कि मायोपहित हो यही अविद्योपहित जीव सच्चिदानन्द महेश्वर है, इसी हेतु अज अनादि है । जब आत्मा को ऐसा सच्चिदानन्द जानेंगे, तब वे मुक्त होंगे । जो ज्ञान इस श्लोक में कहा है वह कुछ सहज नहीं समझना । पिछले

श्लोक में श्रीभगवान् कह चुके हैं कि मेरे प्रभाव को ऋषि और देवता भी नहीं जानते, मनुष्य तो क्या जानेंगे । निःसन्देह जो ईश्वर से अभिन्न निर्विकार आत्मा को सच्चिदानन्द जानेगा, वही भगवत् के प्रभाव को जानेगा । और जो आपको भक्त, ऋषि, देवता, मनुष्य इत्यादि जानेंगे, वे नहीं जानेंगे, इस प्रकार समझना चाहिए ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अन्वय—बुद्धिः १ ज्ञानम् २ असंमोहः ३ क्षमा ४ सत्यम् ५ दमः ६ शमः ७ सुखम् ८ दुःखम् ९ भवः १० भावः ११ भयम् १२ च १३ अभयम् १४ एव १५ च १६ ।

अर्थ—अब तीन श्लोकों में सोपाधिक अपने स्वरूप की ईश्वरता प्रकट करते हैं । सारासार को भले प्रकार जाननेवाली अंतःकरण की वृत्ति १ आत्मा का निश्चय करनेवाली आत्माकार अंतःकरण की वृत्ति २ जिस काम में प्रवृत्त होना, विवेकपूर्वक होना, और उस जगह चित्त व्याकुल न होना, सदा चैतन्य रहना ३, पृथिवीवत सहनशील होना ४, यथार्थ (सन्देहरहित) बोलना ५ इन्द्रियों का निरोध ६ अंतःकरण का निरोध ७ अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ में अन्तःकरण की वृत्ति का ८ । ९ उद्भव होना १० उद्भव न होना ११ त्रास होना १२ । १३ त्रास न होना १४ । १५ । १६ सि० अगले श्लोक के साथ इसका संबंध है । अगले श्लोक में श्रीभगवान् कहेंगे कि यह शम आदि पृथक्-पृथक् भाव मुझ सोपाधिक ईश्वर से होते हैं, अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा निर्विकार है, इस प्रकार निरुपाधिक और सोपाधिक सच्चिदानन्द को जानना, भगवत् का जानना है * ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अन्वय—अहिंसा १ समता २ तुष्टिः ३ तपः ४ दानम् ५

यशः ६ अयशः ७ पृथग्विधाः ८ भावाः ९ भूतानाम् १० मत्तः ११ एव १२ भवन्ति १३ ।

अर्थ—हिंसारहित १ राग-द्वेष आदि रहित २ सि० दैवयोग से अपने आप जो पदार्थ प्राप्त हो जाय उसी में * सन्तोष ३ इन्द्रियों का निग्रह ४ सि० न्याय से कमाया हुआ अन्न सुपात्रों को * देना ५ सत्कीर्ति अर्थात् सज्जनों में कीर्ति होना ६ अकीर्ति अर्थात् जो लोग भगवत् से विमुख हैं, और भगवद्भक्तों से वैर रखते हैं, इसहेतु उनकी जो बुराई होती है, उसको अकीर्ति कहते हैं ७ ये सब कीर्ति अकीर्ति नाना प्रकार के भाव ८ । ९ सि० बुद्धि ज्ञान आदि * प्राणियों का १० मुझसे ११ ही १२ होते हैं १३ ।

तात्पर्य—सोपाधिक चैतन्य से ये सब होते हैं । "हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ ।" पुराणों में कथा है कि पृथिवी पर भगवतसंबंधी स्त्री-पुरुषों के मुख से जब तक जिनका यश श्रवण करने में आता है, तब तक वे कीर्तिमान् स्वर्ग में निवास करते हैं ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

अन्वय—पूर्वे १ चत्वारः २ सप्त ३ महर्षयः ४ तथा ५ मनवः ६ मद्भावाः ७ मानसाः ८ जाताः ९ येषाम् १० लोके ११ इमाः १२ प्रजाः १३ ।

अर्थ—मैथुनी सृष्टि से * पहिले १ सि० जो हुए * चार २ सि० सनक आदि और * सात ३ सि० भृगुआदि * महर्षि ४ वैसे ही ५ मनु ६ सि० स्वायंभुव आदि * मेरा ही है प्रभाव जिनमें ७ सि० मुझ हिरण्यगर्भात्मा के * संकल्प-मात्र से ८ उत्पन्न हुए हैं अर्थात् उनके शरीरों को मायामय समझना ९ सि० उनका प्रभाव यह है कि * जिनकी १० लोक में ११ यह १२ प्रजा १३ सि० है *

तात्पर्य—प्रजा दो प्रकार की है, एक निवृत्ति-मार्गवाली और दूसरी प्रवृत्ति-मार्गवाली । निवृत्ति-मार्ग के आचार्य सनक आदि, और प्रवृत्ति-मार्ग

के आचार्य भृगु आदि हैं । ये दोनों मार्ग अनादि हैं । सनकादि महाराज ने प्रवृत्ति-मार्ग की तरफ कभी किसी काल में दृष्टि भी नहीं की । जबसे उनका आविर्भाव हुआ तबसे ही बाल-जितेन्द्रिय ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित, परमहंस हो विचरते रहते हैं । जिस जगह जाते हैं, सब देवता विष्णु महेश आदि उनके सामने खड़े हो जाते हैं, और वे यह सामर्थ्य रखते हैं कि चाहे जिस देवता को शाप दे दें वा अनुग्रह कर दें । यह प्रताप ज्ञान-निष्ठा और निवृत्ति का समझना । मोक्ष-मार्ग निवृत्ति-मार्गवाले संन्यासी परमहंसों से ही मिलता है । जो आप प्रवृत्तिबद्ध हैं वे दूसरे को कैसे मुक्त करेंगे ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अन्वय—एताम् १ मम २ विभूतिम् ३ योगम् ४ च ५ यः ६ तत्त्वतः ७ वेत्ति ८ सः ९ अविकम्पेन १० योगेन ११ युज्यते १२ अत्र १३ न १४ संशयः १५ ।

अर्थ—यथार्थ ज्ञान का फल मुक्ति है, सो दिखलाते हैं । इस १ मेरी २ विभूति को ३ और योग को ४ । ५ जो यथार्थ ६ । ७ जानता है ८ वह ९ निश्चल १० योग से ११ युक्त हो जाता है अर्थात् संशय-विपर्यय-रहित हो जाता है १२ इसमें १३ नहीं है १४ संशय १५ ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अन्वय—सर्वस्य १ प्रभवः २ अहम् ३ मत्तः ४ सर्वम् ५ प्रवर्तते ६ इति ७ मत्वा ८ भावसमन्विताः ९ बुधाः १० माम् ११ भजन्ते १२ ।

अर्थ—संशय-विपर्यय-रहित भगवद्भक्त भगवत् को मानकर भजन करते हैं, फिर भगवत् की कृपा से उनको आत्म-ज्ञान हो जाता है, यह बात चार श्लोकों में कहते हैं । सबकी १ उत्पत्ति है जिससे २ सि० सो मनुआदि * मैं ३ सि० हूं * मुझसे ४ सि० ही बुद्धि आदि पदार्थ * सब ५ चेष्टा ६ सि० करते हैं,

अर्थात् सबका प्रेरक अन्तर्यामी हैं * यह ७ समझकर ८ श्रद्धापूर्वक ९ विद्वान १० मुझको ११ भजते हैं १२ ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

अन्वय—मच्चित्ताः १ मद्गतप्राणाः २ परस्परम् ३ बोधयन्तः ४ नित्यम् ५ माम् ६ कथयन्तः ७ च ८ तुष्यन्ति ९ च १० रमन्ति ११ च १२ ।

अर्थ—प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालों का लक्षण यह है कि उत्तरोत्तर उनकी वृत्ति इस प्रकार भगवत्स्वरूप में बढ़ती है । एक अंक में प्रथम भूमिकावालों का लक्षण है । मुझ सच्चिदानंद में है चित्त जिनका १ मुझमें लगा दिया है प्राण जिन्होंने अर्थात् अपना जीवन मेरे अधीन समझते हैं २ परस्पर अर्थात् आपस में ३ बोध करते अर्थात् दो चार भक्त तत्त्व के जिज्ञासु मिलकर विचार करते हैं, श्रुति स्मृति युक्ति प्रमाणों से परस्पर बोधन करते हैं ४ सि० कोई श्रुति प्रमाण देता है, कोई स्मृति, और कोई युक्ति से सिद्ध करते हैं । जब सब भक्तों का, और श्रुति-स्मृति-युक्तियों का शंका-समाधानपूर्वक एक पदार्थ (भगवत्तत्त्व) में सम्मत हो जाता है, उसको जानकर जिज्ञासुओं से * नित्य (सदा) ५ मुझको ६ कहते हैं अर्थात् भक्तों को भगवत्स्वरूप का उपदेश करते रहते हैं ७ । ८ सि० और उसी भगवत्स्वरूप के आनन्द में * संतोष करते हैं अर्थात् वह निरतिशय आनन्द है, उस आनन्द से परे विषयानन्द को तुच्छ समझते हैं ९ । १० सि० सदा उसी आनन्द में * रमते हैं अर्थात् उसमें प्रीति रखते हैं, सच्चिदानन्द-स्वरूप में मग्न रहते हैं ११ । १२ ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

अन्वय—सततयुक्तानाम् १ प्रीतिपूर्वकम् २ भजताम् ३ तेषाम् ४ तम् ५ बुद्धियोगम् ६ ददामि ७ येन ८ माम् ९ ते १० उपयान्ति ११ ।

अर्थ--निरन्तर युक्त हो १ प्रीतिपूर्वक २ सि० जो मेरा * भजन करते हैं ३ उनको ४ वह ५ ज्ञानयोग ६ देता हूं ७ जिससे ८ मुझको ९ वे १० प्राप्त होते हैं ११ ।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अन्वय--तेषाम् १ एव २ अनुकम्पार्थम् ३ अहम् ४ अज्ञानजम् ५ तमः ६ नाशयामि ७ आत्मभावस्थः ८ भास्वता ९ ज्ञानदीपेन १० ।

अर्थ--उनके १ ही २ भले के लिये ३ मैं ४ अज्ञान से उत्पत्ति है जिसकी ऐसा जो तम अर्थात् संसार ५ । ६ सि० उसका * नाश कर देता हूं ७ बुद्धि की वृत्ति में स्थित होकर ८ प्रकाश-रूप ज्ञानदीप से ९ । १० ।

तात्पर्य--जो निरन्तर प्रीति से मेरा भजन करते हैं, उनको निरतिशय परमानन्द की प्राप्ति के लिये मूलाज्ञान और तूलाज्ञान का मैं नाश कर देता हूं; निर्मल बुद्धि की वृत्ति में स्थित होकर ऐसा प्रकाश करता हूं कि सब संसार उनको मिथ्या प्रतीत होने लगता है, और आत्मा शुद्ध-स्वरूप, सच्चिदानंद, निराकार, निर्विकार, अपरोक्ष हो जाता है । ऐसा ज्ञान-रूप दीपक उसके हृदय में प्रज्वलित करता हूं कि अपने आप नित्य अनित्य सब पदार्थ भले प्रकार स्फुरित होने लगते हैं । विवेक वैराग्य आदि साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकर आत्म-ज्ञानद्वारा परमानन्द को प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

अन्वय--अर्जुन उवाच । भवान् १ परम् २ ब्रह्म ३ परम् ४ धाम ५ परमम् ६ पवित्रम् ७ पुरुषम् ८ शाश्वतम् ९ दिव्यम् १० आदिदेवम् ११ अजम् १२ विभुम् १३ ।

अर्थ--अर्जुन कहता है, सि० हे कृष्णचंद्र महाराज! * आप १ परं ब्रह्म २ । ३ परं धाम ४ । ५ परम पवित्र ६ । ७ सि० हो, व्यास आदि आपको ऐसा कहते हैं और * पुरुष ८ नित्य ९

दिव्य १० आदिदेव ११ अज १२ व्यापक १३ मि० कहते हैं। इस श्लोक का अगले श्लोक के साथ सम्बन्ध है * ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अन्वय—सर्वे १ ऋषयः २ देवर्षिः ३ तथा ४ नारदः ५ असितः ६ देवलः ७ व्यासः ८ त्वाम् ९ आहुः १० स्वयम् ११ च १२ एव १३ मे १४ ब्रवीषि १५।

अर्थ—इस श्लोक का पिछले श्लोक के साथ संबंध है। सब १ ऋषि २ देवर्षि नारदजी ३। ४ और ५ असित ६ देवल ७ व्यासजी ८ आपको ९ मि० ऐसा * कहते हैं १० मि० कि जैसा पिछले श्लोक में परं ब्रह्म से लेकर विभु तक निरूपण किया है * और आप भी ११। १२। १३ मुझसे १४ मि० अपने-आपको वैसा ही * कहते हो, १५ मि० जैसा आपको व्यास आदि कहते हैं * ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

अन्वय—केशव १ यत् २ माम् ३ वदसि ४ एतत् ५ सर्वम् ६ ऋतम् ७ मन्ये ८ भगवन् ९ हि १० ते ११ व्यक्तिम् १२ न १३ देवाः १४ विदुः १५ न १६ दानवाः १७।

अर्थ—हे केशव! १ जो २ मुझसे ३ आप कहते हो ४ यह ५ सब ६ सत्य ७ मैं मानता हूं ८ हे भगवन्! ९ निःसंदेह (यथार्थ) १० आपके ११ स्वरूप को वा प्रभाव को १२ न १३ देव १४ जानते हैं १५ न १६ दानव १७।

तात्पर्य—परमात्मा का शुद्ध-स्वरूप विषयवत् कोई भी नहीं जान सकता, भगवत् का उपाधि-सहित-स्वरूप विषयवत् जाना जाता है। आत्मा स्वयं प्रकाश है ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

अन्वय—पुरुषोत्तम १ भूतभावन २ भूतेश ३ देवदेव ४ जगत्पते ५ स्वयम् ६ एव ७ आत्मना ८ आत्मानम् ९ त्वम् १० वेत्थ ११ ।

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! १ हे भूतभावन ! अर्थात् भूतों के उत्पन्न करनेवाले २ हे भूतेश ! भूतों के ईश्वर ३ हे देवदेव ! देवतों के भी देवता ४ हे जगत्पते ! जगत् के स्वामी ५ आप ही ६ । ७ आत्मा में ८ आत्मा को ९ आप १० जानते हो ११ ।

तात्पर्य—जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश है, सूर्य के देखने में किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं, ऐसे ही भगवन् का शुद्ध-स्वरूप सच्चिदानंद आत्मा से ही जाना जाता है । मन, वाणी और उनके देवतों का विषय नहीं । फिर मनुष्यों का विषय कैसे हो सकता है ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

अन्वय—आत्मविभूतयः १ दिव्याः २ हि ३ अशेषेण ४ वक्तुम् ५ अर्हसि ६ याभिः ७ विभूतिभिः ८ इमान् ९ लोकान् १० व्याप्य ११ त्वम् १२ तिष्ठसि १३ ।

अर्थ—जब कि अपने स्वरूप को और अपने ऐश्वर्य को आप ही जानते हो, इस वास्ते आपसे ही आपकी विभूति सुनना चाहता हूं । अपना ऐश्वर्य १ दिव्य २ । ३ समस्त ४ कहने को ५ योग्य हो अर्थात् जो-जो आपकी दिव्य विभूतियाँ हैं, वे समस्त मुझसे कहिए ६ जिन विभूतियों से ७ । ८ इस लोक को ९ । १० व्याप्त कर ११ आप १२ स्थित हो १३ ।

तात्पर्य—जिन-जिन विभूतियों से इस लोक में आप व्याप्त हो रहे हो, मैं उनका चिंतन करना चाहता हूं, इस वास्ते मुझसे कहो ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिन् त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

अन्वय—योगिन् १ कथम् २ त्वाम् ३ सदा ४ परिचिन्तयन् ५ अहम् ६ विद्याम् ७ भगवन् ८ मया ९ केषु १० केषु ११ च १२ भावेषु १३ चिन्त्यः १४ असि १५ ।

अर्थ—हे योगीश्वर ! १ किस प्रकार २ आपको अर्थात् शुद्ध सच्चिदानंद को ३ सदा ४ चिंतन करता हुआ ५ मैं ६ जानूं मुझको ऐसा उपदेश कीजिए कि जिससे आपका शुद्ध-स्वरूप जाना जाय ७ हे कृष्णचन्द्र ! ८ मुझसे ९ किन-किन पदार्थों में १० । ११ । १२ । १३ चिंतन करने योग्य १४ आप हो अर्थात् किस किस पदार्थ का चिंतन करने से अंतःकरण शुद्ध होकर आपका यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, उन पदार्थों को मैं जानना चाहता हूं । अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय अर्जुन पूछता है १५ ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अन्वय—जनार्दन १ विस्तरेण २ आत्मनः ३ योगम् ४ विभूतिम् ५ च ६ भूयः ७ कथय ८ हि ९ अमृतम् १० शृण्वतः ११ मे १२ तृप्तिः १३ न १४ अस्ति १५ ।

अर्थ—जब मेरा चित्त बहिर्मुख हो, तब भी आपका चिंतन करता रहूं, इस वास्ते, हे प्रभो ! १ विस्तार करके २ अपना योग ३ । ४ और विभूति ५ । ६ फिर ७ कहो ८ क्योंकि ९ अमृतरूप १० सि० आपका वचन * सुनने से ११ मेरी १२ तृप्ति १३ नहीं १४ होती है १५ ।

तात्पर्य—दुष्टजनों को जो दुःख दे, वा भक्तजनों को आनन्द दे, वा भक्त जन जिससे मोक्ष की याचना करें, उसको जनार्दन कहते हैं । यह नाम श्रीकृष्णचन्द्र महाराज का है । सर्वज्ञता आदि अचिन्त्य शक्तियों को योग कहते हैं । ऐश्वर्य को विभूति कहते हैं । जैसे हाथी, घोड़े, सेना इत्यादि ऐश्वर्य से राजा जाना जाता है, ऐसे ही ईश्वर अपनी विभूतियों से जाना जाता है, और जैसे राजा के मन्त्रियों का आश्रय लेने से राजा मिल जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर जो आगे विभूति वर्णन करेंगे, उनके आश्रय से शुद्ध सच्चिदानंद परमेश्वर प्राप्त हो जाता है । श्रीकृष्णचन्द्र इस अध्याय में वासुदेव और रामचन्द्र आदि को अपनी विभूति कहेंगे । इस बात का आशय अपनी बुद्धि के अनुसार समझना चाहिए ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच । हन्त १ प्राधान्यतः २ दिव्याः ३ हि ४ आत्मविभूतयः ५ ते ६ कथयिष्यामि ७ कुरुश्रेष्ठ ८ मे ९ विस्तरस्य १० अन्तः ११ न १२ अस्ति १३ ।

अर्थ—सि० जिज्ञासु जब प्रश्न करता है, तब उसके गुरु जिस समय कृपा करके उत्तर देना चाहते हैं, तो उस प्रश्न के आदरार्थ और जिज्ञासु की प्रशंसा के लिये ऐसा बोलते हैं कि हन्त * श्रीकृष्णचंद्र महाराज कहते हैं, हन्त अर्थात् हां जो तुमने पूछा, यह हमने अंगीकार किया, अच्छा पूछा है, अब उसका उत्तर सुनो १ प्रधान प्रधान २ सि० जो जो * दिव्य ३ । ४ मेरी विभूतियां ५ सि० हैं उनको * तुझसे ६ कहूंगा ७ हे अर्जुन ! ८ मेरे ९ विस्तार का अर्थात मेरी विभूतियों के विस्तार का १० अन्त ११ नहीं १२ है १३ ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अन्वय—गुडाकेश १ सर्वभूताशयस्थितः २ आत्मा ३ अहम् ४ भूतानाम् ५ आदिः ६ च ७ मध्यम् ८ च ९ अन्तः १० एव ११ च १२ ।

अर्थ—हे गुडाकेश ! सि० 'गुडाकेश' का अर्थ घनकेश भी है, अर्थात् गुंजान बाल हों जिसके उसको घनकेश कहते हैं । यह नाम अर्जुन का है । श्रीभगवान् कहते हैं कि * हे अर्जुन!१ सि० चैतन्य हो, अपनी विभूति सुनाता हूं, प्रथम सबसे श्रेष्ठ विभूति को सुनो * सब भूतों के हृदय में विराजमान २ आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्दरूप ३ मैं ४ सि० हूं । सदा इसका ध्यान करना चाहिए, और जो इसमें मन न लगे, और समझ में न आवे, तो स्थूल विभूतियों को सुनो * भूतों का ५ आदि ६ और ७ मध्य ८ और ९ अन्त १० मैं ही ११ । १२ सि० हूं * ।

तात्पर्य—यह समझो कि ये सब भूत मुझसे ही हुए, मुझमें ही स्थित हैं, और मुझमें ही लय होंगे। इस प्रकार चिंतन करना ही परमेश्वर की उपासना है ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

अन्वय—आदित्यानाम् १ विष्णुः २ अहम् ३ ज्योतिषाम् ४ अंशुमान् ५ रविः ६ मरुताम् ७ मरीचिः ८ अस्मि ९ नक्षत्राणाम् १० शशी ११ अहम् १२।

अर्थ—आदित्यों में १ विष्णु नामवाला आदित्य २ मैं ३ सि० हूं * ज्योतियों में ४ किरणवाले ५ श्रीसूर्यनारायण पूर्णब्रह्म शुद्ध सच्चिदानंद ६ सि० मैं हूँ * मरुद्गणों में ७ मरीचि ८ मैं हूँ ९ नक्षत्रों में १० चन्द्र ११ मैं १२ सि० हूं * ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

अन्वय—वेदानाम् १ सामवेदः २ अस्मि ३ देवानाम् ४ वासवः ५ अस्मि ६ इन्द्रियाणाम् ७ मनः ८ च ९ अस्मि १० भूतानाम् ११ चेतना १२ अस्मि १३।

अर्थ—वेदों में १ सामवेद २ मैं हूं ३ देवतों में ४ इन्द्र ५ मैं हूं ६ इन्द्रियों में ७ मन ८। ९ मैं हूं १० प्राणियों में ११ ज्ञानशक्ति १२ मैं हूं १३ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

अन्वय—रुद्राणाम् १ शङ्करः २ च ३ अस्मि ४ यक्षरक्षसाम् ५ वित्तेशः ६ वसूनाम् ७ पावकः ८ च ९ अस्मि १० शिखरिणाम् ११ मेरुः १२ अहम् १३।

अर्थ—रुद्रों में १ श्रीसदाशिवजी महाराज शंकर भगवान् शुद्ध सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म २ मैं हूँ ३। ४ यक्षराक्षसों में ५

कुबेर ६ वसुओं में ७ अग्नि मैं हूँ ८। ९। १० पर्वतों में ११ सुमेरु १२ मैं १३ सि० हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

अन्वय—पार्थ १ पुरोधसाम् २ बृहस्पतिम ३ माम् ४ मुख्यम्५ विद्धि ६ सेनानीनाम् ७ च ८ स्कन्दः ९ अहम् १० सरसाम् ११ सागरः १२ अस्मि १३ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ पुरोहितों में २ बृहस्पति ३ मुझको ४ मुख्य ५ तू जान ६ और सेना के सरदारों में ७। ८ देव-सेना-पति स्वामिकार्त्तिक ९ मैं १० सि० हूँ * स्थिर जलों में ११ समुद्र १२ मैं हूँ १३ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अन्वय—महर्षीणाम् १ भृगुः २ अहम् ३ गिराम् ४ एकम् ५ अक्षरम् ६ अस्मि ७ यज्ञानाम् ८ जपयज्ञः ९ अस्मि १० स्थावराणाम् ११ हिमालयः १२ ।

अर्थ—महर्षियों में १ भृगु २ मैं ३ सि० हूँ । वाणी में अर्थात् जो बोलने में आवे उसमें ४ एक ५ अक्षर अर्थात् प्रणव ओम् ६ मैं हूँ ७ यज्ञों में ८ जपयज्ञ ९ मैं हूँ ११ स्थावरों में ११ हिमालय पर्वत १२ सि० मैं हूँ * ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अन्वय—सर्ववृक्षाणाम् १ अश्वत्थः २ देवर्षीणाम् ३ च ४ नारदः ५ गंधर्वाणाम् ६ चित्ररथः ७ सिद्धानाम् ८ कपिलः ९ मुनिः १० ।

अर्थ—सब वृक्षों में १ पीपल २ देवऋषियों में ३ नारदजी ४। ५ गंधर्वों में ६ चित्ररथ ७ सिद्धों में ८ कपिल मुनि ९। १० सि०मैं हूँ * ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

अन्वय—अश्वानाम् १ माम् २ उच्चैःश्रवसम् ३ विद्धि ४ अमृतोद्भवम् ५ गजेन्द्राणाम् ६ ऐरावतम् ७ नराणाम् ८ च ९ नराधिपम् १० ।

अर्थ—घोड़ों में १ उच्चैःश्रवा नामवाला घोड़ा २ मुझको ३ तू जान ४ सि० कैसा है वह घोड़ा जब * अमृत के लिये समुद्र मथा गया था, उस समय समुद्र में से निकला हुआ ५ सि० यह विशेषण उच्चैःश्रवा का भी और ऐरावत का भी है * हाथियों में ६ ऐरावत को ७ सि० मेरी विभूति जान * और नरों में ८।९ राजा को १० सि० मेरी विभूति तू जान * ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अन्वय—आयुधानाम् १ अहम् २ वज्रम् ३ धेनूनाम् ४ कामधुक् ५ अस्मि ६ प्रजनः ७ च ८ कन्दर्पः ९ अस्मि १० सर्पाणाम् ११ वासुकिः १२ अस्मि १३ ।

अर्थ—हथियारों में १ मैं २ वज्र हूँ ३ गौओं में ४ कामधेनु ५ मैं हूँ ६ और प्रजा की उत्पत्ति का हेतु ७।८ कामदेव ९ मैं हूँ १० विषवाले सर्पों में ११ वासुकि १२ मैं हूँ १३ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

अन्वय—नागानाम् १ अनन्तः २ च ३ अस्मि ४ यादसाम् ५ वरुणः ६ अहम् ७ पितॄणाम् ८ अर्यमा ९ च १० अस्मि ११ संयमताम् १२ यमः १३ अहम् १४ ।

अर्थ—निर्विष नागों में १ शेषजी २।३ मैं हूँ ४ जलचरों में ५ वरुण ६ मैं हूँ ७ पितरों में ८ अर्यमा नाम पितर ९।१० मैं हूँ ११ दंड देनेवालों में १२ यमराज १३ मैं १४ सि० हूँ * ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

अन्वय—दैत्यानाम् १ प्रह्लादः २ च ३ अस्मि ४ कलयताम् ५ कालः ६ अहम् ७ मृगाणाम् ८ च ९ मृगेन्द्रः १० अहम् ११ पक्षिणाम् १२ वैनतेयः १३ च १४ ।

अर्थ—दैत्यों में १ प्रह्लाद २ । ३ मैं हूँ ४ संख्यावाले पदार्थों में ५ काल ६ मैं ७ सि० हूँ * और चौपायों में ८ । ९ सिंह १० मैं ११ सि० हूँ : पक्षियों में १२ गरुड़ १३।१४ सि० मैं हूँ*॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१॥

अन्वय—पवताम् १ पवनः २ अस्मि ३ शस्त्रभृताम् ४ रामः ५ अहम् ६ झषाणाम् ७ मकरः ८ च ९ अस्मि १० स्रोतसाम् ११ जाह्नवी १२ अस्मि १३ ।

अर्थ—वेगवालों में १ वायु २ मैं हूँ ३ शस्त्रधारियों में ४ श्रीरामचन्द्रजी महाराज शुद्ध सचिदानंद पूर्ण ब्रह्म ५ मैं ६ सि० हूँ * मछलियों में ७ मकर नामवाली मछली ८ मैं हूँ ९ । १० बहनेवाले जलों में ११ श्रीगंगा भागीरथी १२ मैं हूँ १३ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—अर्जुन १ सर्गाणाम् २ आदिः ३ मध्यम् ४ च ५ अन्तः ६ अहम् ७ विद्यानाम् ८ अध्यात्मविद्या ९ प्रवदताम् १० वादः ११ अहम् १२ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ जगत् का २ आदि ३ मध्य ४ और अन्त ५ । ६ मैं ७ सि० हूँ * विद्या के बीच में ८ आत्मविद्या (वेदान्त-शास्त्र) ९ सि० वेदांत-शास्त्र में केवल आत्मा के बन्ध-मोक्ष का विचार है, इसी वास्ते इसको अध्यात्म-विद्या कहते हैं, मोक्ष-शास्त्र यही है । इस शास्त्र के पढ़े सुने विना आत्मा-अनात्मा का ज्ञान कभी नहीं होता । अज्ञान संशय विपर्यय

इसी शास्त्र के पढ़ने सुनने से नाश होते हैं । इस शास्त्र का सेवन करना साक्षात् भगवत् का प्रत्यक्ष सेवन करना है * चर्चा करनेवालों में १० वाद ११ मैं १२ सि० हूँ *

तात्पर्य—चर्चा तीन प्रकार की है—जल्प, वितंडा और वाद। जो केवल अपने ही पक्ष में श्रुति आदि का प्रमाण देकर युक्तियों सहित अपने ही पक्ष को सिद्ध करे, दूसरे पक्ष पर दृष्टि न दे, उसको जल्प कहते हैं; और जो दूसरे पक्ष में दोष ही निकाले, अपने पक्ष के दोषों का स्मरण न करे, उसको वितंडा कहते हैं; और जो अपने और दूसरे दोनों पक्षों को शंका और प्रमाणों के साथ प्रतिपादन करे, उसको वाद कहते हैं। वाद परमार्थ निर्णय के लिये होता है, उसका फल परमानन्द है। जल्प और वितंडा वाक्यवाद हैं, उनका फल दुःख है। जिसका पक्ष चर्चा में दब जायगा, वह निःसन्देह दुःख पावेगा, और जिसने विद्या के बल से झूठी बात को सिद्ध किया, वह निःसन्देह पाप का भागी होकर परलोक में दुःख पावेगा। न्याय-शास्त्र आदि विद्या अन्य पदार्थ है, और परमार्थ का यथार्थ निर्णय अन्य पदार्थ है। क्या हुआ जो किसी ने अनजान के सामने अपना झूठा पक्ष सिद्ध कर दिया, किसी दिन विद्वानों के सामने दब जायगा ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अन्वय—अक्षराणाम् १ अकारः २ अस्मि ३ सामासिकस्य ४ द्वन्द्वः ५ च ६ अहम् ७ एव ८ अक्षयः ९ कालः १० धाता ११ विश्वतोमुखः १२ अहम् १३ ।

अर्थ—अक्षरों में १ अकार २ मैं हूँ ३ समासों में ४ द्वन्द्व-समास ५ मैं ही हूँ ६ । ७ । ८ अक्षय ९ काल १० सि० भी मैं हूँ । पीछे वह काल कहा था कि जो संख्या में आता है । पल, घड़ी, दिन, रात, वर्ष और युगादि को क्षयकाल कहते हैं । यहाँ अक्षय, यह काल का विशेषण है । अथवा परमेश्वर का नाम काल का भी काल है * कर्म-फल-विधाता ११ विराट् १२ मैं १३ सि० हूँ * ॥ ३३ ॥

ॐ
भू
र्भुवः
स्वः
तत्स
वितुर्व
देवस्य
धीमहि
धियो
यो नः
प्रचो
दयात्

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

अन्वय--मृत्युः १ सर्वहरः २ च ३ अहम् ४ भविष्यताम् ५ उद्भवः ६ च ७ नारीणाम् ८ कीर्तिः ९ श्रीः १० वाक् ११ च १२ स्मृतिः १३ मेधा १४ धृतिः १५ क्षमा १६।

अर्थ--मृत्यु १ सबका हरनेवाला २ मैं ३। ४ सि० हूँ ※ होनेवाले पदार्थों में ५ अर्थात् बड़ाई होने योग्य जो पदार्थ हैं, मोक्ष की प्राप्ति का हेतु, उद्भव, उत्कर्ष, अभ्युदय भी ६। ७ सि० मैं हूँ ※ स्त्रियों में ८ कीर्ति अर्थात महापुरुष के शम, दम, औदार्य, दान आदि गुणों की ख्याति का होना, वह कीर्ति ९ सि० भगवत की विभूति है ※ लक्ष्मी, कांति, वा शोभा १० और मधुरवाणी ११। १२ बहुत दिनों की बात याद रहना १३ ग्रन्थधारणाशक्ति १४ क्षुत्पिपासा आदि के समय में क्षोभ न होना १५ अपमान आदि के समय में क्षोभ न होना १६ सि० ये सब परमेश्वर की विभूतियाँ हैं, जिनके आभास-मात्र सम्बन्ध से स्त्री-पुरुष श्रेष्ठ कहलाते हैं ※॥ ३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

अन्वय--साम्नाम् १ तथा २ बृहत्साम ३ छंदसाम ४ गायत्री ५ अहम् ६ मासानाम ७ मार्गशीर्षः ८ अहम ९ ऋतूनाम् १० कुसुमाकरः ११।

अर्थ--वेदों में सामवेद मैं हूँ, यह श्रीभगवान् ने पीछे कहा था, अब कहते हैं कि सामवेद में १ भी २ बृहत्साम ऋचा ३ सि० मैं हूँ ※ छन्दों में ४ गायत्री ५ मैं ६ सि० हूँ ※ महीनों में ७ अगहन (मार्गशीर्ष) ८ मैं ९ सि० हूँ ※ ऋतुओं में १० वसन्त ऋतु ११ सि० मैं हूँ। मीन और मेष का सूर्य जब तक रहता है, इन्हीं दोनों महीनों को वसन्त कहते हैं। इसी ऋतु में यह टीका बनी है ※॥ ३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—छलयताम् १ द्यूतम् २ अस्मि ३ तेजस्विनाम् ४ तेजः ५ अहम् ६ जयः ७ अस्मि ८ व्यवसायः ९ अस्मि १० सत्त्ववताम् ११ सत्त्वम् १२ अहम् १३ ।

अर्थ—छल करनेवालों में १ जुआ २ मैं हूँ ३ तेजस्वी पुरुषों में ४ तेज ५ मैं ६ सि० हूँ । जीतनेवालों में * जय ७ मैं हूँ ८ सि० निश्चय करनेवालों में * आत्मनिश्चय ९ मैं हूँ १० सत्त्वगुणी पुरुषों में ११ सत्त्वगुण १२ मैं हूँ १३ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

अन्वय—वृष्णीनाम् १ वासुदेवः २ अस्मि ३ पाण्डवानाम् ४ धनञ्जयः ५ मुनीनाम् ६ अपि ७ अहम् ८ व्यासः ९ कवीनाम् १० उशना ११ कविः १२ ।

अर्थ—वृष्णियों में १ वासुदेव २ मैं हूँ अर्थात् श्रीकृष्ण-चन्द्रमहाराज शुद्ध सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म वसुदेवजी के पुत्र जो अर्जुन को उपदेश करते हैं, यही वासुदेव हैं ३ पांडवों में ४ अर्जुन ५ सि० जिसको भगवान् उपदेश करते हैं * मुनीश्वरों में ६ । ७ मैं ८ श्रीवेदव्यासजी ९ सि० हूँ * कवि पुरुषों में १० शुक्राचार्य ११ कवि १२ सि० मैं हूँ * ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—दमयताम् १ दण्डः २ अस्मि ३ जिगीषताम् ४ नीतिः ५ अस्मि ६ गुह्यानाम् ७ मौनम् ८ च ९ एव १० अस्मि ११ ज्ञानवताम् १२ ज्ञानम् १३ अहम् १४ ।

अर्थ—निरोध करनेवालों में १ दंड २ मैं हूँ ३ जीतने की इच्छा है जिनको, उनमें ४ नीति ५ मैं हूँ ६ गुप्त पदार्थों में ७ चुप रहना ८ । ९ । १० मैं हूँ ११ ज्ञानवालों में १२ ब्रह्म-ज्ञान

(आत्म-ज्ञान) १३ में १४ सि० हूँ * अर्थात् दूसरे का स्वरूप और ऐश्वर्य जानने से किसी को क्या मिलता है। अपना स्वरूप और अपना ऐश्वर्य जानना चाहिए ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—सर्वभूतानाम् १ यत् २ च ३ अपि ४ बीजम् ५ तत् ६ अहम् ७ अर्जुन ८ चराचरम् ९ भूतम् १० मया ११ विना १२ यत् १३ स्यात् १४ तत् १५ न १६ अस्ति १७।

अर्थ—सब भूतों का १ जो २। ३। ४ बीज ५ वह ६ मैं ७ सि० हूँ * हे अर्जुन! ८ चराचर ९ सत्ता-मात्र १० मेरे ११ बिना १२ जो १३ हो १४ वह १५ नहीं १६ है १७ अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ नहीं कि जिसमें सत, चित् और आनन्द, ये तीन भगवान के अंश न हों ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

अन्वय—परन्तप १ मम २ दिव्यानाम् ३ विभूतीनाम् ४ अन्तः ५ न ६ अस्ति ७ एषः ८ तु ९ विभूतेः १० विस्तरः ११ उद्देशतः १२ मया १३ प्रोक्तः १४।

अर्थ—हे अर्जुन! १ मेरी २ दिव्य ३ विभूतियों का ४ अन्त ५ नहीं ६ है ७ सि० और जो वर्णन किया * यह ८ तो ९ विभूतियों का १० विस्तार ११ संक्षेप से १२ मैंने १३ कहा है १४ ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—यत् १ यत् २ सत्त्वम् ३ विभूतिमत् ४ श्रीमत् ५ वा ६ ऊर्जितम् ७ एव ८ तत् ९ तत् १० एव ११ मम १२ तेजोंऽशसम्भवम् १३ त्वम् १४ अवगच्छ १५।

अर्थ—जो तू मेरे ऐश्वर्य का विस्तार जानना चाहता है, तो

इस प्रकार जान । जो १ जो २ पदार्थ ३ ऐश्वर्यवान् ४ श्रीमान् ५ वा ६ सि० किसी अन्य गुण से * श्रेष्ठ ७ ही ८ सि० कहलाता है * उस ९ उसको १० ही ११ मेरे १२ तेज के अंश से उत्पन्न हुआ १३ तू १४ जान १५ ।

तात्पर्य—संसार में जो-जो पदार्थ श्रेष्ठ हैं, वे सब भगवत् की विभूति हैं। जो जिस गुण से श्रेष्ठ समझा जाता है, वह गुण भगवत् का ही अंश है। "आनन्दो ब्रह्म" इस श्रुति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आनन्द ब्रह्म है। जो पदार्थ विशेष आनन्दजनक है, वह भगवत् की विभूति है ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अन्वय—अर्जुन १ अथवा २ एतेन ३ बहुना ४ ज्ञातेन ५ तव ६ किम् ७ अहम् ८ इदम् ९ कृत्स्नम् १० जगत् ११ एकांशेन १२ विष्टभ्य १३ स्थितः १४ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ अथवा २ इस ३ बहुत ४ सि० पृथक्-पृथक् * ज्ञान से ५ तुझको ६ क्या ७ सि० काम है, ऐसा समझो कि * मैं ८ इस ९ समस्त १० जगत् को ११ एक अंश से १२ धारण करके १३ स्थित हूँ १४ ।

तात्पर्य—यह सब जगत् भगवत् के एक अंश में कल्पित है, भगवत् से जुदा नहीं। जगत् में जो आनंद प्रतीत होता है, यही प्रभु का अंश है, अंश से अंशी का ज्ञान जल्द होता है ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः ११

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच । मदनुग्रहाय १ परमम् २ गुह्यम् ३

अध्यात्मसंज्ञितम् ४ यत् ५ वचः ६ त्वया ७ उक्तम् ८ तेन ९ अयम् १० मम ११ मोहः १२ विगतः १३ ।

अर्थ—पिछले अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है कि यह समस्त जगत् मेरे एक अंश में कल्पित है, यह सुन अर्जुन को इच्छा हुई कि श्रीभगवान् का विश्वरूप देखना चाहिए। इसवास्ते अर्जुन श्रीभगवान् की स्तुति करता हुआ चार मंत्रों में कहता है। मुझ पर अनुग्रह करने के लिये अर्थात् मेरा शोक दूर करने के लिये १ परमार्थ-निष्ठावाला २ गुप्त ३ आत्मा और अनात्मा का ज्ञान हो जिसमे ४ सि० ऐसा * जो ५ वचन ६ आपने ७ कहा ८ उस वचन से ९ यह १० मेरा ११ मोह १२ दूर हो गया १३ अर्थात् इनको (भीष्म आदि को) मैं मारता हूँ, ये मारे जाते हैं, इस प्रकार जो शुद्ध निर्विकार आत्मा को कर्ता कर्म समझता था, वह मेरी भ्रान्ति आपकी कृपा से दूर हुई ।

तात्पर्य--मैंने जाना कि आत्मा शुद्ध सच्चिदानंद निर्विकार है । कर्ता कर्म इत्यादि सब भ्रांति से प्रतीत होते हैं, जैसे शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प, आकाश में नीलता, नाव में बैठे हुए को मंदिरों का चलना प्रतीत होता है, इसी प्रकार आत्मा विकारवान् प्रतीत होता है । वास्तव में आत्मा निर्विकार है, यह मैं समझ गया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

अन्वय—कमलपत्राक्ष १ त्वत्तः २ मया ३ विस्तरशः ४ भूतानाम् ५ भवाप्ययौ ६ हि ७ श्रुतौ ८ माहात्म्यम् ९ च १० अपि ११ अव्ययम् १२ ।

अर्थ—हे भगवन् ! १ आपसे २ मैंने ३ विस्तारपूर्वक ४ भूतों की ५ उत्पत्ति और लय को ६ । ७ सुना अर्थात् सब भूतों की उत्पत्ति आपसे ही है और सब भूत तुम्हारे ही स्वरूप में लय हो जाते हैं, यह मैंने सुना और समझा ८ और माहात्म्य ९।१० भी ११ सि० आपका * अक्षय १२ सि० सुना * ।

तात्पर्य—आप जगत् को रचते हो, पालन और संहार भी करते हो, शुभाशुभ कर्मों का फल देते हो, बन्ध और मोक्ष सब आपके अधीन हैं। भक्तों की जैसी इच्छा होती है, उनके वास्ते वैसे ही नाना रूप धारण करते हो, वैसे ही चरित करते हो। ऐसे विषम व्यवहार में भी आप सदा अकर्ता, निर्विकार, निर्लेप, उदासीन रहते हो, यही आपका माहात्म्य है। करने को, न करने को, और का और कर देने को, जो समर्थ है उसी को ईश्वर कहते हैं। ऐसे आप ही हैं। आपकी कृपा से आपका माहात्म्य सुनकर मैंने अब आपको जाना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

अन्वय—परमेश्वर १ त्वम् २ यथा ३ आत्मानम् ४ आत्थ ५ एतत् ६ एवम् ७ पुरुषोत्तम ८ ते ९ ऐश्वरम् १० रूपम् ११ द्रष्टुम् १२ इच्छामि १३।

अर्थ—हे परमेश्वर! १ आप २ जैसा ३ आत्मा को ४ कहते हो ५ यह ६ इसी प्रकार है अर्थात् निःसन्देह आप अचिन्त्य शक्तिमान् हैं ७ हे प्रभो! ८ आपके ९ ऐश्वर-रूप के १०।११ देखने की १२ इच्छा करता हूँ अर्थात् आपका ऐश्वर्य और विश्व-रूप देखना चाहता हूँ अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्यशक्ति, तेज से युक्त आपका रूप देखना चाहता हूँ १३।

तात्पर्य—परमार्थ दृष्टि में आप निराकार पूर्ण हैं, उसको मूर्तिमान् देखना चाहता हूँ। यद्यपि यह बात असम्भव है, परन्तु आप समर्थ हो, दिखा सकते हो ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

अन्वय—प्रभो १ योगेश्वर २ यदि ३ मया ४ तत् ५ द्रष्टुम् ६ शक्यम् ७ मन्यसे ८ ततः ९ मे १० त्वम् ११ अव्ययम् १२ आत्मानम् १३ दर्शय १४ इति १५।

अर्थ—यदि आपकी दृष्टि से उस रूप के देखने का मैं अधिकारी हूँ तो दिखाइए। हे समर्थ! १ हे योगेश्वर! २ यदि ३

मुझसे ४ वह रूप ५ देखने को ६ शक्य ७ सि० है, ऐसा आप * समझते हो अर्थात् उस रूप को मैं इन नेत्रों से देख सकूँगा ८ तो ९ मुझे १० आप ११ निर्विकार १२ आत्मा को १३ दिखाइए १४ यह १५ सि० मेरा तात्पर्य है ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नाना विधानि दिव्यानि नाना वर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच । पार्थ १ शतशः २ अथ ३ सहस्रशः ४ दिव्यानि ५ मे ६ रूपाणि ७ पश्य ८ नाना ९ विधानि १० च ११ नाना १२ वर्णाकृतीनि १३ ।

अर्थ—श्रीभगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! १ सैकड़ों हज़ारों २ । ३ । ४ दिव्य ५ मेरे ६ रूपों को ७ देखो ८ नाना प्रकार के ९ भेद हैं जिनमें १० और ११ नाना प्रकार के १२ वर्ण, नील पीत आदि और आकृति हैं जिनमें १३ सि० ऐसे रूपों को देखो वह विश्वरूप एक ही है, परन्तु नाना प्रकार के उसमें भेद हैं, इस वास्ते श्लोक में रूप का बहुवचन है 'रूपाणि' * ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

अन्वय—भारत १ आदित्यान् २ वसून् ३ रुद्रान् ४ अश्विनौ ५ मरुतः ६ पश्य ७ तथा ८ बहूनि ९ अदृष्टपूर्वाणि १० आश्चर्याणि ११ पश्य १२ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ बारह सूर्यों को २ आठ वसुओं को ३ ग्यारह रुद्रों को ४ दोनों अश्विनीकुमारों को ५ उंचास मरुद्गणों को ६ देखो ७ और ८ बहुत ९ सि० पदार्थ जो तुमने और दूसरों ने पहिले कभी * नहीं देखे हैं १० सि० उन * आश्चर्यरूपों को ११ देखो १२ सि० अब मैं दिखाता हूँ * ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

अन्वय—गुडाकेश[१] १ इह २ एकस्थम् ३ अद्य ४ मम ५ देहे ६ सचराचरम् ७ कृत्स्नम् ८ जगत् ९ पश्य १० यत् ११ च १२ अन्यत् १३ द्रष्टुम् १४ इच्छसि १५।

अर्थ—भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल की समस्त व्यवस्था तुझको दिखाता हूँ, जो असंख्यात जन्मों में तू वा और कोई नहीं देख सकता। हे अर्जुन ! १ इसी जगह २ मुझ एक में स्थित ३ अभी ४ मेरे ५ देह में ६ स्थावर जंगम ७ संपूर्ण ८ जगत् को अर्थात् कार्य-कारण के सहित समस्त जगत् को ९ देखो १० और जो ११। १२ अन्य पदार्थों के देखने की १३। १४ तू इच्छा करता है अर्थात् इस जगत् का आश्रय क्या है, कैसे उत्पन्न हुआ है, कैसी इसकी स्थिति है, कैसे लय होता है, उपादान इसका क्या है, कैसे-कैसे यह रूप बदलता है, इस लड़ाई में किसकी जीत होगी, हे अर्जुन ! जो तेरी इच्छा हो, सब देख। जो मैं अपनी इच्छा से दिखाता हूँ सो देख, और जो तेरी इच्छा हो, सो भी देख ले। ऐसा समय मिलना कठिन है १५।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अन्वय—अनेन १ स्वचक्षुषा २ माम् ३ एव ४ द्रष्टुम् ५ न ६ शक्यसे ७ ते ८ तु ९ दिव्यम् १० चक्षुः ११ ददामि १२ मे १३ योगम् १४ ऐश्वरम् १५ पश्य १६।

अर्थ—अर्जुन ने कहा था कि वह रूप मैं देख सकता हूँ या नहीं। श्रीभगवान् कहते हैं कि इन नेत्रों से तू नहीं देख सकेगा, दिव्यचक्षु मैं देता हूँ, उनसे देखेगा। इन अपने नेत्रों से १। २ मुझको ३ निःसन्देह ४ देखने को ५ नहीं ६ समर्थ है ७ तुझको ८। ९ दिव्यचक्षु १०। ११ देता हूँ १२ मेरे १३ योग को १४ सि० और * ऐश्वर्य को १५ देख १६।

तात्पर्य—किसी लोक में जो देखने सुनने में न आवे उसको दिव्य या अलौकिक कहते हैं। जो बात संभव न हो, वह जिसके द्वारा समझ में आ

---

१ गुडाका नाम निद्रा का है, निद्रा अर्जुन के वश में थी, इस हेतु गुडाकेश अर्जुन का नाम है।

विराट् रूप भगवान

जाय उसको योग कहते हैं। जीव से जो बात न हो सके, ईश्वर ही में वह बात पाई जाय, और जिसके द्वारा जीव से जुदा ईश्वर पहिचाना जाय, उसको ऐश्वर्य कहते हैं। और उसको ईश्वर का असाधारण लक्षण भी कहते हैं। ईश्वर का एक साधारण और दूसरा असाधारण लक्षण है। साधारण लक्षण वह है, जो साधारण जीवों में भी पाया जाय; जैसे कंस आदि का मारना, गोवर्धन का उठाना, बहुरूप हो जाना, इत्यादि कर्म साधारण जीव भी कर सकते हैं। कैलास का उठा लेना रावण की कथा प्रसिद्ध है। परंतु जीव विश्व-रूप नहीं दिखा सकता, यह ईश्वर का असाधारण लक्षण है ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अन्वय—सञ्जय उवाच। राजन् १ महायोगेश्वरः २ हरिः ३ एवम् ४ उक्त्वा ५ ततः ६ पार्थाय ७ परमम् ८ ऐश्वरम् ९ रूपम् १० दर्शयामास ११।

अर्थ—संजय धृतराष्ट्र से कहता है, हे राजन्! १ महायोगेश्वर २ ब्रजचन्द्र ने ३ इस प्रकार ४ सि० पूर्वोक्त * कहकर ५ फिर ६ अर्जुन को ७ परम ८ ऐश्वर्य ९ रूप १० दिखाया ११ अर्थात् श्रीभगवान् ने परम अद्भुत रूप अर्जुन को दिखाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

अन्वय—अनेकवक्त्रनयनम् १ अनेकाद्भुतदर्शनम् २ अनेकदिव्याभरणम् ३ दिव्यानेकोद्यतायुधम् ४।

अर्थ—उस विश्व-रूप के ये विशेषण हैं। अनेक मुख और नेत्र हैं जिसमें १ अनेक अद्भुत आश्चर्य करनेवाले दर्शन हैं जिसमें २ अनेक दिव्य गहने हैं जिसमें ३ अनेक दिव्य शस्त्र उठाए हुए हैं जिसमें ४ ऐसा रूप श्रीमहाराज का था, जिसे अर्जुन ने देखा ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अन्वय—दिव्यमाल्याम्बरधरम् १ दिव्यगन्धानुलेपनम् २ सर्वाश्चर्यमयम् ३ देवम् ४ अनन्तम् ५ विश्वतोमुखम् ६ ।

अर्थ—दिव्यमाला और वस्त्र धारण कर रक्खे हैं जिसने १ दिव्य गन्ध का लेपन है जिसके २ सब आश्चर्य-रूप है ३ प्रकाश-रूप ४ नहीं है अन्त जिसका ५ सब तरफ़ हैं मुख जिसमें ६ ॥११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

अन्वय—यदि १ दिवि २ सूर्यसहस्रस्य ३ भाः ४ युगपत् ५ उत्थिता ६ भवेत् ७ तस्य ८ महात्मनः ९ भासः १० सदृशी ११ सा १२ स्यात् १३ ।

अर्थ—उस विश्व-रूप का प्रकाश ऐसा था कि, जो १ आकाश में २ हज़ार सूर्यों की ३ प्रभा ४ एक बार ही ५ उदित ६ हो ७ सि० तो क्या * उस महात्मा की ८।९ प्रभा के १० बराबर ११ वह १२ सि० प्रभा * हो ? १३ अर्थात् न हो, क्योंकि वह अनुपम रूप है ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

अन्वय—तत्र १ एकस्थम् २ अनेकधा ३ प्रविभक्तम् ४ कृत्स्नम् ५ जगत् ६ तदा ७ पाण्डवः ८ देवदेवस्य ९ शरीरे १० अपश्यत् ११ ।

अर्थ—उस विश्व-रूप में १ एक के ही विषय स्थित २ अनेक प्रकार का ३ जुदा-जुदा ४ समस्त ५ जगत् को ६ उस काल में ७ अर्जुन ने ८ देवतों के भी जो देवता, उन देवदेव के ९ शरीर में १० देखा ११ अर्थात् पितृ, मनुष्य, गंधर्व आदि और जगत् में जितने पदार्थ हैं, अर्जुन ने सब भगवत् के शरीर में देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अन्वय—ततः १ सः २ धनञ्जयः ३ विस्मयाविष्टः ४ हृष्टरोमा ५ कृताञ्जलिः ६ देवम् ७ शिरसा ८ प्रणम्य ९ अभाषत १० ।

अर्थ—जब अर्जुन ने ऐसा स्वरूप देखा, तब १ वह २ अर्जुन ३ आश्चर्य से युक्त हुआ ४ रोमावली प्रफुल्लित हो गई है जिसकी ५ की है अंजलि जिसने अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर ६ सि० उसी * देव को ७ शिर से ८ प्रणाम करके अर्थात शिर झुकाकर नमस्कार करके ९ बोला १० क्या बोला, सो आगे सत्रह श्लोकों में कहते हैं ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् १५

अन्वय—अर्जुन उवाच। देव १ तव २ देहे ३ सर्वान् ४ देवान् ५ तथा ६ भूतविशेषसंघान् ७ कमलासनस्थम् ८ ईशम् ९ ब्रह्माणम् १० च ११ सर्वान् १२ ऋषीन् १३ दिव्यान् १४ उरगान् १५ च १६ पश्यामि १७ ।

अर्थ—जैसा विश्व-रूप अर्जुन के देखने में आया, उसको सत्रह श्लोकों में अर्जुन कहता है। हे देव! १ आपके २ शरीर में ३ सब देवतों को ४ । ५ और भूतों के विशेष समुदायों को अर्थात राजादिकों को ६ । ७ आपकी नाभि में जो कमल है, उस कमल के आसन पर बैठे हुए, देवतों के स्वामी, ब्रह्माजी को ८ । ९ । १० और ११ सब १२ सि० वसिष्ठ आदि * ऋषियों को १३ दिव्य १४ सि० तक्षक आदि * नागों को १५ भी १६ मैं देखता हूँ १७ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप १६

अन्वय—विश्वेश्वर १ विश्वरूप २ तव ३ न ४ आदिम् ५

पुनः ६ न ७ मध्यम् ८ न ६ अन्तम् १० पश्यामि ११ सर्वतः १२ अनन्तरूपम् १३ त्वाम् १४ अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् १५ पश्यामि १६।

अर्थ—हे विश्व के ईश्वर! १ हे विश्वरूप! २ आपका ३ न ४ आदि ५ और ६ न ७ मध्य ८ न ६ अंत १० देखता हूँ ११ सब तरफ से १२ अनन्त-रूपवाला १३ आपको १४ अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्र हैं जिसके १५ सि० ऐसा आपको * देखता हूँ १६ ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् १७

अन्वय—त्वाम् १ समन्तात् २ किरीटिनम् ३ गदिनम् ४ चक्रिणम् ५ च ६ तेजोराशिम् ७ सर्वतः ८ दीप्तिमन्तम् ६ दुर्निरीक्ष्यम् १० दीप्तानलार्कद्युतिम् ११ अप्रमेयम् १२ पश्यामि १३।

अर्थ—आपको १ सब तरफ़ से २ मुकुटवाला ३ गदावाला ४ चक्रवाला ५ और ६ तेज का पुंज ७ सब तरफ से ८ दीप्तिमान् ६ दुःख से देखा जाता है अर्थात् उसका देखना बहुत कठिन प्रतीत होता है १० चैतन्य अग्नि और सूर्य की प्रभावत् प्रभा है जिसकी ११ प्रमाण नहीं हो सकता जिसका कि इस स्वरूप की कितनी चौड़ाई है और कितनी लम्बाई १२ सि० ऐसा आपको * देखता हूँ १३ 'पश्यामि' यह क्रिया सबके साथ लगती है, जितने 'त्वां' इस एक अंकवाले पद के विशेषण हैं ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अन्वय—त्वम् १ परमम् २ अक्षरम् ३ वेदितव्यम् ४ त्वम् ५ अस्य ६ विश्वस्य ७ परम् ८ निधानम् ६ त्वम् १० अव्ययः ११ शाश्वतधर्मगोप्ता १२ सनातनः १३ पुरुषः १४ त्वम् १५ मे १६ मतः १७।

अर्थ—आपकी यह योग-शक्ति देखने से तो मैं अब यह अनुमान करता हूँ कि, आप १ परम २ ब्रह्म ३ सि० हो मुमुक्षु के *

जानने योग्य ४ आप ५ सि० ही हो * इस ६ विश्व का ७ पर ८ आश्रय ९ सि० भी आप ही हो और * आप १० नित्य ११ नित्य धर्म के पालन करनेवाले १२ सनातन पुरुष १३। १४ आप १५ सि० ही हो * मेरी १६ समझ में १७ सि० वेद भी ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं *॥ १८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्१९

अन्वय—त्वाम् १ पश्यामि २ अनादिमध्यान्तम् ३ अनन्तवीर्यम् ४ अनन्तबाहुम् ५ शशिसूर्यनेत्रम् ६ दीप्तहुताशवक्त्रम् ७ स्वतेजसा ८ इदम् ९ विश्वम् १० तपन्तम् ११।

अर्थ—आपको १ सि० मैं ऐसा * देखता हूँ २ सि० जिसके विशेषण ये हैं * नहीं है आदि मध्य अन्त जिसका ३ अनन्त पराक्रम है जिसके ४ अनंत भुजाएँ हैं जिसके ५ चन्द्र सूर्य नेत्र हैं जिसके ६ जलती हुई अग्नि मुख में है जिसके ७ अपने तेज से ८ इस विश्व को ९। १० तपाते हुए ११ सि० मुझको दीखते हो *॥ १९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

अन्वय—महात्मन् १ द्यावापृथिव्योः २ इदम् ३ अन्तरम् ४ एकेन ५ त्वया ६ हि ७ व्याप्तम् ८ सर्वाः ९ दिशः १० च ११ तव १२ इदम् १३ अद्भुतम् १४ उग्रम् १५ रूपम् १६ दृष्ट्वा १७ लोकत्रयम् १८ प्रव्यथितम् १९।

अर्थ—हे भगवन्! १ आकाश पृथिवी का २ यह ३ अन्तर ४ अकेले ५ आपसे ६ ही ७ व्याप्त ८ सि० है। और * पूर्व आदि दश दिशाएँ ९। १०सि०भी आपसे व्याप्त हो रही हैं * अर्थात् सब जगत् में आप ही पूर्ण हो रहे हो ११ आपका १२ यह १३ अद्भुत१४ क्रूर १५ रूप १६ देखकर १७ तीनों लोक १८ भय को प्राप्त हुए हैं १९ ऐसा मैं आपको देखता हूँ॥ २०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अन्वय—अमी १ सुरसंघाः २ त्वाम् ३ हि ४ विशन्ति ५ केचित् ६ भीताः ७ प्राञ्जलयः ८ स्वस्ति ९ इति १० उक्त्वा ११ गृणन्ति १२ महर्षिसिद्धसंघाः १३ पुष्कलाभिः १४ स्तुतिभिः १५ त्वाम् १६ स्तुवन्ति १७ ।

अर्थ—ये १ देवतों के समूह २ आपमें ही ३ । ४ प्रविष्ट होते हैं ५ अर्थात् आपको देवतों ने अपना आश्रय समझ रक्खा है, आपकी शरण में हैं सि० और उनमें से * कोई ६ भय को प्राप्त हो ७ दोनों हाथ जोड़े हुए ८ स्वस्ति ९ यह १० सि० शब्द * कहकर अर्थात् आपका कल्याण हो, भला हो ११ सि० यह कहते हुए आपकी * प्रार्थना कर रहे हैं अर्थात् आपकी जय हो जय हो, आप हमारी रक्षा करो, यह कह रहे हैं १२ सि० और * बड़े-बड़े ऋषीश्वर सिद्धों के समूह १३ बड़े-बड़े १४ स्तोत्रों से १५ आपकी १६ स्तुति कर रहे हैं १७ ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

अन्वय—रुद्रादित्या वसवः १ साध्याः २ च ३ ये ४ विश्वे ५ अश्विनौ ६ मरुतः ७ च ८ ऊष्मपाः[१] ९ च १० गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः ११ च १२ सर्वे १३ एव १४ विस्मिताः १५ त्वाम् १६ वीक्षन्ते १७ ।

अर्थ—ग्यारह रुद्र, बारह सूर्य, आठ वसु १ और साध्य देवता २ । ३ जो ४ सि० हैं * विश्वेदेव ५ अश्विनीकुमार ६

---

१ ऊष्मपा पितरों का नाम इस वास्ते है कि वे गरम भोजन के भागी हैं । जब तक अन्न गरम रहता है, और जब तक ब्राह्मण चुपचाप भोजन करते रहें, बोलें नहीं, तब तक ही पितर भोजन करते हैं । तदुक्तम् "यावदुष्णं भवेदन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः । पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥"

और उंचास मरुद्गण ७।८ और पितर ९ । १० और गंधर्व (हूहू हाहा आदि) यक्ष (कुबेर आदि) असुर (विरोचन आदि) सिद्ध (कपिलदेव आदि) इन सबके समूह ११ । १२ सि० कहाँ तक कहूँ * सब १३ ही १४ आश्चर्ययुक्त १५ आपको १६ देखते हैं १७ सि० इस प्रकार का आपका रूप मैं देखता हूँ *॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्॥२३॥

अन्वय--महाबाहो १ ते २ महत् ३ रूपम् ४ दृष्ट्वा ५ लोकाः ६ प्रव्यथिताः ७ तथा ८ अहम् ९ बहुवक्त्रनेत्रम् १० बहुबाहूरुपादम् ११ बहूदरम् १२ बहुदंष्ट्राकरालम् १३ ।

अर्थ—हे महाबाहो ! १ आपका २ बड़ा ३ रूप ४ देखकर ५ लोक ६ भय को प्राप्त हो रहे हैं ७ सि० जैसे और लोक भयभीत हो रहे हैं * वैसे ही ८ मैं ९ सि० भी भय को प्राप्त हूँ, क्योंकि वह रूप ही आपका ऐसा है कि जिसके ये विशेषण हैं * बहुत मुख और नेत्र हैं जिसके १० बहुत भुजा, जंघा, चरण हैं जिसके ११ बहुत पेट हैं जिसके १२ बहुत विकराल कठिन डाढ़ें हैं जिसकी १३ अर्थात् ऐसा आपका रूप है कि जिसको देखकर मैं डरता हूँ ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो २४

अन्वय—विष्णो १ त्वाम् २ नभःस्पृशम् ३ दीप्तम् ४ अनेकवर्णम् ५ व्यात्ताननम् ६ दीप्तविशालनेत्रम् ७ दृष्ट्वा ८ हि ९ प्रव्यथितान्तरात्मा १० धृतिम् ११ शमम् १२ च १३ न १४ विन्दामि १५ ।

अर्थ--हे विष्णो ! १ आपको २ आकाश के साथ स्पर्श करता हुआ अर्थात् समस्त आकाश में व्याप्त ३ तेज रूप ४ अनेक वर्णवाला ५ फैला हुआ है मुख जिसका ६ प्रज्वलित हो रहे हैं बड़े-बड़े नेत्र जिसके ७ सि० ऐसा आपको * देखकर ८ ही ९

बहुत भय को प्राप्त हुआ है अंतःकरण मेरा १० धृति ११ और उपशम को १२। १३ नहीं १४ प्राप्त होता हूँ १५ अर्थात् मुझको न धीरज बँधता है, न मन में संतोष होता है, ऐसा आपका स्वरूप देखकर मेरा चित्त घबड़ाता है ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

अन्वय--देवेश १ जगन्निवास २ ते ३ मुखानि ४ कालानलसन्निभानि ५ दृष्ट्वा ६ एव ७ च ८ दंष्ट्राकरालानि ९ दिशः १० न ११ जाने १२ शर्म १३ च १४ न १५ लभे १६ प्रसीद १७।

अर्थ--हे देवतों के ईश्वर ! १ हे जगत् के आश्रय ! २ आपके ३ मुख ४ प्रलयाग्नि के समान ५ देखकर ६। ७। ८ सि० कैसे हैं वे आपके मुख * कठिन डाढ़ें हैं जिनमें ९ ऐसे मुखों को देख पूर्व आदि दशों दिशाओं को १० नहीं ११ जानता हूँ अर्थात् मुझको यह नहीं प्रतीत होता कि पूर्व किधर, उत्तर किधर, पृथिवी कहाँ और आकाश कहाँ है १२ और सुखको १३। १४ नहीं १५ प्राप्त हूँ १६ अर्थात् मेरा अंतःकरण विक्षेप को प्राप्त हुआ है। प्रसन्न हूजिए १७ ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः २६

अन्वय--अमी १ च २ सर्वे ३ धृतराष्ट्रस्य ४ पुत्राः ५ अवनिपालसंघैः ६ सह ७ भीष्मः ८ द्रोणः ९ तथा १० असौ ११ सूतपुत्रः १२ अस्मदीयैः १३ अपि १४ योधमुख्यैः १५ सह १६ त्वाम् १७ एव १८।

अर्थ--श्रीभगवान् ने कहा था कि इस संग्राम में जो जीतेगा, हे अर्जुन ! सो भी देख, वही बात देखता हुआ अर्जुन पाँच श्लोकों में कहता है। और ये १। २ सब ३ धृतराष्ट्र के ४ पुत्र ५ राजों के समूहसहित ६। ७ भीष्म पितामह ८ द्रोणाचार्य ९ और १० यह ११ कर्ण १२ हमारे १३ भी १४ मुख्य योधाओं के १५ साथ १६ आपमें १७ ही १८ सि० प्रवेश करते हैं *

अर्थात् आपके मुख में प्रवेश करते हैं, इस श्लोक का सम्बन्ध अगले श्लोक के साथ है।

तात्पर्य—कुछ यही नहीं कि दुर्योधन आदि ही आपके मुख में प्रविष्ट होते हैं, किन्तु हमारी ओर के भी सब राजा आपके मुख में दौड़-दौड़ कर प्रवेश करते हैं। यह आश्चर्य मैं देखता हूँ ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

अन्वय—त्वरमाणाः १ ते २ वक्त्राणि ३ विशन्ति ४ दंष्ट्राकरालानि ५ भयानकानि ६ केचित् ७ चूर्णितैः ८ उत्तमाङ्गैः ९ दशनान्तरेषु १० विलग्नाः ११ संदृश्यन्ते १२ ।

अर्थ—मि० यह सब योधा * दौड़ते हुए १ आपके २ मुखों में ३ प्रविष्ट होते हैं ४ मि० कैसे हैं वे मुख कि * कठिन डाढ़ दाँत हैं जिनमें ५ भयानक रूप ६ मि० जो मुख में प्रविष्ट होते हैं, उनमें * कोई ७ मि० तो ऐसे हैं कि * चूर्ण हो गए हैं शिर जिनके ८। ९ मि० वे * दाँतों के बीच में ही १० लटके हुए ११ दीखते हैं १२ ।

तात्पर्य—जैसे अन्न भोजन करने के बाद दाँतों में अन्न रह जाता है, जिसको तिनके से निकालते हैं, उसी प्रकार बहुत से शूरवीर श्रीमहाराज के दाँतों की सन्धियों में उलझे हुए दीखते हैं ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति २८

अन्वय—यथा १ नदीनाम् २ बहवः ३ अम्बुवेगाः ४ समुद्रम् ५ एव ६ अभिमुखाः ७ द्रवन्ति ८ तथा ९ अमी १० नरलोकवीराः ११ तव १२ अभितो ज्वलन्ति १३ वक्त्राणि १४ विशन्ति १५ ।

अर्थ—अर्जुन दृष्टान्त देते हैं कि इस प्रकार आपके मुख में प्रविष्ट होते हैं। जैसे १ नदियों के २ बहुत ३ जल के वेग ४ समुद्र के ५ ही ६ सम्मुख ७ दौड़ते हैं ८ वैसे ९ ये १० नरलोक

वीर ११ आपके १२ सब तरफ़ से जलते हुए मुखों में १३। १४ प्रविष्ट होते हैं १५।

तात्पर्य—आपका मुख सब तरफ से प्रज्वलित हो रहा है, उसमें दौड़-दौड़ गिरते हैं। महाराज के मुख में सब तरफ से जलती हुई अग्नि प्रतीत होती है। जैसे कहते हैं कि दीपक जल रहा है, वैसे ही यहाँ कहा कि महाराज का मुख प्रज्वलित हो रहा है ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः २९

अन्वय—यथा १ समृद्धवेगाः २ पतङ्गाः ३ नाशाय ४ प्रदीप्तम् ५ ज्वलनम् ६ विशन्ति ७ तथा ८ एव ९ समृद्धवेगाः १० लोकाः ११ नाशाय १२ अपि १३ तव १४ वक्त्राणि १५ विशन्ति १६।

अर्थ—नदी के दृष्टान्त से तो यह प्रकट किया कि परवश आपके मुख में प्रविष्ट होते हैं, अब पतंग के दृष्टान्त से यह दिखाता है कि जान-बूझकर आपके मुख में प्रवेश करते हैं। जैसे १ समृद्ध वेग है जिनका अर्थात् शीघ्र चाल है जिनकी, दौड़ते-उड़ते हुए २ छोटे-छोटे कीट ३ मरने के लिये ४ प्रदीप्त ५ अग्नि में अर्थात् जलती हुई अग्नि या दीपक की अग्नि में ६ प्रवेश करते हैं ७ वैसे ८ ही ९ बड़ा वेग है जिनका १० मि० ऐसे * शूर-वीर ११ मरने के लिये १२ ही १३ आपके १४ मुख में १५ प्रवेश करते हैं १६ ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

अन्वय—ज्वलद्भिः १ वदनैः २ समग्रान् ३ लोकान् ४ समन्तात् ५ ग्रसमानः ६ लेलिह्यसे ७ विष्णो ८ तव ९ उग्राः १० भासः ११ तेजोभिः १२ समग्रम् १३ जगत् १४ आपूर्य १५ प्रतपन्ति १६।

अर्थ—दीप्तिमान् १ मुखों से २ सब लोकों का अर्थात् इन बड़े-बड़े शूर-वीरों का ३। ४ सब तरफ़ से ५ ग्रास करते हुए ६ भले प्रकार भक्षण कर रहे हो ७ हे पूर्णब्रह्म व्यापक ! आपकी ८। ९

तीव्र १० प्रभा ११ मि० अपने ※ तेज से १२ समस्त १३ जगत् को १४ व्याप्त करके १५ जला रहा है अर्थात् आपके तेज की किरणें सब जगत् में फैलकर जला रही हैं, आप सब जगत् को चटनी की तरह चाट रहे हो, ऐसे मुझको दीखते हो १६ ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

अन्वय—भवान् १ उग्ररूपः २ कः ३ मे ४ आख्याहि ५ नमः ६ अस्तु ७ देववर ८ प्रसीद ९ भवन्तम् १० आद्यम् ११ विज्ञातुम् १२ इच्छामि १३ तव १४ प्रवृत्तिम् १५ नहि १६ प्रजानामि १७ ।

अर्थ—आप १ उग्ररूप २ कौन ३ मि० हो, यह ※ मुझसे ४ कहो ५ मि० मेरा आपको ※ नमस्कार ६ हो ७ हे देवतों में श्रेष्ठ ! ८ प्रसन्न हो ९ आप आद्य हो अर्थात् सबसे पहिले आप हो १० । ११ मि० इस बात को ※ भले प्रकार जानने की १२ इच्छा करता हूँ अर्थात् आदि पुरुष जो आप हो सो आपको भले प्रकार जानना चाहता हूँ १३ आपकी १४ प्रवृत्ति को १५ नहीं १६ जानता हूँ अर्थात् यह ऐसा स्वरूप आपने क्यों धारण किया है १७ ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥३२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच । लोकक्षयकृत् १ प्रवृद्धः २ कालः ३ अस्मि ४ लोकान् ५ समाहर्तुम् ६ इह ७ प्रवृत्तः ८ त्वाम् ९ ऋते १० अपि ११ ये १२ सर्वे १३ योधाः १४ प्रत्यनीकेषु १५ अवस्थिताः १६ न १७ भविष्यन्ति १८ ।

अर्थ—श्रीभगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! जो तू पूछता है सो सुन, जो मैं हूँ, और जिस वास्ते मैंने यह रूप धारण किया है, तीन श्लोकों में कहता हूँ । लोकों का नाश करनेवाला १ अति उग्र २ काल ३ मैं हूँ ४ लोकों के नाश करने को ५ । ६ इस लोक

में ७ प्रवृत्त ८ सि० हुआ हूँ। तूने जो पूछा था कि आप कौन हो और किस वास्ते आपकी यह प्रवृत्ति है, सो समझ और सुन * तेरे ९ बिना १० भी ११ ये १२ सब १३ योद्धा १४ दोनों सेनाओं में १५ सि० जो * स्थित हैं १६ नहीं १७ होंगे १८ अर्थात् जो तू यह शंका करता है कि मैं इनका मारनेवाला हूँ। ये सब तेरे मारे बिना भी मरेंगे। जो ये सब दीखते हैं, मुझ काल-रूप से कोई भी नहीं बचेगा। क्षत्रिय जाति में तू मेरा भक्त है, तुझको यह यश देता हूँ ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अन्वय--तस्मात् १ त्वम् २ उत्तिष्ठ ३ यशः ४ लभस्व ५ शत्रून् ६ जित्वा ७ समृद्धम् ८ राज्यम् ९ भुंक्ष्व १० एते ११ एव १२ पूर्वम् १३ एव १४ मया १५ निहताः १६ सव्यसाचिन्[1] १७ निमित्तमात्रम् १८ भव १९।

अर्थ--इस कारण १ तू २ सि० युद्ध के लिये * खड़ा हो ३ यश को ४ प्राप्त हो ५ सि० जो भीष्म पितामह, द्रोण आदि, देवतों से भी जीते न जावें, उनको जीतकर यश को प्राप्त हो * वैरियों को ६ जीतकर ७ पदार्थों से भरा हुआ ८ राज्य ९ भोग १० ये ११ तो १२ पहिले १३ ही १४ मैंने १५ मार रक्खे हैं १६ हे अर्जुन! १७ निमित्तमात्र १८ तू हो जा अर्थात् इनका तो काल आ पहुँचा, तू प्रत्यक्ष देखता है और वे काल के मुख में अपने आप दौड़े जाते हैं। तू तो केवल नाम-मात्र मारनेवाला है, यश प्राप्त कर ले १९ ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ३४

अन्वय--द्रोणम् १ च २ भीष्मम् ३ च ४ जयद्रथम् ५ च ६ कर्णम् ७ तथा ८ अन्यान् ९ अपि १० योधवीरान् ११ मया १२

१ अर्जुन बाएँ हाथ से भी धनुष खींचकर बाण चलाता था, इसलिये अर्जुन का नाम सव्यसाची है।

हतान् १३ त्वम् १४ जहि १५ मा व्यथिष्ठाः १६ युध्यस्व १७ रणे १८ सपत्नान् १९ जेता २० असि २१ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! तुमने यह कहा था कि मैं यह नहीं जानता कि ये हमको जीतेंगे, या हम इनको । अब यह सब तूने प्रत्यक्ष देख लिया कि निःसन्देह तू ही जीतेगा । द्रोणाचार्य १ । २ और भीष्म पितामह ३ । ४ और जयद्रथ ५ । ६ कर्ण ७ वैसे ही ८ औरों को ९ भी १० सि० जो-जो * मुख्य योधा हैं ११ सि० इन सब * मेरे १२ मारे हुओं को १३ तू १४ मार १५ मत डर १६ सि० इनके साथ * युद्ध कर १७ रण में १८ वैरियों को १९ तू जीतेगा २० । २१ ॥ ३४ ॥

सञ्जय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

अन्वय—सञ्जय उवाच । किरीटी १ केशवस्य २ एतत् ३ वचनम् ४ श्रुत्वा ५ कृताञ्जलिः ६ वेपमानः ७ नमः ८ कृत्वा ९ आह १० भूयः ११ एव १२ भीतभीतः १३ सगद्गदम् १४ कृष्णम् १५ प्रणम्य १६ ।

अर्थ—संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि हे राजन् ! मुकुटवाला अर्जुन १ भगवान् का २ यह ३ वचन ४ सुनकर ५ की है अंजलि जिसने अर्थात् दोनों हाथ जोड़े हुए ६ काँपता हुआ ७ नमस्कार ८ करके ९ बोला १० फिर ११ भी १२ बहुत डरता हुआ १३ गद्गदकंठ हो रहा है जिसका १४ श्रीकृष्णजी को १५ प्रणाम करके १६ सि० यह बोला, जो आगे ग्यारह श्लोकों में कहता है * ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः३६

अन्वय—अर्जुन उवाच । हृषीकेश १ तव २ प्रकीर्त्या ३ जगत् ४ प्रहृष्यति ५ अनुरज्यते ६ च ७ भीतानि ८ रक्षांसि ९

दिशः १० द्रवन्ति ११ सर्वे १२ च १३ सिद्धसंघाः १४ नमस्यन्ति १५ स्थाने १६ ।

अर्थ—हृषीक इंद्रियों का नाम है, इंद्रियों का जो स्वामी अर्थात् प्रेरक, अंतर्यामी, उसको हृषीकेश कहते हैं। सि० अर्जुन कहता है कि * हृषीकेश अर्थात् हे कृष्णचन्द्रजी ! १ आपकी २ प्रकीर्ति से अर्थात् आपका माहात्म्य कहने-सुनने से ३ जगत् ४ आनन्दित होता है ५ और अनुराग को प्राप्त होता है, अर्थात् जगत् आपसे प्रीति करता है ६ । ७ सि० और * डरते हुए ८ राक्षस ९ पूर्व आदि दिशाओं को १० भागते हैं ११ और सब १२ । १३ सिद्धों के समूह १४ सि० आपको * नमस्कार करते हैं १५ यह सब युक्त है अर्थात् यह बात ऐसी ही चाहिए १६ । ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

अन्वय—महात्मन् १ अनन्त २ देवेश ३ जगन्निवास ४ कस्मात् ५ ते ६ न ७ नमेरन् ८ ब्रह्मणः ९ अपि १० गरीयसे ११ च १२ आदिकर्त्रे १३ यत् १४ सत् १५ असत् १६ परम् १७ अक्षरम् १८ तत् १९ त्वम् २० ।

अर्थ—आपको नमस्कार करने के ये हेतु हैं, फिर यह कब हो सकता है कि यह सब जगत् आपको नमस्कार न करे। महात्मन्! १ हे अनन्त ! २ हे देवेश ! ३ हे जगन्निवास ! ४ किसहेतु ५ आपको ६ नहीं ७ नमस्कार करें ८ सि० आपके सामने नम्र होने के चार हेतु तो मैंने कहे कि आप महात्मा, अनन्त, देवेश और जगत् का आश्रय हो, पाँच और सुनिए। प्रथम यह कि आप * ब्रह्माजी से ९ भी १० गुरुतर ११ । १२ सि० हो, दूसरा यह कि ब्रह्माजी के कर्ता भी आप ही हो, इसीवास्ते आपको * आदिकर्ता १३ सि० कहते हैं, तुम्हारे अर्थ नमस्कार हो, 'आदिकर्त्रे' और 'गरीयसे' ये दोनों 'ते' इस छठे अंकवाले पद के विशेषण हैं । तीनों पदों में चतुर्थी विभक्ति है, सोई अर्थ समझना चाहिए । तीसरा यह कि * जो १४ सत्

अर्थात् व्यक्त १५ असत् अर्थात् अव्यक्त १६ सि० और इन दोनों से * परे १७ सि० जो * अक्षर ब्रह्म १८ सो १६ आप २० सि० ही हो * अर्थात् तीसरा यह कि जो व्यक्त मूर्तिमान् हो, सो भी आप हो १५ चौथा यह कि जो अव्यक्त-स्वरूप आपका है, सो भी आप हो १६ पाँचवाँ यह कि जो व्यक्त और अव्यक्त से परे अक्षर पूर्णब्रह्म शुद्ध सच्चिदानन्द है, सो भी आप हो १८ ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

अन्वय—त्वम् १ आदिदेवः २ पुराणः ३ पुरुषः ४ त्वम् ५ अस्य ६ विश्वस्य परम् ७ निधानम् ८ वेत्ता ६ असि १० वेद्यम् ११ च १२ परम् १३ च १४ धाम १५ त्वया १६ विश्वम् १७ ततम् १८ अनन्तरूप १६ ।

अर्थ—आपके सामने नम्र होने में सात हेतु और भी हैं। प्रथम यह कि आप १ आदिदेव २ पुराण ३ पुरुष ४ सि० हो * दूसरा हेतु यह कि आप ५ इस विश्व के ६ । ७ लय का स्थान ८ सि० हो * अर्थात प्रलय के समय यह सब जगत् मायोपहित आपके स्वरूप में ही लय हो जाता है ८ सि० तीसरा हेतु यह कि सब पदार्थों के * जाननेवाले ६ हो १० सि० चौथा हेतु यह कि * जानने के योग्य ११ भी १२ सि० आप ही हो, अर्थात् आपका ही जानना श्रेष्ठ है और सब वृथा है। पाँचवाँ हेतु यह कि * परमधाम भी अर्थात् परमहंसों का पद भी आप ही हो १३ । १४ । १५ सि० छठा हेतु यह कि * आपसे १६ सि० यह समस्त * विश्व १७ व्याप्त १८ सि० हो रहा है। सातवाँ हेतु यह कि आप * अनन्तरूप १६ सि० हो। हे अनन्तदेव ! इन कारणों से आप हमारे पूज्य हो, हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं * ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३६ ॥

अन्वय– वायुः १ यमः २ अग्निः ३ वरुणः ४ शशाङ्कः ५ प्रजापतिः ६ प्रपितामहः ७ त्वम् ८ ते ९ नमः १० नमः ११ च १२ अस्तु १३ सहस्रकृत्वः १४ भूयः १५ च १६ अपि १७ पुनः १८ ते १९ नमः २० नमः २१ ।

अर्थ—इस श्लोक में 'अनन्त' इस सातवें हेतु को विस्तार से कहते हैं। पवन १ यमराज २ अग्नि ३ वरुण ४ चन्द्रमा ५ ब्रह्मा ६ ब्रह्मा के भी पितामह ७ आप ८ सि० हो, अर्थात् आप असंख्यात रूप हो * आपको ९ बार-बार नमो नमः १०।११।१२ हो १३ हज़ार बार १४ और फिर भी १५। १६। १७ बार-बार १८ आपको १९ नमो नमः २० अर्थात् जैसे आप अनन्तरूप हो, वैसे ही मेरे अनन्त नमस्कार हैं २१ बार-बार नमस्कार करने से श्रीमहाराज में अतिश्रद्धा भक्ति प्रकट करता है ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

अन्वय—सर्व १ पुरस्तात् २ ते ३ नमः ४ अथ ५ पृष्ठतः ६ ते ७ नमः ८ अस्तु ९ सर्वतः १० एव ११ अनन्तवीर्य १२ त्वम् १३ अमितविक्रमः १४ सर्वम् १५ समाप्नोषि १६ ततः १७ सर्वः १८ असि १९ ।

अर्थ—फिर भी और प्रकार से नमस्कार करता हुआ श्रीमहाराज की स्तुति करता है । हे सर्व अर्थात् सर्व-रूप सबके आत्मा १ पूर्व की ओर से २ आपको ३ नमस्कार ४ और ५ पिछली तरफ़ से ६ आपको ७ नमस्कार ८ हो ९ सब तरफ़ से १० ही ११ सि० आपको नमस्कार करता हूँ * हे अनन्त-वीर्य ! १२ आप १३ बेमर्याद पराक्रमवाले १४ सि० हो : सब १५ सि० जगत् में * भले प्रकार आप व्याप्त हो १६ इस कारण १७ सर्व-रूप १८ आप हो १९ ।

तात्पर्य—कोई-कोई वीर्यवान् अर्थात् बलवान होते हैं, परन्तु समय पर पराक्रम नहीं करते । वीर्य और विक्रम-पराक्रम शब्दों में यह भेद इस जगह

समझना चाहिए, अर्थात् श्रीभगवान अनन्तवीर्य भी हैं, और अनंतपराक्रम-वाले भी हैं ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥

अन्वय—सखा १ इति २ मत्वा ३ प्रसभम् ४ यत् ५ उक्तम् ६ हे कृष्ण ७ हे यादव ८ हे सखे ९ इति १० अजानता ११ तव १२ इदम् १३ महिमानम् १४ मया १५ प्रमादात् १६ वा १७ प्रणयेन १८ अपि १९।

अर्थ—अर्जुन श्रीकृष्णचन्द्र महाराज को पहिले सदा से अपना सखा समझता था, हँसी के समय जो चाहता था, कह देता था। अब श्रीमहाराज की यह महिमा देख उस अपराध को दो श्लोकों में क्षमा कराता है कि० आपको प्राकृतवत् अपना * सखा १ ही २ समझकर ३ हठपूर्वक ४ जो ५ कि० मैंने * कहा ६ कि० सो आप क्षमा कीजिए। मैंने क्या-क्या कहा, सो सुनो * हे कृष्ण ७ कि० मेरा कहा नहीं मानता, इस प्रकार आधा नाम लेकर आपको पुकारा * हे यादव ! ८ कि० यहाँ नहीं आता * हे सखा ! ९ तू क्या करता है, इस प्रकार १० कि० प्राकृतों की तरह आपको संबोधन किया * नहीं जाननेवाला मैं ११ आपका १२ इस महिमा का १३ कि०था * अर्थात् इस आपकी महिमा को मैं नहीं जानता था १४ कि०इस-हेतु * मैंने १५ प्रमाद से १६ कि०आपको ऐसा कहा * अथवा १७ स्नेह से १८ भी १९ कि० ऐसा कहा जा सकता है * ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथ वाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अन्वय—विहारशय्यासनभोजनेषु १ एकः २ अथवा ३ तत्समक्षम् ४ अपि ५ अवहासार्थम् ६ यत् ७ च ८ असत्कृतः ९ असि १० अच्युत ११ तत् १२ त्वाम् १३ अहम् १४ क्षामये १५ अप्रमेयम् १६।

अर्थ—विहार शय्या आसन भोजन के समय १ अकेले २

अथवा ३ उन मित्रों के सामने ४ भी ५ आपके और अपने हँसाने के लिये ६ जो ७। ८ सि० मैंने आपका * असत्कार किया है ९। १० हे निर्विकार ! ११ सो १२ आपसे १३ मैं १४ क्षमा कराता हूँ १५ सि० आप क्षमा कीजिए। कैसे हैं आप * नहीं है प्रमाण आपका अर्थात् आप अप्रमेय हो १६।

तात्पर्य—आपकी महिमा का पारावार नहीं। आपके लीला-चरित्रों में जो तर्क करते हैं, वे बड़े मूर्ख हैं। आप अचिन्त्य शक्तिमान् हो। हँसी-खेल करना इत्यादि क्रिया को विहार कहते हैं। पलँग पर लेटना, उस समय को शय्या का समय कहते हैं। मसनद गद्दी तकिए लगे हुए बिछौनों पर बैठना, उसको आसन का समय कहते हैं। भोजन का समय स्पष्ट प्रसिद्ध है। इन समयों में अर्जुन व्रजचन्द्र से अकेला भी, औरों के सामने भी हँसी किया करता था। श्रीमहाराज कभी चुप हो जाते थे, कभी आप भी छेड़छाड़ करने लगते थे। इस भक्ति की महिमा के प्रताप पर, और मेरे इस संक्षेप लिखने पर सोचना चाहिए कि अभागे मनुष्य यह भगवन् का माहात्म्य सुनते भी हैं, परन्तु संसार से छूटकर नारायण के चरण-कमलों में प्रीति नहीं करते। न जाने फिर कौन-सा मुहूर्त आवेगा, जिस दिन भगवत् में ऐसे श्रोताओं की प्रीति होगी ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः॥४३

अन्वय—अस्य १ चराचरस्य २ लोकस्य ३ त्वम् ४ पिता ५ असि ६ पूज्यः ७ च ८ गुरुः ९ गरीयान् १० त्वत्समः ११ न १२ अस्ति १३ अन्यः १४ अभ्यधिकः १५ कुतः १६ अप्रतिम-प्रभावः १७ लोकत्रये १८ अपि १९।

अर्थ—श्रीभगवान् का अचिन्त्य प्रभाव निरूपण करता है। इस १ चराचर २ लोक के ३ आप ४ जनक ५ हो ६ और पूजन के योग्य ७। ८ गुरु ९ गुरुतर १० सि० भी आप हो। जिससे एक अक्षर भी सीखा जावे, उसको भी गुरु कहते हैं, या जिससे कोई लौकिक विद्या सीखी जावे, या पुरोहित को अर्थात् संस्कार करानेवाले को भी गुरु कहते हैं। एक कुल-गुरु

होता है, जैसे इन दिनों में कंठी बाँधने का रिवाज है, कंठीबंध भी गुरु कहलाते हैं, और एक सद्गुरु होते हैं, जो जिज्ञासु का अज्ञान, संशय, विपर्यय, ये अपने ज्ञान के प्रताप से दूर करके परमानन्द-स्वरूप आत्मा को प्राप्त कराते हैं। ऐसे गुरु दुर्लभ हैं। श्रीसदाशिवजी कहते हैं कि हे पार्वतीजी! धन के हरनेवाले गुरु बहुत हैं, किंतु शिष्य का सन्ताप हरनेवाले गुरु दुर्लभ हैं। तदुक्तं "गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः। दुर्लभः स गुरुर्देवि शिष्यसन्तापहारकः॥" अर्जुन कहता है कि महाराज! * आपके समान ११ नहीं १२ है १३ सि० कोई भी, फिर * दूसरा १४ अधिक १५ कहाँ से १६ सि० हो * हे अनुपम प्रभाववाले! १७ तीन लोक में १८ भी १९ सि० कोई न आपके सदृश, न आपसे अधिक, जैसा आपका प्रभाव है, ऐसा प्रभाववाला कोई उपमा के वास्ते भी नहीं है * ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥४४॥

अन्वय—तस्मात् १ त्वम् २ अहम् ३ प्रसादये ४ ईशम् ५ ईड्यम् ६ कायम् ७ प्रणिधाय ८ प्रणम्य ९ पुत्रस्य १० पिता ११ इव १२ सख्युः १३ सखा १४ इव १५ प्रियः १६ प्रियायाः १७ देव १८ सोढुम् १९ अर्हसि २० ।

अर्थ—अनजान में मुझसे दोष हुआ इस कारण १ आपको २ मैं ३ प्रसन्न करता हूँ ४ सि० आप * ईश्वर ५ स्तुति करने योग्य हो ६ सि० इसवास्ते * शरीर को ७ नीचे झुकाकर ८ बहुत नम्र होकर ९ सि० आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि * पुत्र का १० सि० अपराध * पिता ११ जैसे १२ मित्र का १३ सि० अपराध * मित्र १४ जैसे १५ पुरुष १६ स्त्री का १७ सि० अपराध जैसे क्षमा करता है, इसी प्रकार * हे देव १८ सि० मेरा पिछला अपराध * क्षमा करने को १९ आप योग्य हो २० अर्थात् पीछे मुझसे जो-जो दोष हुए हैं, आप कृपा

करके उन अपराधों को अब क्षमा कीजिए। आपसे मैं इस समय बहुत डरता हूँ। अब कभी आपकी हँसी न करूँगा, न औरों से कराऊँगा ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अन्वय—देव १ देवेश २ जगन्निवास ३ तत् ४ एव ५ रूपम् ६ मे ७ दर्शय ८ प्रसीद ९ अदृष्टपूर्वम् १० दृष्ट्वा ११ हृषितः १२ अस्मि १३ भयेन १४ च १५ मे १६ मनः १७ प्रव्यथितम् १८।

अर्थ—अपराध क्षमा कराके प्रार्थना करता है, अब इस प्रकार आज्ञा नहीं करता है कि मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करो। देव! १ हे देवेश! २ हे जगन्निवास! ३ वही ४। ५ रूप ६ मुझको ७ दिखाइए ८ सि० जो श्यामसुन्दर रूप पहिले मैंने देखा था * आप प्रसन्न हो जाइए ९ पहिले मैंने नहीं देखा था १० सि० आपका यह रूप, इसवास्ते इसको * देखकर ११ मैं आनन्दित होता हूँ १२। १३ सि० परंतु इस रूप से * भय करके १४। १५ मेरा १६ मन १७ डरता है १८ सि० भय इसवास्ते लगता है कि आप काल-रूप भयंकर मूर्तिमान् हो रहे हैं * ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

अन्वय—सहस्रबाहो १ विश्वमूर्ते २ तथा ३ एव ४ किरीटिनम् ५ गदिनम् ६ चक्रहस्तम् ७ त्वाम् ८ अहम् ९ द्रष्टुम् १० इच्छामि ११ तेन १२ एव १३ चतुर्भुजेन १४ रूपेण १५ भव १६।

अर्थ—श्रीमहाराज का माधुर्य रूप, जिसे अर्जुन सदा देखा करता था, उसी को देखना चाहता है, हे सहस्रबाहो! १ हे विश्वमूर्ते! २ वैसे ३ ही ४ किरीटवाला ५ गदावाला ६ चक्र है हाथ में जिनके ७ सि० ऐसा * आपको ८ मैं ९ देखने की १० इच्छा करता हूँ ११ उस ही १२।१३ चतुर्भुज-रूपवाले १४।१५ सि०

अर्थात् वैसे ही * हो जाइए १६ सि० अब इस हज़ारों भुजावाले विश्वरूपको शान्त कीजिए। अर्जुन को सदा श्रीकृष्णचन्द्र महाराज चतुर्भुज दीखा करते थे, अर्जुन उसी रूप का उपासक है, इस वास्ते अर्जुन को वही रूप प्यारा लगता है * ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

अन्वय--श्रीभगवान् उवाच । अर्जुन १ मया २ प्रसन्नेन ३ आत्मयोगात् ४ तव ५ इदम् ६ यत् ७ मे ८ आद्यम् ९ अनन्तम् १० तेजोमयम् ११ परम् १२ विश्वम् १३ रूपम् १४ दर्शितम् १५ त्वदन्येन १६ न १७ दृष्टपूर्वम् १८ ।

अर्थ--श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! १ मैंने २ प्रसन्न होकर ३ अपने योग से ४ तुझको ५ यह ६ जो ७ अपना ८ आदि ९ अनन्त १० तेजोमय ११ परम १२ विश्व-रूप १३ । १४ दिखाया १५ सि० कैसा है यह रूप * सिवाय तेरे अर्थात् सिवाय तुझ सदृश भक्तों के १६ नहीं १७ देखा है पहिले १८ सि० किसी अभक्त ने । श्रीमहाराज व्रजचंद्र में योगमाया आदि अनेक अनन्त अचिन्त्य शक्तियाँ हैं उन शक्तियों से जब चाहें विश्व-रूप दिखा सकते हैं * ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

अन्वय--कुरुप्रवीर १ नृलोके २ त्वदन्येन ३ एवम् ४ अहम् ५ रूपः ६ द्रष्टुम् ७ न ८ वेदयज्ञाध्ययनैः ९ न १० दानैः ११ न च १२ क्रियाभिः १३ न १४ उग्रैः १५ तपोभिः १६ शक्यः १७ ।

अर्थ--यह मेरा विश्व-रूप मेरी कृपा के विना वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करने से कोई नहीं देख सकता। हे अर्जुन ! १ मर्त्य-लोक में २ सिवाय तेरे ३ इस प्रकार ४ मेरा ५ रूप ६ देखने को ७ न ८ वेदयज्ञों का अध्ययन करके ९ न १० दान करके ११ न १२ क्रिया करके १३ न १४ अत्यन्त तप करके १५ । १६

सि० कोई * समर्थ १७ सि० हुआ, और न होगा * ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४६॥

अन्वय—ईदृक् १ मम २ इदम् ३ घोरम् ४ रूपम् ५ दृष्ट्वा ६ ते ७ व्यथा ८ मा ६ विमूढभावः १० च ११ मा १२ व्यपेतभीः १३ प्रीतमनाः १४ पुनः १५ त्वम् १६ मे १७ तत् १८ एव १६ रूपम् २० इदम् २१ प्रपश्य २२ ।

अर्थ—श्रीभगवान् ने विश्व-रूप की बहुत स्तुति भी की, परन्तु अर्जुन का डर न गया । तब श्रीमहाराज ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन ! क्यों डरता है, फिर वही श्यामसुन्दर स्वरूप, जो तुझे प्यारा लगता है, देख । इस प्रकार १ मेरा २ यह ३ घोर ४ रूप ५ देखकर ६ तुझको ७ व्यथा ८ मत ६ सि० हो * और मूढ़ता १० । ११ मत १२ सि० हो । मूढ़ता से दुःख और भय होता है * भय दूरकर १३ मन में प्रीति कर १४ फिर १५ तू १६ मेरा १७ वही १८ । १६ रूप २० यह २१ देख २२ सि० यह कहकर श्रीभगवान् उसी समय श्यामसुन्दर स्वरूप हो गए, जो अर्जुन को प्रिय लगता था * ॥ ४६ ॥

सञ्जय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ५०॥

अन्वय—सञ्जय उवाच । वासुदेवः १ इति २ अर्जुनम् ३ उक्त्वा ४ भूयः ५ तथा ६ स्वकम् ७ रूपम् ८ दर्शयामास ६ पुनः १० च ११ महात्मा १२ सौम्यवपुः १३ भूत्वा १४ एनम् १५ भीतम् १६ आश्वासयामास १७ ।

अर्थ—संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि हे राजन् ! श्रीकृष्णचंद्र महाराज ने फिर अपना वही सुन्दर स्वरूप अर्जुन को दिखाया । वासुदेव ने १ इस प्रकार २ अर्जुन से ३ कहकर ४ सि० जैसे पहिले थे किरीट आदि से युक्त * फिर ५ वैसे ही ६ अपना ७ रूप ८ दिखाया ६ और फिर करुणाकर १० । ११ । १२

शान्त प्रसन्न रूप १३ होकर १४ इस डरे हुए को १५ अर्थात् अर्जुन को १६ आश्वासन किया १७ अर्थात् श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन ! अब डर मत कर, सावधान हो ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच । जनार्दन १ तव २ इदम् ३ सौम्यम् ४ मानुषम् ५ रूपम् ६ दृष्ट्वा ७ इदानीम् ८ सचेताः ९ संवृत्तः १० अस्मि ११ प्रकृतिम् १२ गतः १३ ।

अर्थ—अर्जुन श्रीमहाराज से कहता है कि, हे जनार्दन ! १ आपका २ यह ३ शान्त ४ मनुष्य-रूप ५ । ६ देखकर ७ अब ८ प्रसन्नचित्त ९ हुआ १० हूँ ११ सि० और अपने * स्वभाव को १२ प्राप्त हुआ हूँ १३ ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच । इदम् १ यत् २ मम ३ रूपम् ४ दृष्टवान् ५ असि ६ सुदुर्दर्शम् ७ अस्य ८ रूपस्य ९ देवाः १० अपि ११ नित्यम् १२ दर्शनकांक्षिणः १३ ।

अर्थ—श्रीभगवान् कहते हैं सि० कि हे अर्जुन ! * यह १ जो २ मेरा ३ रूप ४ देखा ५ है ६ सि० तुमने इसका * देखना बहुत कठिन है ७ इस ८ रूप के ९ देवता १० भी ११ सदा १२ दर्शन की इच्छावाले १३ सि० रहते हैं * अर्थात् देवता भी इस रूप के देखने की सदा इच्छा करते हैं सि० परन्तु यह विश्व-रूप उनको दीखता नहीं * ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्यएवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

अन्वय—यथा १ माम् २ दृष्टवान् ३ असि ४ एवंविधः ५

अहम् ६ न ७ वेदैः ८ न ९ तपसा १० न ११ दानेन १२ न १३ च १४ इज्यया १५ द्रष्टुम् १६ शक्यः १७।

अर्थ—यह दर्शन बहुत दुर्लभ था, जो तुमने देखा। सोई कहते हैं। तुमने, जैसा १ मुझको २ देखा ३ है ४ इस प्रकार ५ मुझको ६ न ७ वेदों करके ८ न ९ तप करके १० न ११ दान करके १२ और न यज्ञ करके १३। १४। १५ दृष्टिगोचर करने को १६ शक्य है १७ सि० कोई अर्थात् भगवत् के दर्शन में भक्ति मुख्य साधन है, तप दान आदि गौण साधन हैं॥ ५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो ह्यहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ ५४॥

अन्वय—अर्जुन १ परन्तप २ हि ३ एवंविधः ४ अहम् ५ अनन्यया ६ भक्त्या ७ तु ८ तत्त्वेन ९ ज्ञातुम् १० द्रष्टुम् ११ च १२ प्रवेष्टुम् १३ च १४ शक्यः १५।

अर्थ—अनन्य भक्ति करके भगवत् का स्वरूप देखा जाता है, जाना जाता है, प्राप्त होता है सोई श्रीभगवान कहते हैं। हे अर्जुन! १ हे परंतप! २ निश्चय करके ३ इस प्रकार अर्थात् जैसा विश्व-रूप पीछे दिखाया है ४ मुझको ५ अनन्य ६ भक्ति से ७। ८ परमार्थ से ९ जानने को १० और देखने को ११। १२ और सि० मुझमें * प्रवेश करने को १३। १४ शक्य १५ सि० है। औरों को अपने तप के सामने तपानेवाला, अर्थात् अर्जुन के तप को देखकर अन्य राजा मन में तपा करते थे कि हाय, ऐसा तप हमारा नहीं, जैसा अर्जुन का है। और उस तप के प्रताप से प्रभु अर्जुन को अपना परम प्यारा मित्र समझकर उसकी इच्छा के अनुसार वर्तते हैं। परमार्थ से भगवत् का जानना यह है कि परमेश्वर निराकार, नित्यमुक्त, निर्विकार, शुद्ध, सच्चिदानन्द-स्वरूप, पूर्ण ब्रह्म मुझसे अभिन्न है। और देखना यह है कि आत्मा को पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट साक्षात् अपरोक्ष देखना। अनुमान आदि प्रमाणों से देखना, और सावयव मूर्तिमान् को देखना, देखना नहीं कह-

लाता । और प्रवेश होना यह है कि अविद्या कार्य के सहित नाश हो जावे, पीछे शुद्ध परमानन्द-स्वरूप रह जावे, यही परमेश्वर में प्रवेश होना है । ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ज्योति में ज्योति जा मिलती है, जैसे थोड़ा जल समुद्र में जाकर प्रविष्ट होजाता है * ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

अन्वय—पाण्डव १ यः २ मद्भक्तः ३ मत्कर्मकृत् ४ मत्परमः ५ संगवर्जितः ६ सर्वभूतेषु ७ निर्वैरः ८ सः ९ माम् १० एति ११ ।

अर्थ—शास्त्रोक्त सब साधनों का सार मुक्ति का साधन है । हे अर्जुन ! १ जो २ मेरा भक्त है ३ मेरे अर्थ कर्म करता है ४ मैं ही हूं परम पुरुषार्थ जिसका ५ मित्र पुत्र आदि में * आसक्ति-रहित ६ सब भूतों में ७ निर्वैर ८ वह ९ मुझको १० प्राप्त होता है ११ अर्थात् जो कर्म करे सो भगवत् में प्रीति बढ़ने के लिये, और प्राणी-मात्र से वैर न करे ॥ ५५ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः १२.

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच । एवम् १ सततयुक्ताः २ ये ३ भक्ताः ४ त्वाम् ५ पर्युपासते ६ ये ७ च ८ अपि ९ अक्षरम् १० अव्यक्तम् ११ तेषाम् १२ के १३ योगवित्तमाः १४ ।

अर्थ—अर्जुन कहता है सि० कि हे नारायण ! * इस प्रकार १ सदा युक्त हो २ जो ३ भक्त ४ आपकी ५ उपासना करते हैं ६ और जो ७ । ८ निश्चय ९ अक्षर १० अव्यक्त की ११ सि० उपासना करते हैं * उनमें १२ कौन से १३ योगवित्तम हैं १४ ।

तात्पर्य—कोई तो आपको शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि मूर्तिमान् समझता है, और कोई विश्व-रूप, विराट्, हिरण्यगर्भ, और कोई कर्म ही को आपका रूप समझता है। कोई अंश-अंशी भाव से आपकी उपासना करता है, कोई पुरुष ईश्वर आदि जानकर, जिस प्रकार प्रथम अध्याय से लेकर ग्यारहवें तक आपने उपदेश किया है, इस प्रकार सदा आपके उपदेश का अनुष्ठान करता है, इसी को उपासना कहते हैं। आपके भक्त आपकी ऐसी उपासना करते हैं, अर्थात् किसी की सांख्य पातंजल-योग में निष्ठा है, किसी की शांडिल्य-विद्या में निष्ठा है, अनुक्त भी आपकी उपासना के बहुत मार्ग हैं, जो मैंने नहीं कहे। अब इस अध्याय में यह भी निश्चय से है कि बहुत महात्मा आपको निर्गुण, नित्यमुक्त, अद्वैत समझकर आपकी उपासना करते हैं। और चतुर्थ आदि अध्यायों में आपने श्रीमुख से निर्गुण उपासकों को आर्त आदि सब भक्तों से विशेष श्रेष्ठ कहा, और वैसे ही कर्मनिष्ठ योगियों सगुण-ब्रह्म के उपासकों की भी आपने बहुत स्तुति की। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि कर्म-योगी सगुण-ब्रह्म के उपासक भक्त, और निर्गुण के उपासक, कौन भले प्रकार योग को जानते हैं। योग का अक्षरार्थ एकता है, वित् का अर्थ जानना है, योग को जो जानता है, उसको योगवित् कहते हैं। तर, तम, ये दोनों शब्द विशेषार्थ में आते हैं, अर्थात् योग के जाननेवालों में विशेष श्रेष्ठ कौन है॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच। ये १ परया २ श्रद्धया ३ उपेताः ४ मनः ५ मयि ६ आवेश्य ७ नित्ययुक्ताः ८ माम् ९ उपासते १० ते ११ मे १२ युक्ततमाः १३ मताः १४।

अर्थ—अर्जुन का प्रश्न और उसका यह उत्तर, ऐसा समझो कि जैसी ये दो पुरानी कथाएँ हम लिखते हैं। राजा ने सूरदासजी से पूछा कि कविता आपकी अच्छी है, या तुलसीदासजी की। सूरदासजी ने उत्तर दिया कि मेरी। राजा ने फिर पूछा कि तुलसीदासजी की कविता कैसी है। सूरदासजी ने

उत्तर दिया कि तुलसीदासजी की कविता नहीं, मन्त्र है। आपका प्रश्न कविता के विषय में है। विचारो, ऐसा कहने से बड़ाई किसकी हुई। एक भक्त ने सरस्वती देवी से पूछा कि कवि कालिदासजी श्रेष्ठ हैं, या दंडी स्वामी। सरस्वतीजी ने उत्तर दिया कि दंडीस्वामी कवि-श्रेष्ठ हैं। और सरस्वतीजी ने इस वाक्य का तीन बार उच्चारण किया "कविर्दंडी कविर्दंडी कविर्दंडी न संशयः।" वहां कालिदास भी थे उनको यह आधा श्लोक सुनते ही क्रोध आया और क्रोधयुक्त होकर सरस्वती देवी से कालिदासजी ने पूछा कि क्या दंडीकवि है, मैं कवि नहीं। देवीजी ने कहा कि आप तो मेरा स्वरूप ही हो। इसी प्रकार अर्जुन ने उपासना, अनुष्ठान और क्रिया के विषय में प्रश्न किया है। ज्ञानी महात्मा, क्रियावान् उपासक नहीं होते, 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म का जाननेवाला ब्रह्म ही है। श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा कि जो १ परम श्रद्धा से २। ३ युक्त ४ मन को ५ मुझमें ६ प्रविष्ट करके ७ नित्य युक्त हो ८ मुझ सगुण-ब्रह्म की ९ उपासना करते हैं १० वे ११ मुझको १२ युक्ततम १३ संमत मि० हैं अर्थात् उनको युक्ततम मानता हूँ १४ युक्त योगी का नाम है, वे योगियों में श्रेष्ठ हैं। और, जो कोई यह प्रश्न करे कि निर्गुण-ब्रह्म के उपासक युक्तम हैं या नहीं, तो इसका उत्तर पहिले ही दो कथाओं के प्रसंग में हो चुका कि वे युक्त योगी नहीं हैं। श्रीभगवान् चौथे मन्त्र में कहेंगे कि वे तो मुझको प्राप्त ही हैं, उनका यहाँ क्या प्रसंग है। तीसरे चौथे मन्त्र में और तेरहवें मन्त्र से लेकर अध्याय की समाप्ति पर्यन्त निर्गुण उपासकों के लक्षण कहेंगे। सगुण उपासकों को जो कहना था सो कह चुके। यह उत्तर सूरदासजी के और देवीजी के उत्तर के सदृश समझना चाहिए। इस मन्त्र में यह अर्थ किसी प्रकार नहीं जाना जाता कि निर्गुण उपासकों से सगुण-ब्रह्म के उपासकों को श्रीभगवान् ने श्रेष्ठ कहा। श्रेष्ठ निःसंदेह हैं, परन्तु किनसे, योगियों से, कर्म-निष्ठों से, और विषयी पामरों से श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

अन्वय——सर्वत्र समबुद्धयः १ सर्वभूतहिते २ रताः ३ इन्द्रिय-ग्रामम् ४ संनियम्य ५ ये ६ अनिर्देश्यम् ७ अव्यक्तम् ८ अक्षरम् ९ सर्वत्रगम् १० अचिन्त्यम् ११ च १२ कूटस्थम् १३ अचलम् १४ ध्रुवम् १५ पर्युपासते १६ ते १७ तु १८ माम् १९ प्राप्नुवन्ति २० एव २१ ।

अर्थ—निर्गुण उपासकों का माहात्म्य सुनो । सब काल में समान ज्ञान रहता है जिनका १ सब भूतों के भले में २ प्रीति रखते हैं, अर्थात् सबका भला चाहते हैं ३ इंद्रियों के समूह का ४ निरोध करके ५ जो महात्मा निर्गुण उपासक ६ अनिर्देश्य ७ अव्यक्त ८ अक्षर ९ सर्वत्रग १० अचिन्त्य ११ और १२ कूटस्थ १३ अचल १४ ध्रुव की १५ उपासना करते हैं १६ अर्थात् आत्मा को ऐसा जानकर, जैसा सातवें अंक से पंद्रहवें अंक तक कहा, और संसार को इन्द्रजालवत् शुक्ति में रजतवत् समझकर उसी परमानन्द-स्वरूप आत्मा में मग्न रहते हैं । अपने स्वरूप को यथार्थ जान लेना, जैसा ऊपर कहा है, यही उनकी उपासना है । जो ऐसी उपासना करते हैं, वे १७ तो १८ मुझको १९ प्राप्त हैं २० हि अर्थात् निश्चय से २१ जब उनका स्वरूप अनिर्देश्य है, कहने में नहीं आता, तो उनको योगवित्तम, युक्ततम और श्रेष्ठ आदि शब्दों से निर्देश करना नहीं बनता । यही समझना चाहिए कि वे मेरा स्वरूप हैं । जैसे मैं मनवाणी का विषय नहीं हूँ, वैसे ही वे भी नहीं हैं । उनको उपासक कहना कथन-मात्र है ॥ ३-४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

१, सदा सुख दुःख इष्ट अनिष्ट आदि की प्राप्ति में आत्मा को एक-रस जानते हैं, ब्रह्मज्ञानी । २, कहने में नहीं आता कि वह ऐसा है । ३, रूप-रस आदिवत् वह प्रकट नहीं । ४ कभी कम नहीं होता । ५, सब जगह प्राप्त है । ६, उनका चिंतन नहीं हो सकता; क्योंकि वह चित्त से भी सूक्ष्म, परे है । ७, निर्विकार । ८, निश्चय । ९, नित्य ॥

अन्वय—अव्यक्तासक्तचेतसाम् १ तेषाम् २ अधिकतरः ३ क्लेशः ४ अव्यक्ता ५ हि ६ गतिः ७ देहवद्भिः ८ दुःखम् ९ अवाप्यते १० ।

अर्थ—जब निर्गुण-ब्रह्म के उपासक ब्रह्म-रूप होते हैं, तो सगुण-ब्रह्म की उपासना छोड़कर निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, यह शंका करके श्रीभगवान् कहते हैं । अव्यक्त में आसक्त है चित्त जिनका किन्तु उस उपासना के योग्य वे अभी हुए नहीं १ उनको २ अत्यंत ३ दुःख ४ सि० होता है, क्योंकि रूप-रस आदि विषयों से प्रीति दूर होना सहज नहीं * अव्यक्ता हि गतिः अर्थात् अव्यक्त की प्राप्ति ५ । ६ । ७ देहाभिमानियों को अर्थात् जो आत्मा को क्रियावान् समझते हैं, शुद्ध सच्चिदानंद पूर्णब्रह्म आत्मा को नहीं समझते उनको ८ दुःख से ९ प्राप्त होती है १० ।

तात्पर्य—उनको बहुत प्रयत्न करना पड़ता है । देहाभिमानियों के वास्ते अन्य उपाय श्रीभगवान अभी इस मंत्र के आगे सात श्लोकों में अर्थात् बारहवें श्लोक तक कहेंगे । उसका अनुष्ठान करने से निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति उनको सुलभ हो जायगी । निर्गुण-ब्रह्म के उपासकों ने भी पहिले वही अनुष्ठान किया है, तब उनको परमानन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति हुई है । आत्म-निष्ठा को क्रिया न समझना चाहिए । सगुण-ब्रह्म की उपासनावत् सगुण-ब्रह्म की उपासना का फल समझना चाहिए । जब तक सगुण-ब्रह्म के उपासक का देह में अध्यास बना रहे, देह और इंद्रिय आदि के साथ ममता, तादात्म्यता और एकता बनी रहे, विवेक वैराग्य आदि साधन न हों, तब तक वे निर्गुण-ब्रह्म की उपासना के योग्य नहीं हैं । जो निर्गुण-ब्रह्म की महिमा सुनकर उस उपासना में चित्त को आसक्त करेंगे, उनको पहिले बहुत दुःख होगा, क्योंकि निर्गुण-ब्रह्म आत्मा अति सूक्ष्म, देह इन्द्रिय आदि से विलक्षण है । देहाभिमानी को उसकी प्राप्ति होना बहुत कठिन है । वह ब्रह्म को आत्मा से जुदा समझता है । इस प्रकरण का अर्थ जो हमने लिखा है वह श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीशंकराचार्य महाराज के भाष्यानुसार, और श्रीस्वामी आनंदगिरिजी ने भाष्य पर जो टीका बनाई है उसके और श्रीशंकरानंदी और मधुसूदनी इत्यादि टीकाओं के अनुसार

यथामति लिखा है। कोई-कोई भेदवादी जानकर, या भूलकर, या अमर्ष ईर्षा आदि से, जो इस प्रकरण का अनर्थ करते हैं सो भी संक्षेप में लिखा जाता है। लीलाविग्रह मूर्तिमान राम कृष्ण आदि की उपासना पुराणोक्त है, मन्द मध्यम अधिकारियों के लिये अंतःकरण की शुद्धि का साधन है। इस हेतु से साधनों के प्रकरण में उस उपासना की जितनी स्तुति, महिमा, बड़ाई लिखी जावे, वह सब सत्य प्रमाण है। परंतु वे लोग निर्गुण उपासना की प्रत्यक्ष निंदा (असूया) करते हैं, और कोई-कोई तो अर्थ का अनर्थ करते हैं। अक्षरों का अर्थ फेर देते हैं। वे इस प्रकरण का क्या अनर्थ करते हैं, सो सुनो। वे कहते हैं कि—"अर्जुन ने श्रीकृष्णचंद्रजी से प्रश्न किया कि सगुण-ब्रह्म के उपासक श्रेष्ठ हैं, या निर्गुण-ब्रह्म के। श्रीभगवान् ने उत्तर दिया कि सगुण-ब्रह्म के उपासक श्रेष्ठ हैं। यद्यपि निर्गुण-ब्रह्म के उपासक भी मुझको ही प्राप्त होंगे, परंतु उनको उस उपासना में बहुत दुःख होता है, क्योंकि देहधारी से निर्गुण की उपासना होना बहुत कठिन है, और जो सगुण-ब्रह्म के उपासक हैं, उनका जल्दी बिना श्रम संसार से मैं उद्धार करूँगा।" वे लोग यह अर्थ करते हैं, किंतु इस प्रकरण का यह अर्थ नहीं है। क्यों नहीं है, सो सिद्धांत कहते हैं। विचारो कि अर्जुन का प्रश्न यह है कि उनमें योगवित्तम कौन हैं। योगवित्तम का अर्थ जो हमने किया, उसको विचारो और जो वे कहते हैं, उसको विचारो। श्रीभगवान ने उत्तर दिया कि सगुण-ब्रह्म के उपासक मेरे मत से युक्ततम हैं, और निर्गुण-ब्रह्म के उपासक तो मुझको निश्चय से प्राप्त हैं। इससे यह अर्थ कैसे निकलता है कि सगुण-ब्रह्म के उपासक निर्गुण-ब्रह्म के उपासकों से श्रेष्ठ हैं। 'प्राप्नुवन्ति' इस वर्तमान क्रिया का अर्थ सगुणोपासक भविष्यत् अर्थ कर देते हैं और 'तु' इस शब्द का 'भी' यह अर्थ करते हैं अर्थात् 'वे भी मुझको प्राप्त होंगे।' अब एक तो इस अर्थ को विचारो कि 'वे तो मुझको प्राप्त हैं निश्चय से' और एक इस अर्थ को विचारो कि 'वे भी मुझको प्राप्त होंगे।' कितना अन्तर पड़ गया, और अर्थ का अनर्थ हुआ, या नहीं। मुक्त पुरुषों को साधक कह दिया, और 'तु' इस शब्द का 'तो' अर्थ छोड़ कर 'भी' यह अर्थ कर दिया। कि परमेश्वर की प्राप्ति में भी, यह यह शब्द सन्देह उत्पन्न करता है, और उसी जगह 'एव' शब्द है, उसका अर्थ निश्चय से और 'ही' होता है, उसको छोड़ देते हैं, उसका कुछ अर्थ करते ही नहीं। प्रकरण का अर्थ स्पष्ट है; निर्गुण-ब्रह्म के उपासक भगवत्

को जीते-जी प्राप्त हैं, किसी साधन की उनको अपेक्षा नहीं, और सगुण-ब्रह्म के उपासक युक्ततम हैं। उत्तम योगी साधक का नाम युक्ततम है। साधक योगियों में श्रेष्ठ हैं, यह युक्ततम का अर्थ है। निर्गुण उपासकों से कभी श्रेष्ठ नहीं हो सकते, क्योंकि ज्ञानी लोग भगवत्-रूप हैं। चौथे अध्याय में श्रीभगवान् ने स्पष्ट कहा है कि ज्ञानी मेरा आत्मा है। तीसरे अध्याय में यह कहा है कि मैंने दोनों निष्ठाएँ कही हैं, विरक्तों के वास्ते ज्ञान-निष्ठा और अज्ञानियों के लिये कर्म-निष्ठा। तू जो यह पूछता है कि दोनों में श्रेष्ठ कौन है, यह प्रश्न ही अयोग्य है, क्योंकि अधिकारी के प्रति दोनों श्रेष्ठ हैं, अर्थात् ज्ञान-निष्ठा के श्रेष्ठ होने में तो कुछ सन्देह है नहीं, क्योंकि वह कर्म-निष्ठा का फल है, मोक्षदाता है। विषयी बहिर्मुखों की निष्ठा से कर्म-निष्ठा श्रेष्ठ है। कर्म-निष्ठा में ही उपासना का अन्तर्भाव है। जैसा प्रश्न अर्जुन ने तीसरे अध्याय में किया कि ज्ञान-निष्ठा, और कर्म-निष्ठा, इन दोनों में कौन-सी निष्ठा श्रेष्ठ है, ऐसा ही यह प्रश्न किया कि उपासकों में कौन श्रेष्ठ है। प्रश्न अनजान में होता है। अर्जुन ने ज्ञान-निष्ठा को भी साधन समझा। श्रीभगवान् ने यह तो कहा नहीं कि यह प्रश्न अयोग्य है, परन्तु उसी प्रश्न के अनुसार प्रकरण को पृथक् करके ऐसा उत्तर दे दिया कि किसी ने अपने को निकृष्ट न समझा! पाँचवें मंत्र का वे यह अर्थ करते हैं कि 'निर्गुण-ब्रह्म के उपासकों को बहुत दुःख होता है।' यह भी असत्य है, क्योंकि दुःख साधकों को होता है। निर्गुण-ब्रह्म के उपासक साक्षात् परमानन्द को प्राप्त हैं। श्रीभगवान ने उसी मंत्र में विशेषण दिया है कि जिनको देह का अभिमान है, उनको दुःख होता है। विचारो कि देहाभिमानी ज्ञानी होते हैं, या उपासक। विना देहाभिमान उपासना नहीं होसकती, और विना देहाभिमान गये साक्षात् निर्गुण-ब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती, यह नियम है। और जिसको देहाभिमान है, उसको हम ज्ञानी निर्गुण-ब्रह्म का उपासक नहीं कहते। यहाँ प्रसंग सच्चे उपासकों का है। जो कोई वेषधारी में देहाभिमान की शंका करे, तो हम तिलक-मालाधारी में हज़ार शंका अभक्ति पाखंड की कर सकते हैं। विचारो, एक तो साक्षात् परमानन्द को प्राप्त हैं, परमानन्द-रूप आत्मा को अपरोक्ष समझकर उपासना करते हैं, और दूसरे आनन्द की इच्छा करते हुए आनन्दजनक राम, कृष्ण आदि की उपासना करते हैं। दृष्टान्त में समझो कि एक तो भोजन कर रहा है, और

दूसरा भोजन बना रहा है, दोनों में दुःख किसको है। और जो सगुण-ब्रह्म के उपासक यह कहें कि हमारे इष्टदेव राम, कृष्ण आदि भी आनन्द-रूप मूर्तिमान् हैं, सो नहीं हो सकता। आनन्द पदार्थ अमूर्तिमान् सदा निरवयव रहता है। लक्ष्य-रूप राम, कृष्ण आदि का आनन्द-रूप है, सो उनको परोक्ष है, और वह ज्ञानियों को अपरोक्ष है, और सगुण-ब्रह्म की उपासना और निर्गुण-ब्रह्म की उपासना में यही भेद भी है। जो वे यह कहें कि हमको भी आनन्द-रूप अपरोक्ष है, तो हम उनको ज्ञानी निर्गुण-ब्रह्म के उपासक कहेंगे। यही सिद्धान्त है कि जिनको परमानन्द नहीं, उनको दुःख है, और परमानन्द के अपरोक्ष होने में यही परीक्षा है कि जिनको देहाभिमान, वर्णाश्रम, जाति, अपरोक्ष दास-स्वामी इत्यादि भाव का अभिमान है, और उनमें भेद-भाव प्रतीत होता है, ऐसे देहाभिमानियों को परमानन्द अपरोक्ष नहीं है। सगुणोपासक निर्गुणोपासना का समूल खंडन करते हैं, क्योंकि परमानन्द की प्राप्ति उन्होंने केवल सगुणोपासना से मानी है, जिसको परमपद मुक्ति कहते हैं; और निर्गुण उपासना का फल दुःख बताया, तो निर्गुणोपासना आप ही खंडित हो गई। और, निर्गुणोपासक सगुणोपासना का खंडन नहीं करते, न उसको बुरा कहते हैं। जब सगुणोपासक वृथा निर्गुणोपासकों से तकरार वाद करने लगते हैं, तब निर्गुणोपासक यथार्थ व्यवस्था कह देते हैं। इसी हेतु यह प्रसंग हमने भी लिखा है। समझो और विचारो कि जो निर्गुण-ब्रह्म की उपासना में दुःख होता, तो वे सगुणोपासना को छोड़कर निर्गुणोपासना क्यों अंगीकार करते। दूसरे यह कि निर्गुणोपासक तो दोनों उपासनाओं का आनन्द जानते हैं, और सगुणोपासक एक का ही जानते हैं। जो अनुभव की हुई, और बरती हुई बात कहे, उसके वाक्य में श्रद्धा होती है। तीसरे यह कि जो ज्ञानी होगा, वह निःसन्देह विद्यावान् होगा। बिना ब्रह्म-विद्या भगवत् की पहिचान नहीं हो सकती। चौथे, निर्गुण उपासना में प्रवृत्ति नहीं, सगुण उपासना में अत्यन्त प्रवृत्ति है। जहाँ प्रवृत्ति होगी, और जहाँ द्रव्य, गहने और वस्त्र आदि का सम्बन्ध होगा, वहाँ सब अनर्थ होंगे। पाँचवें, बहुत सगुणोपासक सगुणोपासना को छोड़ निर्गुणोपासना करने लगते हैं। यह कभी न सुना होगा कि किसी निर्गुणोपासक ने अपनी उपासना छोड़कर सगुणोपासना की हो। मूर्खों का यहाँ प्रसंग नहीं है। आनन्द को छोड़ दुःख में कोई नहीं प्रवृत्त

होता । दुःख को छोड़ आनन्द में सब प्रवृत्त होते हैं । इसहेतु विचार करो कि दुःख किस उपासना में है, और आनन्द किस उपासना में है । छठे, भगवद्गीता अद्वैतामृतवर्षिणी है, इसमें जो द्वैतसिद्धांत समझते हैं, वे अद्वैतामृतवर्षिणी का अर्थ करें । तात्पर्य, सगुणोपासना साधन है; निर्गुणोपासना फल है ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

अन्वय—सर्वाणि १ कर्माणि २ तु ३ मयि ४ संन्यस्य ५ ये ६ मत्पराः ७ अनन्येन ८ योगेन ९ एव १० माम् ११ ध्यायन्तः १२ उपासते १३ ।

अर्थ—छः श्लोकों में सगुण-ब्रह्मउपासकों के वास्ते निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय अधिकार-भेद से कई प्रकार के कहते हैं। भगवद्भक्त जैसा अपना सामर्थ्य जानें सोई उपाय करें। सब कर्मों का १ । २ तो ३ मुझमें ४ संन्यास करके ५ जो ६ मुझ परायण ७ अनन्य योग से ८ । ९ निश्चय १० मेरा ध्यान करते हुए ११ । १२ उपासना करते हैं १३ सि० मेरी, उनका मैं उद्धार करूँगा । इस श्लोक का अगले श्लोक के साथ संबंध है * ।

तात्पर्य—इस श्लोक में उन भक्तों का प्रसंग है, जिन्होंने इस जन्म में, या पिछले जन्मों में अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करके अंतःकरण शुद्ध कर लिया है । उन कर्मों का संन्यास करके दिन-रात्रि गंगाप्रवाहवत् सगुण-ब्रह्म का ध्यान करते हैं, परमेश्वर के सिवाय और कुछ अपना आश्रय नहीं जानते, भगवद्भक्ति को ही सार सिद्धान्त समझते हैं, दूसरे मत को न बुरा कहना न भला कहना, यह लक्षण उत्तम सगुण-ब्रह्म के उपासकों का है । परमेश्वर ऐसे भक्तों का ब्रह्म-विद्या-द्वारा अनायास शीघ्र उद्धार करते हैं ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

अन्वय—पार्थ १ मयि २ आवेशितचेतसाम् ३ तेषाम् ४

मृत्युसंसारसागरात् ५ न ६ चिरात् ७ समुद्धर्ता ८ अहम् ९ भवामि १० ।

अर्थ—भक्तों को धीरज बँधाने के लिये अपनी छाती पर हस्तकमल रखकर प्रतिज्ञा करते हैं कि हे अर्जुन ! १ मुझमें २ लग रहा है चित्त जिनका ३ उनका ४ मृत्युसंसार-समुद्र से ५ जल्दी ६ । ७ उद्धार करनेवाला ८ मैं ९ हूँ १० ।

तात्पर्य—जो श्रीकृष्णचन्द्र, रामचंद्र, सदाशिव आदि के भक्त हैं, वे जल्दी संसार-समुद्र से पार होंगे। जैसे कोई मणि की प्रभा को मणि समझकर लेने के लिये दौड़ता है, प्रभा मणि नहीं है, परंतु उस जगह सच्चा मणि दीख पड़ता है, और उस मणि का मिलना सहज हो जाता है । इसी प्रकार सगुण-ब्रह्म की उपासना करते-करते शुद्ध सच्चिदानन्द का ज्ञान हो जाता है । भगवान् का जानना, यही संसार से उद्धार होना है । फिर उनको जन्म-मरण नहीं होता । श्रीभगवान् यह प्रतिज्ञा पूर्ण होने के लिये अपना यथार्थ स्वरूप तेरहवें अध्याय में निरूपण करेंगे, जिसके जानने से शीघ्र उद्धार हो जावे ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अन्वय—मयि १ एव २ मनः ३ आधत्स्व ४ मयि ५ बुद्धिम् ६ निवेशय ७ अतः ८ ऊर्ध्वम् ९ मयि १० एव ११ निवसिष्यसि १२ न १३ संशयः १४ ।

अर्थ—जिनका मन मुझमें आसक्त है, उनका मैं उद्धार करूँगा । यह मैंने प्रतिज्ञा की है, इस वास्ते हे अर्जुन! तू भी, मुझमें १ ही २ मन को ३ स्थिर कर ४ मुझमें ५ बुद्धि को ६ प्रवेश कर ७ इससे ८ पीछे ९ मुझमें १० ही ११ तू वास करेगा १२ नहीं १३ संशय १४ सि० है इस वाक्य में * ।

तात्पर्य—वेद की यह श्रुति है,—"देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे इति ।" अर्थात् देह के अन्त समय पर-ब्रह्म अपने इष्टदेव तारक मंत्र का (ॐकार का) उपदेश करते हैं, उसी समय ब्रह्म-ज्ञान होकर परमानन्द को प्राप्त हो जाता है । यही परमेश्वर में वास करना है ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

अन्वय—धनञ्जय १ अथ २ मयि ३ चित्तम् ४ समाधातुम् ५ न ६ शक्नोषि ७ स्थिरम् ८ ततः ९ अभ्यासयोगेन १० माम् ११ आप्तुम् १२ इच्छ १३ ।

अर्थ—पूर्वोक्त उपाय से भी सुगम उपाय कहते हैं । हे अर्जुन ! १ और जो २ मुझमें ३ चित्त ४ समाधान करने को ५ नहीं ६ तू समर्थ है ७ स्थिर ८ सि० नहीं कर सकता है मन को * तो ९ अभ्यासयोग से १० मेरी ११ प्राप्ति की १२ इच्छा कर १३ सि० मूर्तिमान् परमेश्वर में या विश्व-रूप में, जो दिन-रात चित्त स्थिर रहे, तो बार-बार यह अभ्यास करना चाहिए कि जब मन दूसरे पदार्थ में जावे, उसी समय वहाँ से हटाकर उसी स्वरूप में समाधान करे, इसी को अभ्यासयोग कहते हैं * ।

तात्पर्य—अभ्यास करते-करते मन एक जगह अवश्य निश्चल हो जाता है । अभ्यास में जल्दी न करे । असंख्यात वर्षों से मन भगवत् से विमुख हो रहा है, अब भी जो दो-चार वर्ष में अभ्यास के बल से भगवत् के सम्मुख हो जावे, तो बड़ी बात है । अभ्यास में प्रथम दुःख प्रतीत होता है, दुःख समझकर अभ्यास नहीं छोड़ देना चाहिए ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अन्वय—अभ्यासे १ अपि २ असमर्थः ३ असि ४ मत्कर्म-परमः ५ भव ६ मदर्थम् ७ अपि ८ कर्माणि ९ कुर्वन् १० सिद्धिम् ११ अवाप्स्यसि १२ ।

अर्थ—उससे भी सुगम उपाय कहते हैं । अभ्यास में १ भी २ असमर्थ ३ तू है ४ सि० तो * मत्कर्मपरायण ५ हो अर्थात् साधुओं की शिर आँखों से टहल करना, दिन-रात उनकी सेवा में लगे रहना, शिवालय, केशवालय बनाना, मंदिरों में बुहारी देना, लीपना, ठाकुर-सेवा के बर्तन माँजना, शुद्ध जल अपने हाथ से लाना, बहुत क्रिया के साथ रसोई

बनाना, प्रथम परमेश्वर को भोग लगाना, और ढूँढ़कर साधु को जिमाना, ऐसे-ऐसे बहुत कर्म साधु महात्मा बता सकते हैं, ऐसे कर्मों में तत्पर होना चाहिए ६ सि० श्रीभगवान् कहते हैं कि * मेरे अर्थ ७ भी ८ कर्मों को ६ करता हुआ १० सि० अंतःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान को प्राप्त होकर * मोक्ष को ११ तू प्राप्त होगा १२ ।

तात्पर्य—भगवद्भजन-संबंधी और भगवत्सेवा-संबंधी जो कर्म हैं, वे सब अंतःकरण को शुद्ध कर सकते हैं ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अन्वय—अथ १ एतत् २ अपि ३ कर्तुम् ४ अशक्तः ५ असि ६ ततः ७ मद्योगम् ८ आश्रितः ६ सर्वकर्मफलत्यागम् १० कुरु ११ यतात्मवान् १२ ।

अर्थ—उससे भी सुगम उपाय कहते हैं। जो १ यह २ भी ३ करने को ४ तू असमर्थ है ५ । ६ तो ७ भक्तियोग का ८ आश्रय करके ६ सब कर्मों के फल का त्याग १० कर ११ मन को जीत कर अर्थात् अब तू संकल्प विकल्प मत कर, जो कुछ नित्य नैमित्तिक और प्रायश्चित्त आदि कर्मों का अनुष्ठान हो सके वही कर। उसके फल में आसक्ति मत कर। यह समझ कि मैं तन, मन, धन से भगवत् की शरण हूँ, मैं उनका दास हूँ, वे महाराज अंतर्यामी हैं, जैसा चाहें मुझसे शुभाशुभ कर्म करावें, और जैसा चाहें उन कर्मों का फल दें। मुझको परमेश्वर के सिवाय और कुछ किसी तरह का आश्रय नहीं। परंतु यह प्रकट रहे कि धन आदि की प्राप्ति के लिये जहाँ तक हो सके जान-बूझकर राजा आदि मनुष्यों का दास न बने। व्यवहार का भार तो परमेश्वर को सौंप देना चाहिए और परमार्थ में मोक्ष के लिये जहाँ तक बन सके प्रयत्न करना चाहिए। मोक्ष-मार्ग में यह न समझना चाहिए कि परमेश्वर जो चाहे सो करे, मेरे करने से क्या होता है। व्यवहार में यह समझे कि

मेरे करने से कुछ नहीं होता, प्रारब्ध में जो लिखा है वही होगा । मोक्ष-मार्ग में पुरुषार्थ, और व्यवहार में प्रारब्ध मुख्य है १२ ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अन्वय—अभ्यासात् १ ज्ञानम् २ श्रेयः ३ हि ४ ज्ञानात् ५ ध्यानम् ६ विशिष्यते ७ ध्यानात् ८ कर्मफलत्यागः ९ त्यागात् १० अनन्तरम् ११ शान्तिः १२ ।

अर्थ—सब कर्मों के फल का त्याग इसहेतु श्रेष्ठ है। अभ्यास से १ ज्ञान २ श्रेष्ठ है ३ निश्चय से ४ शास्त्रीय ज्ञान से ५ ध्यान ६ विशेष है ७ ध्यान से ८ कर्मों के फल का त्याग ९ सि० श्रेष्ठ है * त्याग से १० पीछे ११ शान्ति १२ सि० होती है * ।

तात्पर्य—किसी कर्म के अनुष्ठान का अभ्यास करने से प्रथम वेदों का तात्पर्य समझना श्रेष्ठ है, क्योंकि जिसको यथार्थ परोक्षज्ञान हो गया वह अवश्य ही कभी-न-कभी उसका अनुष्ठान भी करेगा । अविद्यावान् के अनुष्ठान करने से विद्यावान बिना अनुष्ठान किए भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह एक मार्ग पर है । अविद्यावान् मूर्ख को कहाँ विचार है कि मुझको किस कर्म का अधिकार है । जो उसको प्रिय लगता है, वही करने लगता है, इसी हेतु कर्मों का फल उसको प्रत्यक्ष नहीं होता । और पंडित ज्ञानियों से, अर्थात् परोक्ष ज्ञानियों से विद्यावान राम, कृष्ण आदि का ध्यान करनेवाले श्रेष्ठ हैं । मूर्तिमान परमेश्वर के ध्यान करनेवालों से भी, जो विद्यावान् कर्मों का निष्काम अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् श्रौत-स्मार्त कर्म, भगवत् आराधन, हिरण्यगर्भ सूर्य आदि की उपासना, और भी भगवत्संबंधी कर्मों के फल का त्याग करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं । क्योंकि शान्ति कर्मों का फल त्यागने से होती है, बिना त्याग संसार से चित्त उपराम नहीं होता । लौकिक और वैदिक दोनों कर्मों के फल से जब चित्त उपराम होता है, दोनों कर्मों के फल से जब वैराग्य होता है, तब शान्ति और उपरति होती है । वैराग्य और उपरति, ये दोनों ज्ञान-निष्ठा के अंतरंग मुख्य साधन हैं, और फिर ज्ञान-निष्ठ होकर कृतार्थ होता है, अर्थात् परमानन्द को प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

अन्वय—सर्वभूतानाम् १ अद्वेष्टा २ मैत्रः ३ करुणः ४ एव ५ च ६ निर्ममः ७ निरहङ्कारः ८ समदुःखसुखः ९ क्षमी १० ।

अर्थ— शान्तपुरुषों और ज्ञान-निष्ठ महापुरुषों के लक्षण श्री-भगवान् सात श्लोकों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहेंगे। सि० ज्ञानी जन * सब भूतों के १ सि० साथ * द्वेष नहीं करते २ सि० बहुवचन आदर के लिये लिखते हैं। बराबरवालों के साथ * मित्रता ३ सि० रखते हैं छोटे पर * दया ही ४। ५। ६ सि० करते हैं। यह चाहते हैं कि जैसे हम विद्यावान् और धनवान् हैं, परमेश्वर करे यह भी ऐसे ही हो जावें। और जहाँ तक हो सकता है यथाशक्ति उनके साथ उपकार करते हैं। दुष्ट, चोर, जार और पापी जनों की उपेक्षा करते हैं, अर्थात् उनको न बुरा कहना, न भला कहना, न उन पर उपकार करना, न अपकार करना। "खल परिहरिय श्वान की नाईं।" दुष्टों को कुत्ते के सदृश समझते हैं, कुत्ते को टूक डालने में क्षति नहीं। पुत्र, स्त्री, मित्र, धन और मन्दिर इत्यादि में * ममता-रहित ७ सि० यह समझते हैं कि शरीर और मन यह भी तो हमारे हैं, नहीं तो फिर पुत्र आदि हमारे क्या होंगे। ऐसा होकर फिर * अहंकार-रहित ८ सि० कभी वाणी से तो क्या कहना कि हम ऐसे हैं, चित्त में भी न रखना और * सम है दुःख-सुख जिसको ९ सि० यही समझते हैं कि सुख और दुःख दोनों अनित्य हैं, जैसे दुःख बिना संकल्प और बिना यत्न आता है, ऐसे ही सुख आता है, और जैसे सुख चला जाता है वैसे ही दुःख भी चला जाता है। दुःख की निवृत्ति के लिये और सुख की प्राप्ति के लिये कुछ यत्न नहीं करते, और जो कोई निष्प्रयोजन भी अपने स्वभाव के अनुसार उसको वाणी और शरीर आदि से दुःख देता है उसको * क्षमा करते हैं १० ।

तात्पर्य—यह समझते हैं कि यह प्रारब्ध का भोग है। आध्यात्मिक और

आधिदैविक ताप भी तो सहने पड़ते हैं, जैसे उनको सहते हैं, वैसे ही इसको सहना चाहिए। उन्हीं तीनों तापों में यह आधिभौतिक भी एक ताप है। हमारे ही कर्मों का फल है। कोई दुःख देनेवाला नहीं, हमारा मन ही कारण है। दुःख-सुख में ऐसे क्षमावान रहते हैं ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

अन्वय—सततम् १ सन्तुष्टः २ योगी ३ यतात्मा ४ दृढनिश्चयः ५ मयि ६ अर्पितमनोबुद्धिः ७ यः ८ मद्भक्तः ९ सः १० मे ११ प्रियः १२ ।

अर्थ—सदा १ सन्तुष्ट अर्थात् कभी किसी काल में किसी पदार्थ की चाह न होना, सदा छके रहना २ अष्टांगयोगवान् अर्थात् यम, नियम आदि में परायण ३ जीता है स्वभाव जिसने ४ अर्थात् पूर्वावस्था में जो प्राकृतवत् स्वभाव था, उसको जीतकर सौम्य शान्त स्वभाव कर लिया है जिसने, उसको यतात्मा कहते हैं। दृढ़ निश्चय है जिसका ५ सि० आत्मा में, वेद-शास्त्रों में जिनको कभी संशय वा विपर्यय का उदय होता ही नहीं। वेदोक्त आत्मा को शुद्ध सच्चिदानन्द निःसन्देह जानता है * मुझ आत्मा में ६ अर्पित किया है मन और बुद्धि जिसने अर्थात् अंतःकरण की वृत्तियों को आत्माकार कर दिया है जिसने ७ सि० ऐसा * जो ८ मेरा भक्त ९ वह १० मुझको ११ प्यारा १२ सि० है। चौथे अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा था कि ज्ञानी मुझको बहुत प्यारा है, उसी का इन सात श्लोकों में उपसंहार करते हैं। जिस श्लोक में 'प्रिय' पद नहीं है, वहाँ भी समझ लेना चाहिए। तेरहवें और अठारहवें मन्त्र में यह पद नहीं है, और पाँचों मन्त्रों में है * ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अन्वय—यस्मात् १ लोकः २ न ३ उद्विजते ४ यः ५ च ६

लोकात् ७ न ८ उद्विजते ६ हर्षामर्षभयोद्वेगैः १० च ११ यः १२ मुक्तः १३ स १४ मे १५ प्रियः १६ ।

अर्थ—जिससे १ जीव २ सि० मात्र ※ न ३ उद्वेग करे अर्थात् जिससे किसी प्रकार की अपनी हानि समझकर कोई प्राणी चित्त में क्षोभ न करे ४ और जो ५ । ६ किसी जीव से ७ न ८ उद्वेग करे ६ हर्ष, आमर्ष, भय और उद्वेग, इन चारों से १०।११ जो १२ छूटा हुआ है १३ वह १४ मुझको १५ प्रिय १६ सि० है ※ ।

तात्पर्य—इष्ट वस्तु के देखने-सुनने से रोमांच का खड़ा हो जाना, मन में रंजन होने लगना, इसको हर्ष कहते हैं । दूसरे को विद्यावान, वा रुपये-वाला देखकर और सुनकर मन मैला, या उदास हो जाना, इसको आमर्ष कहते हैं । किसी प्रकार की मन में शंका होना, इसको भय कहते हैं । चित्त का एक जगह स्थिर न होना, इसको उद्वेग कहते हैं । इनसे रहित जिन महापुरुषों का व्यवहार (चाल-चलन) है, जिनसे कोई किसी प्रकार बुरा न माने, वे ही भगवत् को प्यारे हैं ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अन्वय—अनपेक्षः १ शुचिः २ दक्षः ३ उदासीनः ४ गतव्यथः ५ सर्वारम्भपरित्यागी ६ यः ७ मद्भक्तः ८ सः ६ मे १० प्रियः ११ ।

अर्थ—जो पदार्थ अपने आप प्राप्त हों उनकी भी इच्छा नहीं करता, उपेक्षा करता है १ पवित्र २ सि० रहता है, बाहर भीतर से । बाहर जल-मृत्तिका आदि से शुद्ध रहता है, वस्त्र आदि निर्मल रखता है, भीतर राग-द्वेष आदि नहीं रखता ※ चतुर ३ सि० व्यवहार और परमार्थ की बातों में, व्यवहार के समय व्यवहार की बातें करना और परमार्थ के समय परमार्थ की । प्रथम व्यवहार शुद्ध करना चाहिए, तब परमार्थ सिद्ध होता है । जिनको व्यवहार की समझ नहीं, उनका परमार्थ कभी नहीं सुधरेगा । परमार्थ में जीव का कुछ नहीं बिगड़ा, व्यवहार बिगड़ गया है, उसी को सुधारना चाहिए । चतुर महात्मा व्यवहार में परमार्थ, और परमार्थ में व्यवहार नहीं मिलाते हैं ※

उदासीन अर्थात् किसी मत वा अन्य पक्ष का खंडन वा प्रतिपादन नहीं करना, आनंद मत रखना जिसमें सबका सम्मत है ४ मन में किसी प्रकार का खेद नहीं रखने ५ इस लोक वा परलोक के निमित्त जितने आरंभ हैं, उन सबका त्याग करनेवाला ६ सि० ऐसा * जो ७ मेरा भक्त ८ वह ६ मुझको १० प्यारा ११ सि० है * ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

अन्वय--यः १ न २ हृष्यति ३ न ४ द्वेष्टि ५ न ६ शोचति ७ न ८ कांक्षति ६ शुभाशुभपरित्यागी १० यः ११ भक्तिमान् १२ सः १३ मे १४ प्रियः १५ ।

अर्थ--जो १ न २ हर्ष करता है ३ न ४ द्वेष करता है ५ न ६ शोच करता है ७ न ८ इच्छा करता है ६ शुभ और अशुभ, इन दोनों के त्यागने का स्वभाव है जिसका १० सि० ऐसा * जो ११ भक्तिमान् १२ वह १३ मुझको १४ प्यारा है १५ ।

तात्पर्य--इष्ट पदार्थ के मिलने से आनन्द नहीं होता, अनिष्ट पदार्थों से द्वेष नहीं करता, पिछली बातों का शोच नहीं करता, आगे को कुछ नहीं चाहता, शुभ और अशुभ, ये दोनों पदार्थ अज्ञान के कार्य हैं, दोनों को अनित्य समझकर, दोनों को त्यागकर, शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा में भक्ति (प्रीति) जो रखता है, श्रीभगवान् कहते हैं कि ऐसा महापुरुष मुझको प्रिय है । शुभ वैदिक-मार्ग का त्याग उनके वास्ते अच्छा है, जो आत्म-निष्ठ हैं । ज्ञान के विना शुभ मार्ग को त्याग देना मूर्खों का काम है । विना ज्ञान हुए शुभ मार्ग को नहीं त्यागना, और ज्ञान होने के पीछे आत्मा के सिवाय किसी को उत्तम, शुभ वा श्रेष्ठ नहीं समझना, सबको त्याग देना चाहिए, और उपर्युक्त लक्षणभी होना चाहिए ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

अन्वय--शत्रौ १ च २ मित्रे ३ च ४ समः ५ तथा ६ मानापमानयोः ७ शीतोष्णसुखदुःखेषु ८ समः ९ सङ्गविवर्जितः १० ।

अर्थ--शत्रु में और मित्र में १ । २ । ३ । ४ बराबर ५ वैसे ही ६ मान में और अपमान में ७ सि० समान * शीत-गरमी में और दुःख-सुख में ८ समान ९ सि० शरीर, इंद्रिय, प्राण और अंतःकरण का जो * संग उससे वर्जित १० ।

तात्पर्य—शरीर, इंद्रिय, प्राण और अंतःकरण के साथ जब आत्मा का संग होता है, तब शरीर आदि में आत्मा की आसक्ति होती है, फिर शीत आदि में इष्ट अनिष्ट की भ्रान्ति होती है । शत्रु मित्र की समता में संगवर्जित यही हेतु है । आत्म-निष्ठ जो महापुरुष हैं, वे शरीर आदि में अध्यास नहीं रखते, इसी हेतु शत्रु मित्र आदि में उनकी विषमता दूर हो जाती है । जैसे उनको मान वैसे ही अपमान । मान, अपमान आदि सब अंतःकरण का धर्म है । आत्म-निष्ठ अपने को सबसे पृथक् जानते हैं । आत्म-निष्ठा के बिना देहाभिमानियों से पूर्वोक्त लक्षणों का अनुष्ठान नहीं हो सकता । यह सब लक्षण ज्ञान-निष्ठों में ही हो सकते हैं ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

अन्वय--तुल्यनिन्दास्तुतिः १ मौनी २ येन केनचित् ३ सन्तुष्टः ४ अनिकेतः ५ स्थिरमतिः ६ भक्तिमान् ७ नरः ८ मे ९ प्रियः १० ।

अर्थ--समान है निंदा और स्तुति जिसको १ चुप रहे या वेदांत-शास्त्र का मनन करे, उसको मौनी कहते हैं २ जो पदार्थ प्रारब्धवशात् बिना यत्न थोड़ा बहुत जो कुछ प्राप्त हो उसी में ३ संतोष मानना, ऐसे पुरुष को संतुष्ट कहते हैं ४ एक जगह रहने का नियम नहीं करना; उसको अनिकेत ५ सि० कहते हैं । अपने स्वरूप में * निश्चल है बुद्धि जिसकी ६ सि० ऐसा * भक्तिमान् ७ पुरुष ८ मुझको ९ प्यारा है १० "येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाश्रितः । यत्र कुत्र च शायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥" यह श्लोक महाभारत का है ।

तात्पर्य—पूर्वोक्त लक्षण ब्रह्म-निष्ठ ज्ञानी भक्तों के हैं, अर्जुन ने पूछा था कि अक्षर-ब्रह्म के उपासक कैसे हैं, श्रीमहाराज ने उत्तर दिया कि ऐसे होते हैं। ऐसे नहीं होते कि रासलीला में तमाशा तो आप देखें, और बेसमझ लोग (अन्यमतवाले) राधाकृष्ण को बुरा कहें, और अच्छे पदार्थों का मोहन-भोग नाम रखकर आप ही चट कर जायँ, साधु अभ्यागत को न दें। इस अध्याय में भक्तों के जो लक्षण श्रीमहाराज ने कहे हैं, वे जिनमें होंगे वही भक्त भगवत् को प्राप्त होंगे, अन्य नहीं॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

अन्वय—मत्परमाः १ ये २ श्रद्दधानाः ३ भक्ताः ४ इदम् ५ धर्म्यामृतम् ६ यथा ७ उक्तम् ८ पर्युपासते ९ ते १० तु ११ अति १२ इव १३ मे १४ प्रियाः १५।

अर्थ—मैं हूँ परे-से-परे जिन को, ऐसे १ जो २ श्रद्धावान् ३ भक्त ४ इस धर्म से युक्त, ऐसे इस अमृत को ५। ६ जैसा ७ कहा है ८ सि० पीछे मैंने, उसका * अनुष्ठान करते हैं ९ वे १० सि० भक्त * तो ११ बहुत १२। १३ मुझको १४ प्यारे हैं अर्थात् भक्त जिनका नाम है, जो नाम-मात्र भक्त हैं, वे भी भगवत् को प्यारे हैं, और अद्वेष्ट आदि लक्षणों से जो सम्पन्न हैं, वे तो अत्यन्त प्यारे हैं। "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।" १५।

तात्पर्य—यह जो सातवें अध्याय में उपक्रम किया था, उसी का उपसंहार है, पुनरुक्ति नहीं। सब धर्मों का सार-सिद्धान्त अमृत-रूप यह उपदेश है। विचारना चाहिए कि ये लक्षण अनिकेत मौन आदि निवृत्ति-मार्गवाले ज्ञान-निष्ठ संन्यासी महापुरुषों में होते हैं, या जो घंटा-घड़ियाल बजाते हैं, नृत्य देखते हैं उनमें होते हैं ? उदाहरण के वास्ते श्रीस्वामी पूर्णाश्रमजी महाराज संन्यासी परमहंस ज्ञाननिष्ठ नग्न मौन होकर श्रीभागीरथी गंगाजी के निकट विचरते रहते हैं, जितने लक्षण सात श्लोकों में श्रीभगवान् ने कहे हैं, वे सब उन महाराज में प्रत्यक्ष हैं, जो चाहे दर्शन कर सकता है (चैत्र सुदी नौमी रामनौमी संवत् १९२१ में इस श्लोक का अर्थ मुझ आनंदगिरि ने

लिखा है) पूर्वोक्त श्रीमहाराज परमहंसजी विद्यमान हैं, और भी ऐसे बहुत महात्मा हैं। संन्यासियों के सिवाय कोई बतावे कि पहिले ऐसा कौन हुआ है, और अब आँखों से कौन देख सकता है। इतने पर भी जो विरक्तों का माहात्म्य न समझेगा, वह निःसंदेह प्रवृत्त लोगों के पंजे में फँसेगा ॥ २० ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः १३

अर्जुन उवाच ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच । केशव १ प्रकृतिम् २ पुरुषम् ३ च ४ एव ५ क्षेत्रम् ६ क्षेत्रज्ञम् ७ एव ८ च ९ ज्ञानम् १० ज्ञेयम् ११ च १२ एतत् १३ वेदितुम् १४ इच्छामि १५ ।

अर्थ—यह श्लोक किसी राजा ने बनाकर श्रीभगवद्गीता की पोथियों में लिखवा दिया है। जो अनजान हैं, वे इस श्लोक को भी व्यासकृत समझते हैं। व्यासजी ने सात सौ ७०० श्लोक बनाए हैं, यह मिलकर सात सौ एक हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि हे केशव! १ प्रकृति २ और पुरुष ३। ४। ५ क्षेत्र ६ क्षेत्रज्ञ ७। ८। ९ ज्ञान १० और ज्ञेय ११। १२ इनके १३ जानने की १४ मैं इच्छा करता हूँ १५।

तात्पर्य—क्षेत्र आदि पदों का अर्थ जानना चाहता हूँ। इस प्रश्न की कुछ आकांक्षा न थी, क्योंकि श्रीभगवान् ने बारहवें अध्याय में यह कहा है कि भक्तों का मैं शीघ्र उद्धार करूँगा। इस प्रश्न में जो पद हैं उनके अर्थ जाने विना ज्ञान-निष्ठा नहीं हो सकती, और ज्ञान-निष्ठा के विना संसार से उद्धार नहीं होता, इस वास्ते सब पदार्थ श्रीमहाराज ने प्रश्न के विना कह दिया है। टीकासहित जो पोथी हैं उनमें यह श्लोक नहीं है, और बहुत

विद्वान मूल पोथियों में भी नहीं लिखते। कोई-कोई मूल पोथियों में लिख देते हैं। गीता के अठारह अध्यायों में इस यंत्र के अनुसार सात-सौ श्लोक हैं ॥१॥

अध्याय	१	२	३	४	५	६	७	८	९	जोड़	समस्त जोड़ ७०० श्लोक
श्लो० सं०	४७	७२	४३	४२	२९	४७	३०	२८	३४	३७२	
अध्याय	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	जोड़	
श्लो० सं०	४२	५५	२०	३४	२७	२०	२४	२८	७८	३२८	

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥ १ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच । कौन्तेय १ इदम् २ शरीरम् ३ क्षेत्रम् ४ इति ५ अभिधीयते ६ यः ७ एतत् ८ वेत्ति ९ तम् १० तद्विदः ११ क्षेत्रज्ञम् १२ इति १३ प्राहुः १४ ।

अर्थ—बारहवें अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा था कि मैं भक्तों का उद्धार संसार से शीघ्र करूँगा, जो कि आत्म-ज्ञान के बिना उद्धार नहीं होते । इसवास्ते इस अध्याय में साधन-सहित ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं । हे अर्जुन ! १ इस २ शरीर को ३ क्षेत्र ४ । ५ कहते हैं ६ जो ७ इसको ८ जानता है ९ उसको १० उनके ज्ञाता अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के जाननेवाले ११ क्षेत्रज्ञ १२।१३ कहते हैं १४ ।

तात्पर्य—स्थूल-शरीर क्षेत्र, खेत के बराबर है । पाप-पुण्य इसमें उत्पन्न होते हैं, इसी हेतु इसको क्षेत्र कहते हैं । जो इसका अभिमानी है उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं । क्षेत्रज्ञ वास्तव में शुद्ध, सच्चिदानन्द, असंग, नित्य, मुक्त है, अविद्योपहित होकर व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों का अभिमानी बनकर विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहा जाता है, और मायोपहित होकर समष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों का अभिमानी बनकर विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर कहा जाता है, और वही माया और अविद्या-रहित, शुद्ध, सच्चिदानन्द, नित्यमुक्त है । अध्यारोपापवादन्याय से सिद्धान्त यही है ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

अन्वय—भारत १ सर्वक्षेत्रेषु २ क्षेत्रज्ञम् ३ माम् ४ च ५ अपि ६ विद्धि ७ यत् ८ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ९ ज्ञानम् १० तत् ११ ज्ञानम् १२ मम १३ मतम् १४ ।

अर्थ—तत् और त्वम् इन दो पदों का अर्थ पिछले मंत्र में पृथक्-पृथक निरूपण किया, अब महावाक्यार्थ निरूपण करते हैं। श्रीभगवान् जीव और ईश्वर की लक्ष्यार्थ में एकता स्पष्ट दिखाते हैं। हे अर्जुन! १ सब क्षेत्रों में २ क्षेत्रज्ञ ३ मुझको ही ४। ५।६ जान ७ मि० और जगह तू मत ढूंढ़। इस प्रकार * जो ८ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ९ ज्ञान १० वह ११ ज्ञान १२ मेरा १३ मत १४ सि० है *

तात्पर्य—तत् और त्वम् पदों के लक्ष्यार्थ का ग्रहण करके वाच्यार्थ का त्याग कर, आधेय-अधिकरणभाव, विशेष्य-विशेषणभाव, लक्ष्य-लक्षणभाव इन तीन संबंधों से, और भाग, त्याग, लक्षणा से यह देवदत्त है, इस लौकिक वाक्यवत् क्षेत्रज्ञ और माम् इन पदों की लक्ष्यार्थ में एकता है, इस बात को इस जगह स्पष्ट करने से बहुत विस्तार होता है। आनन्दामृतवर्षिणी के द्वितीय अध्याय में विशेष लिखा है। वेदांत-शास्त्र के जितने ग्रंथ हैं, सब इसी की टीका हैं। ऐसा ज्ञान जिसको हुआ वही ज्ञानी परम पद का भागी होगा। इस लोक में अनेक विद्याएँ हैं, किसी-न-किसी विद्या के जानने-वाले नाई, धोबी, वेश्या आदि सब लोग एक-एक प्रकार के ज्ञानी हैं। ब्रह्म-विद्या के बिना सब लौकिक विद्या, लोगों को रिझाने के लिये, शिश्नोदर की तृप्ति के लिये, वाह-वाह के लिये हैं, जिनका फल दुःख और श्रम है। जो इस शरीर में सच्चिदानन्द क्षेत्रज्ञ है वही वासुदेव है। श्रीमहाराज अपने मुखारविन्द से कहते हैं ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

अन्वय—तत् १ क्षेत्रम् २ यत् ३ च ४ यादृक् ५ च ६

यद्विकारि ७ यतः ८ च ९ यत् १० सः ११ च १२ यः १३ यत्प्रभावः १४ च १५ तत् १६ समासेन १७ मे १८ शृणु १९ ।

अर्थ—प्रथम द्वितीय मंत्रों में जो संक्षेप से कहा है उसीको विस्तार से फिर श्रीभगवान् कहना चाहते हैं । महाराज ने यह जाना कि अभी अर्जुन की समझ में नहीं आया, इसवास्ते अर्जुन से फिर कहते हैं । ऋषीश्वरों और मुनीश्वरों की अपेक्षा से फिर भी संक्षेप ही से कहते हैं । श्रीभगवान् इस मंत्र में प्रतिज्ञा करते हैं कि हे अर्जुन ! जितने शब्दों का अर्थ तुझसे कहूँगा, वे शब्द ये हैं । वह १ स्थूल शरीर २ जड़दृश्यस्वभाववाला ३ और ४ इच्छादिधर्मवाला ५ और ६ इन्द्रियादि विकार से युक्त ७ प्रकृतिपुरुष के संयोग से होता है ८ और ९ स्थावर जंगम भेद से भिन्न १० क्षेत्रज्ञ ११ । १२ स्वरूप से १३ और अचिन्त्य ऐश्वर्य योगशक्ति आदि प्रभाव से युक्त १४ । १५ इन सबका अर्थ १६ संक्षेप से १७ मुझसे १८ सुन १९ ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अन्वय—ऋषिभिः १ बहुधा २ गीतम् ३ छन्दोभिः ४ विविधैः ५ पृथक् ६ हेतुमद्भिः ७ ब्रह्मसूत्रपदैः ८ च ९ एव १० विनिश्चितैः ११ ।

अर्थ—जो ज्ञान मैं तुझसे कहता हूँ, यही ज्ञान अनादि वेदोक्त है, और विद्वानों ने भी यही निश्चय किया है, ऋषीश्वरों ने १ बहुत प्रकार से २ सि० इसी ज्ञान को * निरूपण किया है ३ वेदों ने ४ सि० भी * विविध प्रकार से ५ पृथक् ६ सि० कहा है और * हेतुवाले ब्रह्मसूत्र पदों से ७ । ८ । ९ । १० सि० कहा गया है । कैसे हैं वे सूत्रपद कि * भले प्रकार निश्चय किए गए हैं ११ ।

तात्पर्य—ध्यान धारणा आदि साधनों से, और प्रकृति-पुरुष के विवेक से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, इस प्रकार वशिष्ठ आदि ऋषियों ने भी निरूपण किया है और कर्म ही को फलदाता बतलाया है । यज्ञ आदि करने से,

देवों का पूजन करने से, परम पद स्वर्ग की प्राप्ति होती है । वेदों ने बहुत जगह इस प्रकार निरूपण किया है, और व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र पदों को संक्षेप करके सूत्र बनाए हैं, जिनसे प्रभु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है । ब्रह्म जाना जावे, तटस्थलक्षण और स्वरूपलक्षण करके जिनसे, उनको ब्रह्मसूत्र कहते हैं ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

अन्वय—महाभूतानि १ अहङ्कारः २ बुद्धिः ३ अव्यक्तम् ४ एव ५ च ६ दश ७ इन्द्रियाणि ८ एकम् ९ च १० पञ्च ११ च १२ इन्द्रियगोचराः १३ ।

अर्थ—क्षेत्र का लक्षण दो श्लोकों में कहते हैं । आकाश आदि पंच पंचीकृत १ भूतों का कारण २ महत्तत्त्व ३ मूलाज्ञान ४ । ५ । ६ दश इन्द्रिय ७ । ८ एक मन ९ और १० पंच तन्मात्रा अपंचीकृत सूक्ष्मभूत ११ । १२ सि० और * इन्द्रियों के विषय शब्द आदि पंच १३ सि० इन सबका भेद और अर्थ आनन्दामृतवर्षिणी के द्वितीय अध्याय में लिखा है * ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—इच्छा १ द्वेषः २ सुखम् ३ दुःखम् ४ सङ्घातः ५ चेतना ६ धृतिः ७ एतत् ८ क्षेत्रम् ९ समासेन १० सविकारम् ११ उदाहृतम् १२ ।

अर्थ—इस लोक वा परलोक के पदार्थों की चाह १ अपने इष्ट में जो विघ्नकारी प्रतीत होता हो उसमें जो अन्तःकरण की वृत्ति २ सुख ३ सि० तीन प्रकार का अठारहवें अध्याय में निरूपण होगा * विक्षेप (प्रतिकूल) जिसको दुःख कहते हैं ४ स्थूलशरीर ५ चेतना अर्थात् ज्ञानात्मिका अंतःकरण की वृत्ति, जिसके प्रकट होने से सब अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है । संसार कार्य-कारण-सहित अत्यन्ताभाव को प्राप्त हो जाता है ६

धृति ७ सि० तीन प्रकार की अठारहवें अध्याय में निरूपण होगी * यह ८ क्षेत्र ९ संक्षेप से १० विकारवान् ११ कहा है १२।

तात्पर्य—क्षेत्र विकारवान् है, क्षेत्रज्ञ निर्विकार है। मूलाज्ञान से क्षेत्र भी विकारवान् प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अन्वय—अमानित्वम् १ अदम्भित्वम् २ अहिंसा ३ क्षान्तिः ४ आर्जवम् ५ आचार्योपासनम् ६ शौचम् ७ स्थैर्यम् ८ आत्मविनिग्रहः ९।

अर्थ—आगे क्षेत्र का लक्षण कहना है, उसके समझने के लिये सत्त्वगुणी अंतर्मुख सूक्ष्म वृत्ति चाहिए। इसवास्ते उसका साधन पांच श्लोकों में कहते हैं। जिसके ये बीस साधन होंगे, उसकी समझ में क्षेत्रज्ञ का स्वरूप आवेगा। प्रथम इन साधनों में प्रयत्न करना योग्य है। मानरहित १ दंभरहित २ हिंसारहित ३ क्षमा ४ कोमलता ५ सद्गुरु की सेवा ६ पवित्रता (बाहर भीतर) ७ सि० सन्मार्ग में * स्थिरता ८ शरीर का निग्रह ९ सि० इन साधनों का अर्थ और उनका पृथक् पृथक् माहात्म्य, आनन्दामृतवर्षिणी के चतुर्थ अध्याय में भले प्रकार लिखा है, और जैसा फल शास्त्रों में लिखा है वही प्रत्यक्ष होता है। इन साधनों का ऐसा फल नहीं कि जैसा एकादशी का फल परोक्ष है। ये साधन साधारण हैं, इनमें ब्राह्मण से लेकर चांडाल पर्यन्त सबका अधिकार है * ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

अन्वय—इन्द्रियार्थेषु १ वैराग्यम् २ अनहङ्कारः ३ एव ४ च ५ जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ६।

अर्थ—इन्द्रियों के अर्थों में १ वैराग्य २ अहङ्काररहित ३। ४। ५ जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि, इन चारों में दुःख को और दोषों को सदा देखते रहना ६ ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

अन्वय—पुत्रदारगृहादिषु १ असक्तिः २ अनभिष्वङ्गः ३ इष्टानिष्टोपपत्तिषु ४ नित्यम् ५ समचित्तत्वम् ६ च ७ ।

अर्थ—पुत्र, स्त्री, गृह आदि में १ सक्त न होना २ पुत्र आदि के दुःख सुख में अपने को सुखी दुःखी नहीं मानना ३ इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में ४ सदा ५ समचित्त रहना ६ । ७ ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

अन्वय—मयि १ च २ अनन्ययोगेन ३ अव्यभिचारिणी ४ भक्तिः ५ विविक्तदेशसेवित्वम् ६ जनसंसदि ७ अरतिः ८ ।

अर्थ—मुझमें १ । २ अनन्ययोग करके ३ अव्यभिचारिणी ४ भक्ति ५ विविक्त देश में रहने का स्वभाव ६ प्राकृत जनों की सभा में ७ प्रीतिरहित ८ ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अन्वय—अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् १ तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् २ एतत् ३ ज्ञानम् ४ इति ५ प्रोक्तम् ६ यत् ७ अतः ८ अन्यथा ९ अज्ञानम् १० ।

अर्थ—वेदान्त-शास्त्र को नित्य पढ़ना, सुनना, विचारना १ तत्त्वं पदों के अर्थ जानने में सदा निष्ठा रखना २ यह ३ ज्ञान ४ यहाँ तक ५ कहा ६ सि० इन साधनों को भी ज्ञान कहते हैं । इस जगह ज्ञान का अर्थ यह है कि सच्चिदानन्द-स्वरूप जाना जावे जिससे, उसको ज्ञान कहते हैं । ब्रह्म-ज्ञान के ये अन्तरंग साधन हैं, इसवास्ते इनको भी ज्ञान कहा * जो ७ इससे ८ उलटा है ९ सि० उसको * अज्ञान सि० कहते हैं * अर्थात् जिसमें ये साधन नहीं, वह अज्ञानी है । अज्ञान का कार्य होने से मान, दंभ आदि को भी अज्ञान ही कहते हैं १० ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

अन्वय—यत् १ ज्ञेयम् २ तत् ३ प्रवक्ष्यामि ४ यत् ५ ज्ञात्वा ६ अमृतम् ७ अश्नुते ८ अनादिमत् ९ परम् १० ब्रह्म ११ तत् १२ न १३ सत् १४ न १५ असत् १६ उच्यते १७ ।

अर्थ—क्षेत्रज्ञ परमानन्द-स्वरूप ब्रह्मात्मा का लक्षण कहते हैं । जो १ सि० पूर्वोक्त साधनों से * जानने के योग्य २ उसको ३ भले प्रकार कहूँगा ४ जिसको ५ जानकर ६ अमृत को प्राप्त होता है अर्थात् जन्म-मरण से छूटकर सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त होना है ७ । ८ सि० फल का निरूपण करके स्वरूप का वर्णन करते हैं * अनादि ९ परे-से-परे १० बड़ों-से-बड़ा ११ वह १२ न १३ सत् १४ न १५ असत् १६ कहा जाता है १७ ।

तात्पर्य—जो उसको सत् कहें, तो अर्थ से असत् एक पदार्थ प्रतीत होता है, और मन-वाणी का विषय भी प्रतीत होता है । जो-जो पदार्थ मन वाणी के विषय हैं, सब अनित्य हैं । यह दोष ब्रह्म में भी आता है, और इससे अद्वैत सिद्ध नहीं होता । और जो असत् कहें तो यह अनर्थ है, क्योंकि उसकी सत्ता से झूठे-से-झूठे पदार्थ सच्चे प्रतीत होते हैं, और जो कुछ भी न कहें तो अज्ञानियों का संसार कैसे निवृत्त हो, अर्थात् वह ऐसा अचिन्त्य शक्तिमान् है कि वास्तव में वह मन वाणी का विषय नहीं, परंतु उसके भक्त उसका निरूपण करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

अन्वय—तत् १ सर्वतः पाणिपादम् २ सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ३ सर्वतः श्रुतिमत् ४ लोके ५ सर्वम् ६ आवृत्य ७ तिष्ठति ८ ।

अर्थ—ब्रह्म की अचिन्त्य अद्भुत शक्ति का निरूपण करते हैं । वह १ सि० ब्रह्म ऐसा है कि * सब तरफ हाथ पैर हैं जिसके २ सब तरफ आँख शिर और मुख हैं जिसके ३ सब तरफ कान हैं जिसके ४ जगत् में ५ सबको ६ व्याप्त हो कर ७ स्थित है ८ अर्थात् सब प्राणियों के अंतःकरण की वृत्ति

में, प्राण आदि की क्रिया में नख से शिखापर्यन्त व्याप्त है। जिसको कूटस्थ कहते हैं। हस्त चरण आदि से जो क्रिया की जाती है, यह उसी की सत्ता है। आँख, कान, नाक से जो देखा, सुना और सूंघा जाता है यह उसी की चैतन्यता है, अंतःकरण में जो सुख प्रतीत होता है यह उसी आनंद की छाया है। जैसे दर्पण में अपना मुख देखकर अपना ज्ञान होता है, वैसे ही अन्तः-करण की वृत्ति में उस आनंद की छाया देखकर वास्तव में सच्चिदानंद का ज्ञान होता है। इस प्रकार वह विषय भी है ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

अन्वय—सर्वेन्द्रियगुणाभासम् १ सर्वेन्द्रियविवर्जितम् २ असक्तम् ३ सर्वभृत् ४ च ५ एव ६ निर्गुणम् ७ गुण भोक्तृ ८ च ९।

अर्थ—सब इंद्रियों के शब्दादि विषयों में विषयाकार होकर प्रतीत होता है, १ सि० और वास्तव में * सब इन्द्रियों से रहित २ असक्त ३ सि० है, परन्तु * सबका आधार पालनेवाला ४। ५। ६ सि० कहा जाता है। वास्तव में * सत्त्वादि गुणों से रहित ७ सि० है, परन्तु * गुणों का भोक्ता ८। ९ सि० प्रतीत होता है, विषयजन्य सुख दुःख आदि का अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है * ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अन्वय—भूतानाम् १ अंतः २ बहिः ३ च ४ अचरम् ५ चरम् ६ एव ७ च ८ सूक्ष्मत्वात् ९ तत १० अविज्ञेयम् ११ च १२ तत् १३ अंतिके १४ दूरस्थम् १५ च १६।

अर्थ—भूतों के १ भीतर २ और बाहर ३। ४ सि० भी है, जैसे चाँदनी सब जगह व्याप्त है, उपाधि के संबंध से किसी-किसी जगह दीख पड़ती है, और कहीं-कहीं नहीं दीखती। इसी प्रकार ज्ञान-चक्षु-रहित पुरुषों को नहीं प्रतीत होता है, ज्ञानियों को

प्रतीत होता है * अचर ५ सि० भी है और * चर ६ भी ७। ८ सि० है । जंगमों के साथ संबंध होने से चर प्रतीत होता है, और स्थावरों के साथ संबंध होने से अचर प्रतीत होता है, या ऐसा कहो कि वह वास्तव में अचर है * सूक्ष्म होने से ९ सि० साकार प्रमेय नहीं, इसहेतु * वह १० जानने योग्य नहीं है ११ । १२ सि० बहिर्मुख स्थूल बुद्धिवालों को * वह १३ समीप १४ सि० भी है * और दूरस्थित भी है १५ । १६ सि० जो अपने आत्मा को ही क्षेत्रज्ञ परमात्मा जानते हैं, अर्थात् हमारा आत्मा ही परमानन्द-स्वरूप क्षेत्रज्ञ है, आत्मा से पृथक् कोई पदार्थ नहीं, उसको समीप है, और जो बहिर्मुख विषयी उसको रूपादिमान्, वा बुद्धि आदि का विषय, अपने से पृथक् जानकर उसकी प्राप्ति के लिये दौड़-धूप करते हैं, उनको कभी नहीं मिलेगा । जैसे मृग कस्तूरी के गन्ध के वास्ते भटकता फिरता है, वैसेही अज्ञानी भटकते रहेंगे * ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अन्वय—तत् १ ज्ञेयम् २ अविभक्तम् ३ च ४ भूतेषु ५ विभक्तम् ६ इव ७ च ८ स्थितम् ९ भूतभर्तृ १० च ११ ग्रसिष्णु १२ च १३ प्रभविष्णु १४ ।

अर्थ—वह १ क्षेत्रज्ञ २ सि० वास्तव में * पृथक्-पृथक् नहीं ३ और ४ भूतों में ५ पृथक्-पृथकवत् ६ । ७ । ८ स्थित ९ सि० है * भूतों का पालनेवाला १० सि० स्थिति-काल में विष्णु-रूप होकर * और ११ सि० प्रलय-कालमें * नाश करनेवाला १२ सि० रुद्र-रूप होकर * और १३ सि० उत्पत्ति-काल में * उत्पत्ति करनेवाला १४ सि० ब्रह्मा-रूप होकर * अर्थात् वह क्षेत्रज्ञ सब भूतों में एक है, उपाधि के संबंध से पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है । वास्तव में वह निर्विकार है ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अन्वय--तत् १ ज्योतिषाम् २ अपि ३ ज्योतिः ४ तमसः ५ परम् ६ उच्यते ७ ज्ञानम् ८ ज्ञेयम् ९ ज्ञानगम्यम् १० सर्वस्य ११ हृदि १२ धिष्ठितम् १३ ।

अर्थ--वह १ ज्योति का २ भी ३ ज्योति ४ सि० है * अर्थात् चन्द्र सूर्य आदि का भी प्रकाशक आत्मा ही है, इसी हेतु * अज्ञान से परे ५। ६ कहा है ७ सि० अज्ञान का कार्य बुद्धि आदि का विषय नहीं, अज्ञान के कार्य से जानने में नहीं आता है, वह अपने आप * ज्ञान-स्वरूप है ८ सि० और अमानित्वादि साधनों से * जानने योग्य है ९ तत्त्व-ज्ञान से ही जाना जाता है १० सबके ११ हृदय में १२ विराजमान है १३ ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

अन्वय--इति १ क्षेत्रम् २ तथा ३ ज्ञानम् ४ ज्ञेयम् ५ च ६ समासतः ७ उक्तम् ८ मद्भक्तः ९ एतत् १० विज्ञाय ११ मद्भावाय १२ उपपद्यते १३ ।

अर्थ-- यह १ क्षेत्र २ और ३ ज्ञान ४ और ज्ञेय ५ । ६ संक्षेप से ७ सि० तुझसे * कहा ८ मेरा भक्त ९ इसको १० जानकर ११ मेरे भाव को १२ प्राप्त होता है १३ अर्थात् अमानित्वादि साधन-सम्पन्न, तत् त्वम् पदों के अर्थ को जानकर, कृतार्थ होकर, अपने स्वरूप सच्चिदानन्द को प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥

अन्वय—प्रकृतिम् १ पुरुषम् २ च ३ एव ४ उभौ ५ अपि ६ अनादी ७ विद्धि ८ विकारान् ९ च १० गुणान् ११ च १२ एव १३ प्रकृतिसम्भवान् १४ विद्धि १५ ।

अर्थ—ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति माया १ और सच्चिदानन्द ब्रह्म आत्मा २। ३। ४ ये दोनों ५ ही ६ अनादि ७ सि० हैं, यह * तू जान ८ देहइन्द्रिय आदि ९ और सुख दुःख मोह आदि को १०। ११। १२। १३ प्रकृति से उत्पन्न हुआ १४ तू जान १५

मि० यह सृष्टि-प्रकार 'आनन्दामृतवर्षिणी' के द्वितीय अध्याय में भले प्रकार लिखा है * ॥ १९ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

अन्वय—कार्यकारणकर्तृत्वे १ हेतुः २ प्रकृतिः ३ उच्यते ४ सुखदुःखानाम् ५ भोक्तृत्वे ६ हेतुः ७ पुरुषः ८ उच्यते ९ ।

अर्थ—कार्य कारण के करने में अर्थात् शरीर आदि की उत्पत्ति में १ हेतु २ प्रकृति ३ कही है ४ सुख दुःखों के ५ भोगने में ६ हेतु ७ पुरुष ८ कहा है ९ ।

तात्पर्य—अंतःकरण-विशिष्ट चैतन्य-पुरुष भोक्ता कहा जाता है । यद्यपि प्रकृति जड़ है, उसको जगत् का उपादान कारण कहते हैं, और पुरुष निर्विकार है उसको सुखादि के भोग में हेतु कहना अयोग्य है, परन्तु प्रकृति के सम्बन्ध से वह भोक्ता प्रतीत होता है । जैसे चुम्बक के सन्निधि से लोहा चेष्टा करता है, ऐसे ही प्रकृति पुरुष की व्यवस्था है, और जैसे मित्र पुत्र आदि के साथ स्नेह ममता करने से उनके सुख-दुःख में आप भी सुख-दुःख का भोक्ता हो जाता है, ऐसे ही जीव-पुरुष देहइन्द्रिय आदि के साथ अध्यास (आसक्ति) करके दुःख आदि का भोक्ता प्रतीत होने लगता है । वास्तव में वह शुद्ध परमानन्द-रूप है ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

अन्वय—पुरुषः १ प्रकृतिस्थः २ हि ३ प्रकृतिजान् ४ गुणान् ५ भुङ्क्ते ६ सदसद्योनिजन्मसु ७ अस्य ८ कारणम् ९ गुणसङ्गः १० ।

अर्थ—आत्मा १ देह आदि के साथ तादात्म्य अध्यास करके २ ही ३ प्रकृति से उत्पन्न हुए ४ सुख-दुःख आदि को ५ भोगता है ६ मि० वास्तव में अभोक्ता है * देवता मनुष्य आदि योनियों के विषय जो इसका जन्म ७ इसका ८ कारण ९ गुणों का संग १० मि० है । सत्त्वगुण के सम्बन्ध से देवता, रजोगुण के सम्बन्ध से मनुष्य और तमोगुण के सम्बन्ध से पशु योनि में जन्म पाता है * ॥ २१ ॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

अन्वय—अस्मिन् १ देहे २ पुरुषः ३ परः ४ उपद्रष्टा ५ अनुमन्ता ६ च ७ भर्ता ८ भोक्ता ९ महेश्वरः १० परमात्मा ११ इति १२ च १३ अपि १४ उक्तः १५ ।

अर्थ—जो आत्मा है वही परमात्मा है, और जिसको परमात्मा परमेश्वर कहते हैं, वह यही आत्मा है। जीवब्रह्म की एकता श्रीव्रजराज इस श्लोक में स्पष्ट दिखाते हैं। इस देह में १।२ सि० जो * जीव ३ सि० है, वही * परे-से-परे ४ द्रष्टृवत् द्रष्टा ५ सि० है। साक्षात् द्रष्टा नहीं, क्योंकि दृश्य पदार्थ जब सच्चे हों, तब उसका द्रष्टा भी वास्तव में कहा जावे। दृश्य पदार्थ अविद्यक हैं, इस वास्ते मायोपहित होने से उसको उपद्रष्टा कहते हैं, और कर्मजन्य सुख में सुख मानकर आनन्द को प्राप्त होता है। वास्तव में आप आनन्दस्वरूप है, इस वास्ते उसको * अनुमन्ता कहते हैं ६। ७ सि० और मायोपहित हो यह सच्चिदानन्द अविद्योपहित सच्चिदानन्द जीव का * पालन पोषण करनेवाला है ८ सि० और वही * भोक्ता है ९ परमेश्वर १० और परमात्मा भी ११। १२। १३। १४ कहा जाता है १५।

तात्पर्य—शुद्ध सच्चिदानन्द को माया के संबंध से ईश्वर कहते हैं, और अविद्या के संबंध से जीव कहते हैं। जब दोनों उपाधियाँ ब्रह्म-ज्ञान से नष्ट हो जाती हैं, तब केवल शुद्ध सच्चिदानन्द एक ही रह जाता है ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

अन्वय—यः १ एवम् २ पुरुषम् ३ वेत्ति ४ प्रकृतिम् ५ च ६ गुणैः ७ सह ८ सः ९ सर्वथा वर्तमानः १० अपि ११ भूयः १२ न १३ अभिजायते १४ ।

अर्थ—जो १ इस प्रकार २ आत्मा को ३ जानता है ४ और प्रकृति को ५। ६ गुणों के साथ ७। ८ सि० जानता है * अर्थात् प्रकृति के स्वरूप को सत्त्वादि गुण और इन्द्रियार्थ के सहित जो

जानता है ७ । ८ वह ६ सर्वथा वर्तमान १० भी ११ फिर १२ नहीं १३ जन्म लेता है १४ ।

तात्पर्य—वह वेदोक्त मार्ग पर चले, अथवा प्रारब्धवशात् जैसी उसकी इच्छा हो बरते, उसकी मुक्ति में सन्देह नहीं । यह बात 'आनन्दामृतवर्षिणी' के तीसरे अध्याय में स्पष्ट लिखी है ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

अन्वय—केचित् १ आत्मानम् २ आत्मना ३ आत्मनि ४ ध्यानेन ५ पश्यन्ति ६ अन्ये ७ सांख्येन ८ योगेन ९ च १० अपरे ११ कर्मयोगेन १२ ।

अर्थ—कोई १ आत्मा को २ अन्तर्मुख निर्मल अन्तःकरण की वृत्ति से ३ इस देह में ४ आत्माकार वृत्ति से अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" इसका गंगावत् प्रवाह सदा बना रहे इसको ध्यान कहते हैं ५ सि० इस ध्यान से * देखते हैं ६ कोई ७ सांख्ययोग से अर्थात् प्रकृति-पुरुष के विवेक द्वारा, अथवा वेदांत-शास्त्र द्वारा ८ सि० और कोई * अष्टांगयोग से अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा ९ । १० सि० और * कोई ११ कर्मयोग से १२ सि० देखते हैं । यह क्रिया सबके साथ लगती है । कर्म दो प्रकार के हैं, गौण और मुख्य । स्नान, श्राद्ध आदि बहिरंग-कर्म गौण हैं, शम दम आदि अंतरंग-कर्म मुख्य हैं । मुख्य साधनों में सबका अधिकार है * ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्वय—अन्ये १ तु २ एवम् ३ अजानन्तः ४ अन्येभ्यः ५ श्रुत्वा ६ उपासते ७ ते ८ अपि ९ च १० मृत्युम् ११ अतितरन्ति १२ एव १३ श्रुतिपरायणाः १४ ।

अर्थ—और कोई १ । २ इस प्रकार ३ सि० ध्यानरहित आत्मा को * नहीं जानते हुए ४ सद्गुरु महापुरुषों से ५ श्रवण

करके ६ उपासना करते हैं अर्थात् आत्मा को साक्षात् अपरोक्ष तो नहीं जानते, परन्तु वेद शास्त्र सद्गुरु द्वारा यह सुनकर कि मैं ब्रह्म हूँ "अहं ब्रह्मास्मि" यही जप करते हुए आत्मा की उपासना करते हैं ७ वे ८ भी ६।१० संसार को ११ लाँघ जाते हैं १२ निश्चय से १३ सि०क्योंकि वे * श्रवणपरायण हैं १४।

तात्पर्य—अल्पबुद्धि यह कहा करते हैं कि ब्रह्म के जाने बिना अपने को ब्रह्म न कहना चाहिए, इसमें पाप होता है। तुम में ब्रह्म की क्या शक्ति है? प्रतीत होता है कि वे लोग या तो ईर्षा अमर्ष से कहते हैं, या भगवद्वाक्य में उनकी किंचित् श्रद्धा नहीं, या मूर्ख हैं, क्योंकि इस मंत्र में श्रीभगवान् स्पष्ट कहते हैं कि अनजान ब्रह्म का उपासक जो 'अहं ब्रह्मास्मि' यह उपासना करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है। फिर न जाने मूर्ख इस श्लोक का क्या अनर्थ करते हैं। जब अनजान अवस्था में यह उपासना न की, तो ज्ञानावस्था में वे क्यों करेंगे। उपासना साधन है और वह फल की प्राप्ति के वास्ते करते हैं। मूर्ख साधन से पहले ही फल चाहते हैं, यह कहते हैं कि जब हमको ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष होगा, तब हम 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा कहेंगे। विचारना चाहिए कि बिना साधन कहीं फल मिलता है? कर्म और भेद-उपासना ज्ञान के गौण साधन हैं, ज्ञान-निष्ठा का मुख्य साधन यही है कि "अहं ब्रह्मास्मि" यह महावाक्य श्रवण करके इसी का सदा जप किया करें। वेद वाक्य भी इसमें प्रमाण है॥२५॥

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

अन्वय—यावत् १ किञ्चित् २ सत्त्वम् ३ स्थावरजङ्गमम् ४ संजायते ५ भरतर्षभ ६ तत् ७ क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् ८ विद्धि ९।

अर्थ—जहाँ तक १ जो कुछ २ पदार्थ ३ स्थावर जंगम ४ उत्पन्न होता है ५ हे अर्जुन! ६ उसको ७ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ८ जानो ९ ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

अन्वय—सर्वेषु १ भूतेषु २ विनश्यत्सु ३ परमेश्वरम् ४

समम् ५ अविनश्यन्तम् ६ तिष्ठन्तम् ७ यः ८ पश्यति ६ सः १० पश्यति ११ ।

अर्थ—संसार विवेक-रहित है, यह पीछे कहा गया है, अब उसकी निवृत्ति के लिये विवेक-बुद्धि बताते हैं । जब आत्मा का स्वरूप इस प्रकार समझ में आ जाय, तब जाने कि अब ज्ञान हुआ । सब भूतों में १ । २ सि० भूतों का नाश होने पर भी ३ आत्मा को ४ सम ५ अविनाशी ६ स्थित ७ जो ८ देखता है ६ वह १० देखता है ११ ।

तात्पर्य—जो आत्मा को अविनाशी पूर्णब्रह्म परमेश्वर जानते हैं, देह आदि के नाश होने पर भी उसको अविनाशी जानते हैं, वे आत्मा को यथार्थ जानते हैं ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

अन्वय—ईश्वरम् १ समवस्थितम् २ सर्वत्र ३ समम् ४ पश्यन् ५ हि ६ आत्मना ७ आत्मानम् ८ न ६ हिनस्ति १० ततः ११ पराम् १२ गतिम् १३ याति १४ ।

अर्थ—ईश्वर को १ निश्चल २ सर्वत्र ३ सम देखता हुआ ४ । ५ । ६ आत्मा से ७ आत्मा को ८ नहीं ६ मारता है १० तब ११ परमगति को १२ । १३ प्राप्त होता है १४ ।

तात्पर्य—जो ईश्वर को या जीव को विकारवान् विषम देखता है, वह भेदवादी अपने आप अपना नाश करता है । ईश्वर को आत्मा से जुदा समझकर परिच्छिन्न अल्पप्रमेय करता है और वैसे ही आत्मा को भी, इस हेतु महाहत्या आत्महत्या में जो पाप होता है वह पाप भेदवादी को लगता है । इसी अर्थ को व्यतिरेक मुख से भगवान् ने इसमें कहा है, अर्थात् जो आत्मा को सर्वत्र ईश्वर देखता है, वह आत्महत्यारा नहीं, जो आत्मा को विषम, प्रमेय और अल्प देखता है, वह आत्महत्यारा है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २६ ॥

अन्वय—सर्वशः १ क्रियमाणानि २ कर्माणि ३ प्रकृत्या ४

एव ५ च ६ यः ७ पश्यति ८ तथा ९ आत्मानम् १० अकर्तारम् ११ सः १२ पश्यति १३ ।

अर्थ—सब प्रकार १ क्रियमाण २ कर्मों को ३ प्रकृति से ४ ही ५।६ जो ७ देखता है ८ वैसे ही ९ आत्मा को १० अकर्ता ११ वह १२ देखता है १३ ।

तात्पर्य—शरीर, इन्द्रिय और अंतःकरण से बुरे भले सब कर्म किए जाते हैं। आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार जो आत्मा को अकर्ता देखता है, वही आत्मा को भले प्रकार पहिचानता है ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

अन्वय—यदा १ भूतपृथग्भावम् २ एकस्थम् ३ अनुपश्यति ४ ततः ५ एव ६ च ७ विस्तारम् ८ तदा ९ ब्रह्म १० सम्पद्यते ११ ।

अर्थ—जिस काल में १ भूतों के पृथग्भाव को २ आत्मा में स्थित ३ देखता है ४ और उसी से ५।६।७ विस्तार को ८ उस काल में ९ ब्रह्म को १० प्राप्त होता है ११ ।

तात्पर्य—अपने अज्ञान से ही सब जगद्विस्तार प्रतीत होता है, और जब आत्माकारवृत्ति होती है, तब सब जगत् अत्यंत अभावको प्राप्त हो जाता है। जीवबाद को जो जानते हैं वे इस बात को समझ सकते हैं कि अपने अज्ञान का नाश होने पर समस्त जगत् का अभाव हो जाता है ॥ ३ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अन्वय—कौन्तेय १ अयम् २ परमात्मा ३ शरीरस्थः ४ अपि ५ अनादित्वात् ६ निर्गुणत्वात् ७ अव्ययः ८ न ९ करोति १० न ११ लिप्यते १२ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ यह २ परमात्मा ३ शरीर में स्थित ४ भी ५ अनादि होने से ६ निर्गुण होने से ७ निर्विकार ८ सि० है * न ९ करता है १० न ११ लिपायमान होता है १२ ।

तात्पर्य—देह आदि की क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है, और कर्मों के न करने से अज्ञानीवत् पाप के साथ स्पर्श नहीं करता ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

अन्वय—यथा १ आकाशम् २ सर्वगतम् ३ सौक्ष्म्यात् ४ न ५ उपलिप्यते ६ तथा ७ आत्मा ८ सर्वत्र ९ देहे १० अवस्थितः ११ न १२ उपलिप्यते १३ ।

अर्थ—जैसे १ आकाश २ सब जगह व्याप्त है ३ सूक्ष्म होने से ४ सि० किसी जगह * नहीं ५ लिपायमान होता है ६ वैसे ७ आत्मा ८ सब जगह ९ देह में १० स्थित है ११ सि० कर्मों के साथ और कर्मों के फल के साथ * नहीं १२ लिपायमान होता है १३ ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

अन्वय—भारत १ यथा २ एकः ३ रवि ४ इमम् ५ कृत्स्नम् ६ लोकम् ७ प्रकाशयति ८ तथा ९ क्षेत्री १० कृत्स्नम् ११ क्षेत्रम् १२ प्रकाशयति १३ ।

अर्थ—हे अर्जुन १ जैसे एक २ । ३ सूर्य ४ इस संपूर्ण ५ । ६ लोक को ७ प्रकाशित कर रहा है ८ वैसे ही ९ क्षेत्रज्ञ १० समस्त क्षेत्र को १० । ११ प्रकाशित कर रहा है १३ अर्थात् जो ज्ञानानंद देह में प्रतीत होता है, सब उसी ज्ञानानंद की छाया है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—ये १ एवम् २ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ३ अन्तरम् ४ ज्ञानचक्षुषा ५ भूतप्रकृतिमोक्षम् ६ च ७ विदुः ८ ते ९ परम् १० यान्ति ११ ।

अर्थ—जो १ इस प्रकार २ सि० पूर्वोक्त रीति से * क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ३ भेद ४ ज्ञान-चक्षु से ५ सि० देखते हैं, और * भूतों की जो प्रकृति ध्यान, विवेक आदि उनके सकाश से मोक्ष को ६ । ७ जानते हैं ८ वे ९ परमानंद-स्वरूप आत्मा को १० सि० प्राप्त-वत् * प्राप्त होते हैं ११ ।

तात्पर्य—बंध और मोक्ष का हेतु प्रकृति है । तमोगुण और रजोगुण के साथ संबंध होने से बन्ध को प्राप्त होता है, और सत्त्वगुण के साथ संबंध

होने से मोक्ष को प्राप्त होता है। इसी अर्थ को चतुर्दश अध्याय में श्रीभगवान् स्पष्ट निरूपण करेंगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञनिर्देशयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः १४

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच । भूयः १ ज्ञानानाम् २ उत्तमम् ३ ज्ञानम् ४ परम् ५ प्रवक्ष्यामि ६ यत् ७ ज्ञात्वा ८ सर्वे ९ मुनयः १० पराम् ११ सिद्धिम् १२ इतः १३ गताः १४ ।

अर्थ—सत्त्वगुण के बढ़ाने से, रजोगुण और तमोगुण के कम करने से, ज्ञान द्वारा परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसवास्ते इस अध्याय में सत्त्वादि गुणों का भेद कहते हैं। हे अर्जुन! फिर १ सि० भी * ज्ञानों में २ सि० जो * उत्तम ज्ञान ३ । ४ परमार्थ-निष्ठ ५ उसको मैं कहूँगा ६ सि० इस अध्याय में तुझ से * जिसको ७ जानकर ८ सब मुनीश्वर ९ । १० परम सिद्धि को ११ । १२ इस देह के पीछे १३ प्राप्त हुए हैं १४ ।

तात्पर्य—ज्ञान कितने प्रकार का है। जिस ज्ञान से कर्म, उपासना आदि का अर्थ जाना जाता है उसको भी ज्ञान कहते हैं, और जिस ज्ञान से आत्मा का परमानन्द परम-स्वरूप साक्षात् (अपरोक्ष) होता है, वह एक उत्तम आत्म-ज्ञान है। सब ज्ञानों में आत्म-ज्ञान क्यों उत्तम है, इस कारण कि वह साक्षात् मुक्ति का मुख्य हेतु है, और परब्रह्म की निष्ठा प्राप्त करानेवाला है। इसी ज्ञान से बहुत साधु-महात्मा स्थूल देह को त्यागकर परमानन्द-स्वरूप आत्मा को प्राप्त हुए हैं। हे अर्जुन! तू मेरा प्यारा है, इसवास्ते यह उत्तम ज्ञान फिर भी तुझसे कहूँगा। यद्यपि पहले कहा है, परन्तु अब शीघ्र समझ में आने के वास्ते अन्य रीति से कहूँगा ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

अन्वय—इदम् १ ज्ञानम् २ उपाश्रित्य ३ मम ४ साधर्म्यम् ५ आगताः ६ सर्गे ७ अपि ८ न ९ उपजायन्ते १० प्रलये ११ च १२ न १३ व्यथन्ति १४।

अर्थ—इस १ ज्ञान का २ आश्रय करके अर्थात् जो ज्ञान-साधन-सहित इस अध्याय में कहते हैं उसका अनुष्ठान करके ३ मेरे स्वरूप को ४। ५ प्राप्त हुए अर्थात् शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप हुए ६ सृष्टि के समय ७ भी अर्थात् जब यह जगत् प्रलय होकर फिर उत्पन्न होगा उस समय भी ८ नहीं उत्पन्न होंगे ९। १० प्रलय में भी ११। १२ नहीं १३ दुःख पाते हैं १४।

तात्पर्य—माया-सम्बन्धी स्थूल आदि देहों को नहीं प्राप्त होंगे, क्योंकि माया के सम्बन्ध से दुःख होता है। ज्ञान से माया का नाश हो जाता है ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

अन्वय—मम १ योनिः २ महद्ब्रह्म ३ तस्मिन् ४ गर्भम् ५ दधामि ६ अहम् ७ भारत ८ ततः ९ सर्वभूतानाम् १० सम्भवः ११ भवति १२।

अर्थ—श्रोता को सम्मुख करके वही ज्ञान कहते हैं। मेरी १ योनि अर्थात् बीज धारण करने का स्थान अर्थात् सब भूतों का कारण २ प्रकृति (माया) ३ उसमें अर्थात् उस त्रिगुणात्मिका माया में ४ चिदाभास को ५ मैं धारण करता हूँ ६। ७ हे अर्जुन! ८ मायोपहित ब्रह्म से ९ सब भूतों का १० आविर्भाव ११ होता है अर्थात् माया में जब सच्चिदानन्द की छाया-वत् छाया पड़ती है, तब सब भूत (सूक्ष्म स्थूल) प्रकट होते हैं १२ अर्थात् प्रभु जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। नहीं है भिन्न निमित्त और उपादान कारण जिससे ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

अन्वय--कौन्तेय १ सर्वयोनिषु २ याः ३ मूर्तयः ४ सम्भवन्ति ५ तासाम् ६ योनिः ७ महत् ८ ब्रह्म ९ अहम् १० बीजप्रदः ११ पिता १२।

अर्थ--हे अर्जुन! १ सब भूतों में २ जो ३ मूर्तियाँ ४ उत्पन्न होती हैं ५ उनकी ६ योनि ७ प्रकृति ८। ९ सि० है और * मैं १० बीज देनेवाला ११ पिता १२।

तात्पर्य--जो-जो मूर्तियाँ ब्रह्माजी से लेकर चींटी पर्यन्त (जंगम-स्थावर) जिस-जिस जगह उत्पन्न होती हैं, उनकी प्रकृति उपादान कारण है, और ईश्वर निमित्त का कारण है ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

अन्वय--सत्त्वम् १ रजः २ तमः ३ इति ४ गुणाः ५ प्रकृतिसम्भवाः ६ महाबाहो ७ देहे ८ अव्ययम् ९ देहिनम् १० निबध्नन्ति ११।

अर्थ--सत्त्वादि गुणों ने आत्मा को बन्धन कर रक्खा है, यह कहते हैं। सत्त्व १ रज २ तम ३ यह ४ गुण ५ प्रकृति से प्रकट होते हैं ६ हे अर्जुन! ७ सि० इस * देह में ८ निर्विकार ९ जीव को १० बंधन करते हैं ११।

तात्पर्य--जीव के स्वरूप को भुला देते हैं। आनन्द को अपने से जुदा पदार्थजन्य जानकर जीव भ्रान्त हो जाता है, गुणों के संबंध से अपने आनंद-स्वरूप को भूल जाता है ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

अन्वय--अनघ १ तत्र २ सत्त्वम् ३ निर्मलत्वात् ४ प्रकाशकम् ५ अनामयम् ६ सुखसङ्गेन ७ ज्ञानसङ्गेन ८ च ९ बध्नाति १०।

अर्थ--सत्त्वगुण का लक्षण और बंधन-प्रकार कहते हैं। हे अर्जुन! १ तीनों गुणों में २ सत्त्वगुण ३ निर्मल होने से ४ प्रकाश-रूप ५ शान्त-रूप ६ सि० है * सुख के साथ ७ और

ज्ञान के साथ ८ । ६ बंधन करता है १० मि० आत्मा को सत्त्वगुण * ।

तात्पर्य—सुख और ज्ञान, ये दोनों अंतःकरण की वृत्ति हैं, मिथ्या (अनात्मा) मायाका कार्य है । मैं सुखी, मैं ज्ञानी, यह समझकर जीव वृथा भ्रान्ति में फँसता है । जिस काल में सत्त्वगुण तिरोधान हो जाता है, तमोगुण और रजोगुण प्रकट हो जाते हैं, तब यह ज्ञान और सुख भी जाता रहता है । दुःख, शोक आदि में फँस जाता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

अन्वय—कौन्तेय १ रजः २ रागात्मकम् ३ विद्धि ४ तृष्णा-सङ्गसमुद्भवम् ५ तत् ६ देहिनम् ७ कर्मसङ्गेन ८ निबध्नाति ९ ।

अर्थ—रजोगुण का लक्षण और बन्धन-प्रकार कहते हैं । हे अर्जुन ! १ रजोगुण २ रागात्मक ३ जानो ४ अर्थात् जिस समय स्त्री, मित्र आदि पदार्थों का श्रवण, स्मरण और दर्शन इत्यादि करके अंतःकरण की वृत्ति में स्नेह उत्पन्न होता है, और मनो-रंजन होने लगता है, उसी को रागात्मक कहते हैं, और रजोगुण का यही स्वरूप है ३ । ४ तृष्णा संग की उत्पत्ति है जिससे अर्थात् जब रजोगुण का आविर्भाव होता है तब जो-जो पदार्थ देखने में, या सुनने में आते हैं, उन सबमें अभिलाष होने लगता है । मन में ये संकल्प-विकल्प उत्पन्न होने लगते हैं कि अमुक पदार्थ जो हमको मिलेगा, तो उससे हमको यह आनंद मिलेगा । जब वह पदार्थ मिल जाता है, तब उसमें आसक्ति हो जाती है और उसके वियोग में दुःख होता है । ऐसे-ऐसे रजोगुण के कार्य से रजोगुण का ज्ञान होता है ५ वह ६ मि० रजोगुण * जीव को ७ कर्मों में आसक्त करके ८ बंधन करता है ९ सि० जीव वेदोक्त कर्मों में और उनके फल में फँस जाता है । रजोगुण ज्ञान के सम्मुख नहीं होने देता * ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

अन्वय--भारत १ तमः २ तु ३ अज्ञानजम् ४ सर्वदेहिनाम् ५ मोहनम् ६ विद्धि ७ तत् ८ प्रमादालस्यनिद्राभिः ९ निबध्नाति १० ।

अर्थ--तमोगुण का लक्षण और बंधन-प्रकार कहते हैं । हे अर्जुन ! १ तमोगुण को २ । ३ आवरणशक्तिप्रधान ४ सब जीवों को ५ भ्रान्त करनेवाला ६ जानो ७ वह ८ निद्रा, आलस्य और प्रमाद से ९ बंधन करता है १० ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

अन्वय--भारत १ सत्त्वम् २ सुखे ३ सञ्जयति ४ रजः ५ कर्मणि ६ तमः ७ तु ८ ज्ञानम् ९ आवृत्य १० प्रमादे ११ सञ्जयति १२ उत १३ ।

अर्थ--सत्त्वादि अपने-अपने आविर्भाव में जो करते हैं उनका सामर्थ्य दिखाते हैं । हे अर्जुन ! १ सत्त्वगुण २ सुख में ३ लगाता है अर्थात् जिस समय सत्त्व गुण का आविर्भाव होता है, उस समय वह सुख के सम्मुख करता है ४ सि० और* रजोगुण ५ कर्मों में ६ सि० लगाता है * और तमोगुण ७ । ८ ज्ञान को ९ ढाँककर १० प्रमाद में ११ जोड़ता है १२ आनन्दामृतवर्षिणी के पाँचवें अध्याय में यह सब अर्थ स्पष्ट लिखा है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

अन्वय--रजः १ तमः २ च ३ अभिभूय ४ सत्त्वम् ५ भवति ६ भारत ७ सत्त्वम् ८ तमः ९ च १० एव ११ रजः १२ सत्त्वम् १३ रजः १४ तथा १५ तमः १६ ।

अर्थ--एक गुण प्रकट रहता है, और दो का तिरोभाव रहता है । यह नियम है, सोई इस मंत्र में कहते हैं । रज और तम को १ । २ । ३ दबाकर ४ सत्त्व ५ प्रकट होता है ६ हे अर्जुन ! ७ सत्त्व ८ और तम को ९ । १० । ११ सि० दबाकर * रजोगुण १२ सि० प्रकट होता है * और सत्त्व-रज को १३ । १४ । १५ सि० दबाकर * तमोगुण १६ सि० प्रकट होता है * ।

तात्पर्य—जिस समय जो गुण प्रकट होगा, उस समय वैसी ही बात प्यारी लगेगी । दूसरे गुण का कार्य उस समय अच्छा नहीं लगेगा । जैसे रजोगुण के आविर्भाव में नाच, तमाशा, स्त्री और शब्दादि प्रिय लगते हैं, निद्रा, आलस्य, शम, दम इत्यादि अच्छे नहीं लगते और सत्त्वगुण के आविर्भाव में स्त्री आदि पदार्थ अच्छे नहीं लगते, सत्य, दया, संतोष आदि अच्छे लगते हैं ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

अन्वय—यदा १ अस्मिन् २ देहे ३ सर्वद्वारेषु ४ प्रकाशः ५ ज्ञानम् ६ उपजायते ७ तदा ८ सत्त्वम् ९ विवृद्धम् १० विद्यात् ११ इति १२ उत १३ ।

अर्थ—शरीर में सत्त्वगुण की अधिकता का लक्षण यह है । जब १ इस देह में २ । ३ सर्व द्वारों में अर्थात् श्रोत्र आदि में ४ प्रकाश ५ ज्ञानात्मक ६ उत्पन्न होता है ७ तब ८ सत्त्वगुण ९ बढ़ा हुआ १० जानो ११ । १२ । १३ ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १२ ॥

अन्वय—कुरुनन्दन १ रजसि २ विवृद्धे ३ एतानि ४ जायन्ते ५ लोभः ६ प्रवृत्तिः ७ आरम्भः ८ कर्मणाम् ९ अशमः १० स्पृहा ११ ।

अर्थ—शरीर में रजोगुण की अधिकता का लक्षण यह है । हे अर्जुन ! १ रजोगुण २ बढ़ने से ३ ये ४ सि० लोभ आदि * उत्पन्न होते हैं ५ ज्यों-ज्यों धन आदि की प्राप्ति होती है त्यों-त्यों अधिक अभिलाष बढ़ता है ६ धन आदि की प्राप्ति के लिये ऐसे तन्मय होकर प्रयत्न करते रहना कि स्वप्न में भी चित्त शान्त न हो अर्थात् मंदिर, उपवन आदि का जो प्रारम्भ कर रक्खा है, वह तो पूरा हुआ नहीं, दूसरा और प्रारम्भ कर दिया ८ कर्मों का ९ अशम अर्थात् यह काम करके वह काम करूँगा १० बुरा-भला

कुछ न स्मरण करना, जैसे बने यही इच्छा रखना कि किसी प्रकार धन आदि प्राप्त हो ११ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अन्वय—कुरुनन्दन १ तमसि २ विवृद्धे ३ एतानि ४ जायन्ते ५ अप्रकाशः ६ अप्रवृत्तिः ७ च ८ प्रमादः ९ मोहः १० एव ११ च १२ ।

अर्थ—शरीर में तमोगुण की अधिकता का लक्षण यह है । हे अर्जुन ! १ तमोगुण बढ़ने पर २ । ३ ये ४ सि० अप्रकाश आदि * उत्पन्न होते हैं ५ अविवेक ६ और इस लोक व परलोक के निमित्त प्रयत्न न करना ७ । ८ सि० और करना तो यह करना कि * धन आदि खेल लेखना ९ और अपनी उलटी समझ से ऐसा काम करना कि उसका न इस लोक में फल हो और न परलोक में, जैसे क्रोध आदि षड्वैरियों की प्रेरणा से अन्य की हानि के लिये यत्न करना, किसी को बुरा कहना इत्यादि १० । ११ । १२ ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

अन्वय—सत्त्वे १ प्रवृद्धे २ तु ३ यदा ४ देहभृत् ५ प्रलयम् ६ याति ७ तदा ८ अमलान् ९ उत्तमविदाम् १० लोकान् ११ प्रतिपद्यते १२ ।

अर्थ—मृत्यु के समय जो गुण बढ़ा होगा, उसका फल अब दो श्लोक में कहते हैं । सत्त्वगुण की वृद्धि के समय १ । २ । ३ जब ४ जीव ५ मृत्यु को ६ प्राप्त होता है ७ तब ८ निर्मल उपासकों के ९ । १० लोकों को ११ प्राप्त होता है १२ ।

तात्पर्य—हिरण्यगर्भ आदि के उपासक जिन निर्मल लोकों को जाते हैं, उसी लोक को वह प्राप्त होता है जिसका अन्तकाल में सत्त्वगुण बढ़ा रहता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

अन्वय--रजसि १ प्रलयम् २ गत्वा ३ कर्मसङ्गिषु ४ जायते ५ तथा ६ तमसि ७ प्रलीनः ८ मूढयोनिषु ९ जायते १० ।

अर्थ--रजोगुण में १ मृत्यु को २ प्राप्त होकर ३ कर्मसंगी मनुष्यों में ४ उत्पत्ति होती है ५ वैसे ही ६ तमोगुण में ७ मरा हुआ ८ पशु-पक्षी इत्यादि मूढ़ योनियों में ९ जन्म लेता है १० ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

अन्वय--सुकृतस्य १ कर्मणः २ निर्मलम् ३ सात्त्विकम् ४ फलम् ५ आहुः ६ रजसः ७ तु ८ फलम् ९ दुःखम् १० तमसः ११ फलम् १२ अज्ञानम् १३ ।

अर्थ--सत्त्वादि गुण इस देह में अपने आप विना यत्न जिस हेतु वर्तते हैं उसका कारण यह है। सत्त्वगुणी कर्म का १ । २ सि० जिसका लक्षण अठारहवें अध्याय में कहेंगे, अर्थात् पिछले जन्म में जो सत्त्वगुणी कर्म किए हैं उन शुभ कर्मों का * निर्मल ३ सत्त्वगुणी ४ फल ५ कहते हैं ६ और रजोगुण का फल ७ । ८ । ९ दुःख १० सि० है * तमोगुण का फल ११ । १२ अज्ञान १३ सि० है *

तात्पर्य--कोई प्रयत्न करके सत्त्वगुण को बढ़ाते हैं, किसी के स्वाभाविक शम, दम आदि देखने में आते हैं, सो पिछले सत्त्वगुणी कर्म का फल समझना चाहिए। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण की भी व्यवस्था है ॥१६॥

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

अन्वय--सत्त्वात् १ ज्ञानम् २ सञ्जायते ३ रजसः ४ लोभः ५ एव ६ च ७ प्रमादमोहौ ८ तमसः ९ भवतः १० अज्ञानम् ११ एव १२ च १३ ।

अर्थ--सत्त्वगुण से १ ज्ञान २ उत्पन्न होता है ३ रजोगुण से ४ लोभ ५ उत्पन्न होता है ६ । ७ प्रमाद मोह ८ तमोगुण

से ६ सि० उत्पन्न * होते हैं १० और अज्ञान भी ११ । १२ । १३ सि० तमोगुण से उत्पन्न होता है *

तात्पर्य--ज्ञान, लोभ, अज्ञान, प्रमाद, मोह ये उपलक्षण हैं, ज्ञान आदि के कहने से सत्त्वादि तीनों गुणों का समस्त कार्य समझ लेना चाहिए ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

अन्वय--सत्त्वस्थाः १ ऊर्ध्वम् २ गच्छन्ति ३ राजसाः ४ मध्ये ५ तिष्ठन्ति ६ जघन्यगुणवृत्तिस्थाः ७ तामसाः ८ अधः ९ गच्छन्ति १० ।

अर्थ--मृत्यु के पीछे सत्त्वादि गुणों की तारतम्यता के लेखे से फल होता है, यह इस मंत्र में कहते हैं । सत्त्वगुणी १ ऊपर के लोकों को २ प्राप्त होते हैं ३ रजोगुणी ४ मध्य में ५ स्थित रहते हैं ६ निकृष्ट गुण में वर्तनेवाले ७ तमोगुणी ८ अधः अर्थात् नीचे को ९ प्राप्त होते हैं १० सि० इस जगह तारतम्यता का जो विचार है वह आनंदामृतवर्षिणी के पंचम अध्याय में लिखा है * ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

अन्वय--यदा १ द्रष्टा २ गुणेभ्यः ३ अन्यम् ४ कर्तारम् ५ न ६ अनुपश्यति ७ गुणेभ्यः ८ च ९ परम् १० वेत्ति ११ सः १२ मद्भावम् १३ अधिगच्छति १४ ।

अर्थ--गुणों के सम्बन्ध में संसार है; यह बात पीछे कह चुके हैं । अब यह कहते हैं कि विवेकी गुणों से पृथक् है । जिस काल में १ विवेकी २ गुणों से ३ पृथक् ४ कर्ता को ५ नहीं ६ देखता है अर्थात् गुण ही कर्ता है आत्मा साक्षी-मात्र है ७ सि० जो * गुणों से ८ । ९ परे १० सि० आत्मा को * जानता है ११ वह १२ मेरे भाव को १३ प्राप्त होता है अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप को प्राप्त होता है १३ । १४ ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अन्वय—देही १ समुद्भवान् २ एतान् ३ त्रीन् ४ गुणान् ५ अतीत्य ६ जन्ममृत्युजरादुःखैः ७ विमुक्तः ८ अमृतम् ९ अश्नुते १० ।

अर्थ—जीव १ देहाकार को प्राप्त हो २ इन ३ तीन ४ गुणों को ५ उल्लंघ कर ६ जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि से ७ छूटा हुआ ८ नित्यानंद-स्वरूप को ९ प्राप्त होता है १० ।

तात्पर्य—यही तीनों गुण देहाकार हो रहे हैं । इनके साथ ममता, संग और अध्यास छोड़ देना ही इनका उल्लंघन करना है, और जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि इनके ही संबंध से होते हैं । इनके संबंध में अपने शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप को भूल जाता है । इनके त्याग में प्रयत्न है, परमानन्द की प्राप्ति में कुछ यत्न नहीं ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच । प्रभो १ कैः २ लिङ्गैः ३ एतान् ४ त्रीन् ५ गुणान् ६ अतीतः ७ भवति ८ किमाचारः ९ कथम् १० च ११ एतान् १२ त्रीन् १३ गुणान् १४ अतिवर्तते १५ ।

अर्थ—अर्जुन प्रश्न करता है कि हे समर्थ ! १ किन चिह्नों से २ । ३ इन तीन गुणों से ४ । ५ अतीत होता है सि० यह लक्षण प्रश्न है * अर्थात् कैसे प्रतीत हो कि अमुक गुणातीत है, वा मैं गुणातीत हूँ । वे कौन-से लक्षण हैं । और ६ । ७ । ८ क्या आचार है उसका अर्थात् उसका व्यवहार, चाल चलन, कैसा होता है ९ सि० यह आचार प्रश्न है * और किस प्रकार १० । ११ इन तीन गुणों का १२ । १३ । १४ उल्लंघन करता है १५ सि० यह उपाय प्रश्न है * अर्थात् वह क्या साधन है, जिससे पुरुष गुणातीत हो जावे ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेवेति पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच । प्रकाशम् १ च २ प्रवृत्तिम् ३ च ४ मोहम् ५ एव ६ इति ७ पाण्डव ८ संप्रवृत्तानि ९ न १० द्वेष्टि ११ निवृत्तानि १२ न १३ काङ्क्षति १४ ।

अर्थ—द्वितीय अध्याय में भी अर्जुन ने यही प्रश्न किया था, और श्रीमहाराज ने उसका उत्तर अन्य रीति से दिया था । अब श्रीमहाराज ने यह जाना कि उस रीति से अर्जुन की समझ में नहीं आया, इसलिये अन्य रीति से कहना चाहिए, इस वास्ते इस बात को संक्षेप में अन्य रीति से कहते हैं, जिससे शीघ्र समझ में आ जावे । ऐसे करुणाकर को छोड़ जो अन्य उपाय से मोक्ष चाहते हैं; उनके अन्तःकरण में रजोगुणी, तमोगुणी वृत्ति बढ़ी हुई है । प्रकाश १ और प्रवृत्ति २ । ३ और मोह ४ । ५ । ६ । ७ सि० ये तीन, तीनों गुणों के कार्य हैं । ये तीनों उपलक्षण हैं, अर्थ से सत्त्वादि गुणों का जितना कार्य है, सब समझ लेना । जो ये अपने आप * हे अर्जुन ! ८ भले प्रकार वर्तते रहे हों ९ सि० तो इनसे * न १० वैर करता है अर्थात् इनकी प्रवृत्ति निवृत्ति का कुछ उपाय नहीं करता है ११ सि० और फिर जब अपने आप दूर हो जाते हैं तब * निवृत्तों की १२ नहीं १३ चाह करता है १४ सि० यह लक्षण प्रश्न का उत्तर है *

तात्पर्य—ब्रह्म-ज्ञानी न किसी गुण में प्रीति करता है, न वैर करता है । सत्त्वगुण में जिज्ञासु की प्रीति और रजोगुण, तमोगुण में द्वेष होता है । यह लक्षण स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं, अर्थात् ऐसे महात्मा को दूसरा नहीं पहिचान सकता, क्योंकि वे आप अपने को छिपाए रखते हैं ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो यो गुणैर्न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

अन्वय—यः १ उदासीनवत् २ आसीनः ३ गुणैः ४ न वि-

चाल्यते ५ । ६ गुणाः ७ वर्त्तन्ते ८ इति ९ एवम् १० यः ११ अवतिष्ठति १२ न १३ इङ्गते १४ ।

अर्थ--गुणातीत का क्या आचार है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। यह लक्षण ज्ञानी का परसंवेद्य भी है। जो १ उदासीन-वत् २ स्थित ३ गुणों से ४ नहीं ५ विचलता है ६ गुण वर्त रहे हैं ७। ८ यह ९ सि० समझता है कि मेरा गुणों से क्या संबंध है * इस प्रकार १० जो ११ स्थित १२ सि० अपने स्वरूप में * नहीं १३ विचलता है १४ सि० उसको गुणातीत कहते हैं * ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

अन्वय--समदुःखसुखः १ स्वस्थः २ समलोष्टाश्मकाञ्चनः ३ तुल्यप्रियाप्रियः ४ धीरः ५ तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ६ ।

अर्थ--सुख दुःख में सम अर्थात् सुख दुःख का प्रतीत होना, यह अंतःकरण का धर्म है, यावत् अंतःकरण है, तावत् निःसन्देह धर्मी को अपना धर्म प्रतीत होगा । जिस धर्म से वह धर्मी कहा जाता है, जो वह धर्म न वर्ते तो फिर उसको उस धर्मवाला क्यों कहेंगे। दुःख सुख ज्ञानी को अवश्य प्रतीत होता है समता का यह अर्थ नहीं कि यह दुःख सुख प्रतीत न हो। तात्पर्य यह है कि दुःखसुख परमानंद-स्वरूप आत्मा को कम वा ज़्यादा नहीं कर सकते १ अपने स्वरूप में स्थित २ सम है लोहा, पत्थर, सोना जिसको ३ सम है प्रिय और अप्रिय जिसको ४ धैर्यवाला ५ सम है अपनी निन्दा और स्तुति जिसको ६ सि० उसको गुणातीत कहते हैं *

तात्पर्य--जो आत्मा की निन्दा करता है वह अपनी पहिले करता है, और जो शरीरों की करता है वह सहायता करता है, क्योंकि वह अव-गुणों की निंदा करता है। इसहेतु उसको सहायक जानना योग्य है, क्योंकि अवगुणों को सब बुरा कहते हैं। इसके सिवाय अवगुण कहने से दूर हो जाता है, इस बात को इतिहास से स्पष्ट करते हैं[1] ॥ २४ ॥

१ इतिहास--एक राजा ने बहुत ब्राह्मणों को एक दिन जिमाया, भोजन करने के पीछे

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

अन्वय—मानापमानयोः १ तुल्यः २ मित्रारिपक्षयोः ३ तुल्यः ४ सर्वारम्भपरित्यागी ५ सः ६ गुणातीतः ७ उच्यते ८।

अर्थ—मान और अपमान में १ सम २ मित्र के पक्ष में और अरि के पक्ष में सम ३। ४ सब शुभ और अशुभ कर्मों के आरंभ का त्यागी ५ सो ६ गुणातीत ७ कहलाता है ८।

तात्पर्य—जीवन्मुक्त ज्ञानी को गुणातीत कहते हैं। सम होने से शान्ति होती है, और शान्ति सुख का कारण है ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

अन्वय—यः १ च २ माम् ३ अव्यभिचारेण ४ भक्तियोगेन ५ सेवते ६ सः ७ एतान् ८ गुणान् ९ समतीत्य १० ब्रह्मभूयाय ११ कल्पते १२।

वे सब ब्राह्मण मर गये। मर जाने का कारण यह हुआ कि मैदान में खीर हो रही थी, आकाश में चील सर्प को लिए जाती थी, सर्प के मुख से विष टपक कर खीर में जा पड़ा, उसे किसी ने नहीं देखा। नगर में यह चर्चा हुई कि राजा ने ब्राह्मणों को विष दे दिया। बहुत लोगों का इसमें सम्मत न हुआ, तब एक दुष्ट ने यह बारीकी निकाली कि राजा अमुक ब्राह्मण की स्त्री से प्रीति रखता है अकेले उस ब्राह्मण को मरवाना राजा ने योग्य न समझा, इसलिये बहुतों के साथ उसको भी न्यौतकर विष दे दिया। इस बात पर बहुत लोगों को विश्वास हो गया और जगह-जगह यही चर्चा होने लगी। राजा विचारा अकृतदोष इस निन्दा के मारे नगर को छोड़ वन में चला गया। वन में आकाशवाणी हुई कि हे राजन्! तेरा कुछ दोष नहीं है। यह व्यवस्था ऐसी है, चील और सर्प की सब कथा सुनाई। इस कथा को उन निंदक दुष्टों ने भी सुना। वह हत्या राजा को छोड़ परमेश्वर के पास पहुँचकर उसने परमेश्वर से कहा कि मुझको अब जगह बतलाइए। प्रभु ने कहा कि जिन्होंने राजा को दोष लगाया, और कहा-सुना, तुझको वहां रहना चाहिए। इसमें न राजा का दोष है, न चील का, न सर्प का, और न रसोइयों का। राजा इसमें निमित्त था, सो उसको फल हो गया। राजा अपने घर आया और हत्या निन्दकों के मुख पर पहुँची। उस दिन से हत्या निन्दकों के मुखपर, और जो किसी की बुराई मन लगाकर सुनते हैं, उनके मुख पर वास करती है। प्रत्यक्ष देख लो कि जब कोई किसी की निन्दा करता या सुनता है दोनों की सूरत हत्यारों की-सी होती है।

अर्थ—गुणातीत होने का उपाय श्रीमहाराज कहते हैं, जो १।२ मेरा ३ अव्यभिचारी भक्ति-योग से सेवन करता है अर्थात् परमेश्वर की ऐसी उपासना करे कि वह दिन-प्रति-दिन बढ़ती रहे, कम न होने पावे, कोई अन्य काम बीच में न हो, उसी को अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं ४।५।६ वह ७ इन गुणों का ८।६ उल्लंघन करके १० ब्रह्मभाव को ११ प्राप्त होता है १२।

तात्पर्य—परमानन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति का जैसा उपाय भक्ति है, और विशेष इस समय ऐसा अन्य उपाय शीघ्र प्रत्यक्ष जीते-जी फल का देनेवाला नहीं है। यह श्रीव्रजचन्द्र महाराज का अवतार इसी समय के लोगों का उद्धार करने के लिये हुआ है। जैसे इस समय के पाप बलवान् हैं, ऐसा ही श्रीभगवान का यह अवतार इन पापों का नाश करने में समर्थ है ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

अन्वय—अव्ययस्य १ अमृतस्य २ ब्रह्मणः ३ हि ४ अहम् ५ प्रतिष्ठा ६ च ७ शाश्वतस्य ८ च ९ धर्मस्य १० च ११ ऐकान्तिकस्य १२ सुखस्य १३ ।

अर्थ—निर्विकार १ अविनाशी २ ब्रह्म की ३ ही ४ मैं ५ मूर्ति ६।७ हूँ और सनातन धर्म की ८।९।१० भी ११ अखंड सुख की १२।१३ सि० भी मैं मूर्ति हूँ ॥

तात्पर्य—जो निराकार ब्रह्म को, धर्म को, और परमानन्द को नहीं जानते हैं, किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र महाराज की दिन-रात उपासना करते हैं, वे ब्रह्म को अवश्य प्राप्त होते हैं। गुणातीत होने का उपाय अर्जुन ने जो पूछा था उसका यह उत्तर दो श्लोकों में दिया, अर्थात् श्रीव्रजचन्द्र की भक्ति करना ही गुणातीत होने का उपाय है। जब तक निराकार निर्गुण परमानन्द-स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार न हो तब तक साकार मूर्ति का आश्रय रखना चाहिए ॥ २७ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः १५

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच । ऊर्ध्वमूलम् १ अधःशाखम् २ अश्वत्थम् ३ अव्ययम् ४ प्राहुः ५ यस्य ६ छन्दांसि ७ पर्णानि ८ यः ९ तम् १० वेद ११ सः १२ वेदवित् १३ ।

अर्थ—वैराग्य विना ज्ञान नहीं होता; इस वास्ते संसार को वृक्षवत् वर्णन करते हैं । मायोपहित ब्रह्म जड़ है जिसकी १ सि० क्योंकि मायोपहित से अन्य पदार्थ संसार में ऊर्ध्व (ऊँचा) बड़ा नहीं और शुद्ध ब्रह्म तो संसार से पृथक् है, वह मन, वाणी का विषय नहीं * हिरण्यगर्भ आदि शाखा हैं जिसकी २ सि० क्योंकि हिरण्यगर्भ आदि मायोपहित ब्रह्म से पीछे हैं । संसार को * अश्वत्थ ३ अव्यय ४ कहते हैं सि० विना ज्ञान इसका नाश नहीं होता, इस वास्ते इसको अव्यय कहते हैं, और भगवत् की कृपा से जो ज्ञान हो जावे तो यह ऐसा भी नहीं कि कल तक ठहरा रहे । अश्वत्थ में अकार का अर्थ नकार है 'श्व' इस शब्द का अर्थ कल का वाचक है, जो कल तक न ठहरे, उसको अश्वत्थ कहते हैं । अश्वत्थ का अर्थ इस जगह पीपल नहीं समझना, और यह भी नहीं समझना कि इसकी जड़ ऊपर को है और शाखा नीचे हैं । जो ऊपर लिखा है वही अर्थ समझना चाहिए * जिसके ६ वेद ७ पत्र ८ सि० हैं, क्योंकि वृक्ष की शोभा पत्रों से ही होती है, और पत्रों को ही देख वृक्ष में राग उत्पन्न होता है । वेदोक्त कर्मों के फल को सुनकर संसार में राग बढ़ता जाता है । वेदों का तात्पर्य समझ में नहीं आता । रोचक वाक्यों का सिद्धान्त समझ बैठे हैं * जो ९ उसको १० जानता है ११ वह १२ वेद का जाननेवाला है १३ ।

तात्पर्य—जो वेदमार्ग को एक साधन समझता है, और उसका फल परमानंद-स्वरूप आत्मा को जानता है, सो वेद का अर्थ जानता है द्वितीय अध्याय

में श्रीभगवान् कह चुके हैं कि वेद अज्ञानियों के वास्ते हैं, जो सत्त्वादि गुणों में मोह को प्राप्त हो रहे हैं ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अन्वय—तस्य १ शाखाः २ अधः ३ च ४ ऊर्ध्वम् ५ प्रसृताः ६ गुणप्रवृद्धाः ७ विषयप्रवालाः ८ अधः ९ च १० मनुष्यलोके ११ कर्मानुबन्धीनि १२ मूलानि १३ अनुसन्ततानि १४ ।

अर्थ—उस संसारवृक्ष की १ शाखा २ नीचे ३ और ऊपर ४।५ फैल रही हैं ६ सत्त्वादि गुणों से बढ़ी हुई हैं ७ इस लोक वा परलोक के विषय उस वृक्ष के पत्ते हैं ८ और नीचे ९। १० सि० भी * मनुष्य लोक में ११ कर्मों के फल राग-द्वेष आदि १२ उसकी जड़ें १३ फैल रही हैं १४ अर्थात् बहुत दृढ़ हो रही हैं। जैसे रज्जु से गठरी को पेंच-पर-पेंच देकर बाँधते हैं, वैसे ही संसार की जड़ें मनुष्य-लोक में नीचे ऊपर अनुस्यूत ओत-प्रोत हो रही हैं।

तात्पर्य—कर्म करने का अधिकार मनुष्य-लोक में ही है और कर्मों का अनुबन्धन अर्थात् भावी राग-द्वेष आदि कर्मों का फल, यह भी संसार की जड़ है। वास्तव में संसार की जड़ मायोपहित ब्रह्म है, इसहेतु उसको ऊर्ध्व जड़ कहा है। मनुष्य-लोक में कर्म इसकी जड़ है, मायोपहित ब्रह्म की अपेक्षा में मर्त्यलोक नीचा है, इस वास्ते इस जगह कहा कि इसके नीचे मनुष्य-लोक में कर्मकांड जड़ है। ब्रह्म-लोक वैकुंठ आदि और मायोपहित ब्रह्म सूक्ष्म उपाधि से उपहित, हिरण्यगर्भ स्थूल उपाधि से उपहित, विराट् और उसके अन्तर्गत ब्रह्मा आदि देवता, यह तो ऊपर को संसार की शाखाएँ फैल रही हैं, और मर्त्य-लोक में पशु, पक्षी मनुष्य आदि, और यज्ञ आदि कर्म यह नीचे संसार की शाखा फैल रही हैं। जैसे-जैसे सत्त्वादि गुणों में प्रीति करते हैं, वैसे वैसे ही शाखा में से शाखा बढ़ती चली जाती है, इसी से परलोक सावयव लोकों का कुछ पता नहीं लगता कि चौदह लोक हैं या वैकुंठ आदि कितने लोक हैं। और एक-एक देवता की उपासना में अनेक-अनेक भेद हैं, और अब तक अनेक भेद-शाखा निकलती चली जाती हैं। नीचे

मनुष्यों का जो व्यवहार है, इसका कुछ प्रमाण नहीं, न जाति का प्रमाण, न कुल के व्यवहारों का प्रमाण है। संसार-वृक्ष में शब्दआदि विषय कोमल सुन्दर पत्र लग रहे हैं, देवता, मनुष्य, पशुआदि सब प्राणियों ने विषयों का आश्रय ले रक्खा है। कोई साक्षात् भोगते हैं और कोई उनके लिये वेदोक्त कर्म कर रहे हैं। इस संसार की व्यवस्था इस जगह बहुत संक्षेप में लिखी गई है, वैराग्यवान् पुरुषों से, और योगवाशिष्ठआदि ग्रन्थों से इसकी व्यवस्था श्रवण करना चाहिए कि यह कैसे अनर्थों का मूल है ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

अन्वय—इह १ अस्य २ रूपम् ३ तथा ४ न ५ उपलभ्यते ६ न ७ अन्तः ८ न च ९ आदिः १० च ११ न १२ संप्रतिष्ठा १३ सुविरूढमूलम् १४ एनम् १५ अश्वत्थम् १६ दृढेन १७ असङ्गशस्त्रेण १८ छित्त्वा १९ ।

अर्थ—संसार में १ सि० जैसा * इस संसार का २ रूप ३ सि० वर्णन करते हैं * वैसा ४ सि० निःसन्देह * नहीं ५ प्रतीत होता है ६ सि० इसका * न ७ अन्त ८ और न आदि ९।१०।११ न १२ स्थित १३ सि० इसकी प्रतीति होती है कि यह कैसे उत्पन्न हुआ, कैसे लीन होगा, कैसे ठहर रहा है। क्षणभंगुर स्वप्नवत् या इन्द्रजालवत् इसके पदार्थ प्रतीत होते हैं। अनर्थों का मूल और दुःखों का स्थान है। जो पदार्थ नरक का कारण उसके विना निर्वाह नहीं होता, उसका अशेष त्याग करना असम्भव है। इस प्रकार * बँधी हुई हैं भले प्रकार जड़ें जिसकी १४ इस १५ अश्वत्थ को १६ दृढ़ असंगशस्त्र से १७।१८ छेदन करके १९ सि० परम पद परमानन्द-स्वरूप आत्मा को ढूँढ़ना चाहिए। अगले मंत्र के साथ इस मंत्र का संबंध है *।

तात्पर्य—इस संसार की व्यवस्था सब मतवाले जुदी-जुदी कहते हैं। अपने मत को सब बड़ा कहते हैं, और दूसरे को बुरा कहते हैं। कोई निःसन्देह समन्वय नहीं करता कि वास्तव में संसार की यह व्यवस्था है, और अमुक-अमुक जो यह कहते हैं, उनका तात्पर्य यह है। मुमुक्षु को कैसे निश्चय हो

कि अमुक मत सच्चा है । जो निर्णय करो, तो एक घट का निर्णय नहीं हो सकता, एक घट की चर्चा में समस्त अवस्था समाप्त हो जावे । परन्तु घट का निर्णय न हो, न्याय-शास्त्रवाले तर्क के बल से कुछ का कुछ सिद्ध कर दें, यह तो विद्या की व्यवस्था है, एक मत नहीं कि जिस पर निश्चय बना रहे । सारांश यह कि संसार सब प्रकार दुःख-रूप है, इसका कभी निर्णय न करे । इसके दूर होने का यत्न करे, कभी इसमें प्रीति न करे । सदा संसार से ग्लानि बनी रहे, तब परमानन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

अन्वय—ततः १ तत् २ पदम् ३ परिमार्गितव्यम् ४ यस्मिन् ५ गताः ६ भूयः ७ न ८ निवर्तन्ति ९ तम् १० एव ११ च १२ आद्यम् १३ पुरुषम् १४ प्रपद्ये १५ यतः १६ पुराणी १७ प्रवृत्तिः १८ प्रसृता १९ ।

अर्थ—सि० असंग शस्त्र से संसार का छेद न करके * पीछे १ वह २ पद ३ ढूँढ़ना योग्य है ४ जिसमें ५ प्राप्त होकर ६ फिर ७ न ८ लौटना पड़े ९ सि० उसके ढूँढ़ने का मार्ग भक्ति है * उस ही १० । ११ । १२ आदिपुरुष की १३ । १४ मैं शरण हूँ १५ सि० कि * जिससे १६ अनादि १७ प्रवृत्ति १८ फैली है १९ ।

तात्पर्य—संसार के नीचे ऊपर किसी पदार्थ में प्रीति न करे । वैराग्य के पीछे वह पद ढूँढ़े कि जहाँ जाकर फिर जन्म लेना न पड़े । उस पद की प्राप्ति का यत्न यह है कि परमात्मा का जो तटस्थ लक्षण है, उस लक्षण से उसको लक्ष्य करके उसकी भक्ति करना चाहिए । भक्ति का स्वरूप यह है कि जिस परमात्मा से यह अनादि अनिर्वाच्य संसार-वृक्ष नीचे ऊपर फैला है, वही आदिपुरुष मेरा आश्रय है । मैं उसकी शरण हूँ वही मेरी रक्षा करने-वाला है । वह अन्तर्यामी सबके हृदय में विराजमान समर्थ है । मुझको इस संसार-वन से वही पार लगावेगा, ऐसा चिंतन सदा बना रहे, इसी को भक्ति कहते हैं ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

अन्वय—निर्मानमोहाः १ जितसङ्गदोषाः २ अध्यात्मनित्याः ३ विनिवृत्तकामाः ४ सुखदुःखसंज्ञैः ५ द्वन्द्वैः ६ विमुक्ताः ७ अमूढाः ८ तत् ९ अव्ययम् १० पदम् ११ गच्छन्ति १२ ।

अर्थ—और भी आत्मा की प्राप्ति के साधन कहते हैं । दूर हो गए हैं मान मोह जिनके १ जीता है संग का दोष जिन्होंने २ वेदांतशास्त्र के श्रवण मनन विचार में नित्य लगे रहते हैं ३ समस्त कामनाएँ (इस लोक वा परलोक की) जाती रही हैं जिनकी ४ सुखदुःख यह है नाम जिनका ५ मि० इत्यादि * द्वंद्व से ६ छूटे हुए ७ ज्ञानी आत्म-तत्त्व के जाननेवाले ८ उस ९ निर्विकार १० पद को ११ प्राप्त होते हैं १२ मि० जिस पद के विशेषण अगले मंत्र में हैं * ।

तात्पर्य—मुमुक्षु को चाहिए कि प्रवृत्ति-मार्गवालों का संग न करे, और जिन ग्रन्थों में प्रवृत्ति मार्ग का विशेष निरूपण है, उनका कभी श्रवण न करे । जिस पदार्थ को जिह्वा से कहेगा, कानों से सुनेगा, उसके गुण संस्कार अवश्य अंतःकरण में प्रविष्ट होंगे । प्रवृत्ति-शास्त्र में स्त्री, पुत्र, राज्य, संयोग, वियोग आदि पदार्थों का वर्णन विशेष है, इस हेतु मुमुक्षु के लिये उसका कहना सुनना निषिद्ध है । ब्रह्म-विद्या में केवल वैराग्य, उपरति, शान्ति, शम, दम इत्यादि साधनों का निरूपण है । स्त्री आदि पदार्थों का संबंध ऐसा अनर्थ नहीं करता, जैसा उनके गुण जो वर्णन करता है, उसका संग अनर्थ करता है ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अन्वय—तत् १ सूर्यः २ न ३ भासयते ४ न ५ शशाङ्कः ६ न ७ पावकः ८ यत् ९ गत्वा १० न ११ निवर्तन्ते १२ तत् १३ मम १४ परमम् १५ धाम १६ ।

अर्थ—पूर्वोक्त पद के विशेषण कहते हैं । जिसको १ सूर्य २ नहीं ३ प्रकाशित कर सकता है ४ न ५ चंद्रमा ६ न ७ अग्नि ८

सि० और * जिसको ६ प्राप्त होकर १० नहीं ११ लौटकर आते हैं १२ सि० जन्म मरण में * वह १३ मेरा १४ परम धाम १५।१३ सि० है *।

तात्पर्य—सूर्यआदि जड़ पदार्थ अज्ञान का कार्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा को कैसे प्रकाशित कर सकते हैं। आत्मा को ही परमपद परमधाम कहते हैं। तैजस सावयव स्थानों को जिनके वैकुंठ आदि नाम हैं उनको इस जगह धाम नहीं समझना, क्योंकि वहाँ सूर्यआदि सब प्रकाश कर सकते हैं। जैसे सूर्यआदि तेज का कार्य हैं, वैसे ही वे लोक हैं। प्रभु से ही वे लोक हैं, यह बात आठवें अध्याय में स्पष्ट कह चुके हैं॥ ६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

अन्वय—जीवलोके १ सनातनः २ जीवभूतः ३ मम ४ एव ५ अंशः ६ प्रकृतिस्थानि ७ इन्द्रियाणि ८ कर्षति ९ मनः-षष्ठानि १०।

अर्थ—संसार में १ अनादि २ जीव ३ मेरा ४ ही ५ सि० घटाकाश अंशवत् * अंश ६ सि० है, महाकाश का अंश घटाकाश और पर्वतवत् चिद्घन का अंश चित्कण की तरह जीव को न समझना चाहिए, क्योंकि परमात्मा निरवयव आकाशवत् है; सावयव पर्वतवत् नहीं। जैसे पर्वत का अंश पत्थर का टुकड़ा होता है, जीव ऐसा अंश नहीं है। आकाश का दृष्टान्त या बिंब-प्रतिबिंब का दृष्टान्त समझना चाहिए। वह जीव सुषुप्ति-काल और प्रलय-काल में * प्रकृति में स्थित रहता है ७ इन्द्रियों को ८ खींचता है ९ सि० कैसी हैं वे इन्द्रियाँ * मन है छठा जिनमें १० अर्थात् पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय पंच प्राण, अंतःकरण चतुष्टय ये सब कारण अविद्या में सूक्ष्म अविद्या-रूप होकर रहते हैं, सुषुप्ति-प्रलय में से इन सबको वही अवि-द्योपहित चिदाभास (जीव) स्थूल सूक्ष्म भोगों के लिये अपने साथ ले लेता है॥ ७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

अन्वय—ईश्वरः १ यत् २ शरीरम् ३ अवाप्नोति ४ यत् ५ च ६ अपि ७ उत्क्रामति ८ एतानि ९ गृहीत्वा १० संयाति ११ वायुः १२ गन्धान् १३ आशयात् १४ इव १५।

अर्थ—देह का स्वामी जीव १ जिस काल में २ देह को ३ प्राप्त होता है ४ और जिस काल में ५। ६। ७ एक देह से दूसरे देह में जाता है ८ सि० उस काल में * इनको ९ ग्रहण करके १० प्राप्त होता है ११ सि० दूसरे देह में। दृष्टान्त कहते हैं * वायु १२ गंध को १३ पुष्पआदि में १४ जैसे १५ सि० ले जाता है * अर्थात् इन्द्रिय आदि को साथ लेकर जाता है ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

अन्वय—श्रोत्रम् १ चक्षुः २ स्पर्शनम् ३ च ४ रसनम् ५ घ्राणम् ६ एव ७ च ८ मनः ९ च १० अयम् ११ अधिष्ठाय १२ विषयान् १३ उपसेवते १४।

अर्थ—श्रोत्र १ चक्षु २ त्वक् ३ और ४ रसना ५ और नासिका ६। ७। ८ और मन का ९। १० यह ११ सि० जीव * आश्रय करके १२ विषयों को १३ भोगता है १४।

तात्पर्य—बुद्धि में जो चैतन्य का प्रतिबिंब, सो भोक्ता जीव, मन में जो उसी चैतन्य का प्रतिबिंब सो अंतःकरण, इन्द्रियों में जो चैतन्य का प्रतिबिंब सो बहिष्करण, शब्द आदि विषयों में जो चैतन्य का प्रतिबिंब सो कर्म है। कर्त्ता को प्रमाता-चैतन्य और कर्म को प्रमेय-चैतन्य कहते हैं। प्रमाता और प्रमेय, ये दोनों चैतन्य जब एक होते हैं तो उसको प्रत्यक्ष भोग कहते हैं ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

अन्वय—विमूढाः १ उत्क्रामन्तम् २ स्थितम् ३ वा ४ अपि ५ भुञ्जानम् ६ वा ७ गुणान्वितम् ८ न ९ अनुपश्यन्ति १० ज्ञानचक्षुषः ११ पश्यन्ति १२।

अर्थ—जीव का यथार्थ स्वरूप ज्ञानी ही जानते हैं, बहिर्मुख विषयी नहीं जानते, यह कहते हैं। बहिर्मुख १ सि० जीव को * एक देह से दूसरे देह में जाते हुए को २ और देह में स्थित हुए को ३। ४ भी ५ और भोगते हुए को ६ और इंद्रिय आदि के साथ संयुक्त हुए को ७। ८ नहीं ९ देखते हैं १० ज्ञाननेत्रवाले ११ देखते हैं १२।

तात्पर्य—अविवेकी यह भी नहीं जानते कि जीव किस प्रकार विषयों को भोगता है, अकेला ही भोगता है या इन्द्रिय आदि के संबंध से भोगता है। यह शरीर में कैसे स्थित है। शरीर आदि इसका आश्रय है या आत्मा देह आदि का आश्रय है या कुछ अन्य प्रकार है। यह कैसे इस देह में से छूटकर दूसरे देह में जाता है॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११ ॥

अन्वय—यतन्तः १ योगिनः २ च ३ एनम् ४ आत्मनि ५ अवस्थितम् ६ पश्यन्ति ७ अचेतसः ८ अकृतात्मानः ९ यतन्तः १० अपि ११ एनम् १२ न १३ पश्यन्ति १४।

अर्थ—यह नहीं समझना कि आत्मा को तो सब ही जानते हैं, ऐसा कौन है कि जो अपने को न जाने। अपना जानना, यही ज्ञान की अवधि है। सब प्राणी आत्मा को क्या जानेंगे, जिसको विद्यावान्, वेदोक्त अनुष्ठान करनेवाले भी नहीं जानते। ज्ञान-योग में यत्न करनेवाले १ योगी २। ३ आत्मा को ४ देह में ५ स्थित ६ सि० और देह से विलक्षण * देखते हैं ७ मन्द-मति ८ मलिन अंतःकरणवाले ९ यत्न करते हुए १० भी ११ आत्मा को १२ नहीं १३ देखते १४।

तात्पर्य—वैदिक-मार्गवाले भी कोई-कोई जो आत्मा को नहीं जानते, उसका हेतु यह है कि वे वेदान्त में श्रद्धा नहीं करते। जीव को परिच्छिन्न समझते हैं। और एक यह बड़ा आश्चर्य है कि वेद की दृष्टि से अदृष्ट सूतक आदि उनको लग जावे, और आत्मा में यह निश्चय न हो कि मैं ब्रह्म हूँ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

अन्वय—आदित्यगतम् १ यत् २ तेजः ३ अखिलम् ४ जगत् ५ भासयते ६ यत् ७ चन्द्रमसि ८ यत् ९ च १० अग्नौ ११ तत् १२ तेजः १३ मामकम् १४ विद्धि १५।

अर्थ—सूर्य में १ जो २ तेज ३ समस्त ४ जगत् को ५ प्रकाशित करता है ६ जो ७ चन्द्रमा में ८ और जो ९ । १० सि० तेज * अग्नि में ११ सो १२ तेज १३ मेरा ही १४ जानो १५ ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

अन्वय—गाम् १ आविश्य २ च ३ भूतानि ४ धारयामि ५ अहम् ६ ओजसा ७ रसात्मकः ८ च ९ सोमः १० भूत्वा ११ सर्वाः १२ ओषधीः १३ पुष्णामि १४ ।

अर्थ—पृथिवी में १ प्रवेश करके २ । ३ भूतों को ४ धारण करता हूँ ५ मैं ६ बल से ७ और रसवाला ८ । ९ चन्द्र १० होकर ११ सब ओषधियों को १२ । १३ पुष्ट करता हूँ १४ ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अन्वय—प्राणिनाम् १ देहम् २ आश्रितः ३ अहम् ४ वैश्वानरः ५ भूत्वा ६ प्राणापानसमायुक्तः ७ चतुर्विधम् ८ अन्नम् ९ पचामि १० ।

अर्थ—जीवों के १ शरीर में २ स्थित हुआ ३ मैं ४ जठराग्नि ५ होकर ६ प्राण अपान आदि के साथ मिलकर ७ चार प्रकार[१] के ८ अन्न को ९ पचाता हूँ १० ।

तात्पर्य—सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी इत्यादि पदार्थों में जो-जो गुण हैं, वे सब चैतन्य देव की सत्ता है । वे सब जड़ हैं, चैतन्य सबका प्रेरक है ॥१४॥

---

१ पूरी आदि को भक्ष्य, खीर आदि को भोज्य, चटनी आदि को लेह्य, पौंडे आदि को चोष्य कहते हैं ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

अन्वय—सर्वस्य १ हृदि २ अहम् ३ सन्निविष्टः ४ मत्तः ५ च ६ स्मृतिः ७ ज्ञानम् ८ अपोहनम् ९ च १० सर्वैः ११ वेदैः १२ च १३ अहम् १४ एव १५ वेद्यः १६ वेदान्तकृत १७ च १८ वेदवित् १९ एव २० अहम् २१ ।

अर्थ—सबकी १ बुद्धि में २ मैं ३ प्रविष्ट हूँ ४ और मुझसे ५ । ६ स्मृति ७ ज्ञान ८ सि० और इन दोनों का * भूल जाना ९ भी १० सि० होता है * और सब वेदों से ११ । १२ । १३ मैं १४ ही १५ जानने योग्य सि० हूँ * अर्थात् सब वेद मेरा ही प्रतिपादन करते हैं १६ वेदान्त करनेवाला १७ और वेदों का जाननेवाला भी १८ । १९ । २० मैं २१ सि० ही हूँ *

तात्पर्य—जहाँ-जहाँ प्रभु अपनी विभूति कहते हैं, उनका अभिप्राय जीव ब्रह्म की एकता और पूर्णता में है । ज्ञानशक्ति क्रिया से उपहित जो चैतन्य, उससे ज्ञानस्मृति होती है, आवरणशक्ति प्रधान जो चैतन्य, उससे भूल (अज्ञान) होता है ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

अन्वय—इमौ १ द्वौ २ पुरुषौ ३ लोके ४ क्षरः ५ च ६ अक्षरः ७ एव ८ च ९ सर्वाणि १० भूतानि ११ क्षरः १२ कूटस्थः १३ अक्षरः १४ उच्यते १५ ।

अर्थ—कहे हुए पिछले अर्थ को फिर संक्षेप से कहते हैं, जिससे जल्द समझ में आ जाय । ये १ दो २ पुरुष ३ लोक में ४ सि० प्रसिद्ध हैं * क्षर ५ और अक्षर ६ । ७ । ८ । ९ सब भूतों को १० । ११ क्षर १२ कूटस्थ को १३ अक्षर १४ कहते हैं १५ ।

तात्पर्य—लौकिक भाषा में देह को भी पुरुष कहते हैं, इस वास्ते दोनों को पुरुष कहा । देह इन्द्रिय आदि पदार्थों को क्षर कहते हैं, और इस जगह माया का नाम अक्षर है । कूट-कपट में जिसकी स्थिति है, सो माया

है, कूटस्थ का अर्थ इस जगह अक्षरार्थ से माया समझना। जब तक ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता, तब तक माया अक्षर स्पष्ट प्रतीत होती है ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

अन्वय--उत्तमः १ पुरुषः २ तु ३ अन्यः ४ परमात्मा ५ उदाहृतः ६ इति ७ यः ८ अव्ययः ९ ईश्वरः १० लोकत्रयम् ११ आविश्य १२ बिभर्त्ति १३ ।

अर्थ--शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा नित्यमुक्त क्षर और अक्षर इन दोनों से विलक्षण है, इस समझ को आत्म-ज्ञान कहते हैं। उत्तम १ पुरुष २ तो ३ अन्य ४ सि० ही है, घटपटवत् अन्य भेदवाला नहीं, बिम्ब-प्रतिबिम्बवत् अन्य है, उसीको * परमात्मा ५ कहा है ६ यह ७ सि० समझ अर्थात् वह यही आत्मा है, जिसको वेदों में ऋषीश्वर मुनीश्वरों ने परमात्मा कहा है * जो ८ निर्विकार ९ ईश्वर १० त्रैलोक्य में ११ प्रविष्ट होकर १२ धारण करता है अर्थात् उसकी ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि वह वास्तव में निर्विकार ईश्वर है, परन्तु त्रिलोक को धारण कर रहा है १३ ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

अन्वय--यस्मात् १ क्षरम् २ च ३ अक्षरात् ४ अपि ५ अहम् ६ उत्तमः ७ अतीतः ८ अस्मि ९ अतः १० लोके ११ वेदे १२ च १३ पुरुषोत्तमः १४ प्रथितः १५ ।

अर्थ--जिस हेतु १ क्षर और अक्षर से २ । ३ । ४ भी ५ मैं ६ उत्तम अर्थात् मन वाणी का अविषय ७ सि० और इन दोनों से * अतीत नित्यमुक्त ८ हूँ ९ इसी हेतु १० शास्त्र में ११ और वेद में १२ । १३ सि० मुझको * पुरुषोत्तम १४ कहा है १५ ।

तात्पर्य--नित्यमुक्त, शुद्ध, सच्चिदानन्द, परिपूर्ण आत्मा को पुरुषोत्तम कहते हैं । जहाँ कभी किसी काल में बन्ध, मोक्ष, सत्, असत् शब्दों का कुछ प्रसंग भी नहीं ॥ १८ ॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १६ ॥

अन्वय—भारत १ यः २ असम्मूढः ३ एवम् ४ माम् ५ पुरुषोत्तमम् ६ जानाति ७ सः ८ सर्ववित् ९ सर्वभावेन १० माम् ११ भजति १२ ।

अर्थ—जो आत्मा से अभिन्न परमात्मा को ही पुरुषोत्तम जानता है, उसका माहात्म्य कहते हैं। हे अर्जुन! १ जो २ मूलाज्ञानरहित विद्वान् ३ इस प्रकार ४ सि० मैं क्षर और अक्षर इन दोनों से अन्य नित्यमुक्त शुद्ध सच्चिदानन्द हूँ * मुझ ५ पुरुषोत्तम को ६ जानता है ७ सो ८ सर्वज्ञ विद्वान् ९ सर्वभाव से १० मुझको ११ भजता है १२ अर्थात् जिसको आत्म-ज्ञान होता है वह सदा भजन ही करता रहता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

अन्वय—अनघ १ मया २ इदम् ३ गुह्यतमम् ४ शास्त्रम् ५ उक्तम् ६ इति ७ भारत ८ एतत् ९ बुद्ध्वा १० बुद्धिमान् ११ कृतकृत्यः १२ च १३ स्यात् १४ ।

अर्थ—इस अध्याय में समस्त वेद शास्त्रों का सिद्धान्त श्रीनारायण ने निरूपण कर दिया। जो इस अध्याय के अर्थ को जान गया वह कृतकृत्य हुआ, उसका कुछ कर्त्तव्य नहीं रहा। और जिसका मन पाप-पुण्य में खटकता है, और जिसने आत्मा को असंग अकर्त्ता नहीं जाना, उसने इस अध्याय का अर्थ भी नहीं समझा, क्योंकि श्रीमहाराज स्पष्ट कहते हैं कि इस अध्याय के अर्थ को जानकर कृतकृत्य हो जाता है। हे अर्जुन! १ मैंने २ यह ३ गुह्यतम ४ शास्त्र ५ कहा ६ 'इति' इस शब्द का यह तात्पर्यार्थ है कि समस्त गीता-शास्त्र गुह्यतम है, और गीता ही को शास्त्र कहते हैं। परंतु इस जगह शास्त्र-शब्द का तात्पर्य इसी अध्याय से है ७ हे अर्जुन! ८ इसको अर्थात् इसी अध्याय के अर्थ को ९ जानकर १० ब्रह्म-ज्ञानी ११ कृत-

कृत्य १२ । १३ हो जाता है १४ अर्थात् फिर उसका कुछ कर्त्तव्य नहीं रह जाता, वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः १६

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अन्वय—अभयम् १ सत्त्वसंशुद्धिः २ ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ३ दानम् ४ दमः ५ च ६ यज्ञः ७ च ८ स्वाध्यायः ९ तपः १० आर्जवम् ११ ।

अर्थ—दैवीसम्पत् के २६ लक्षण ढाई श्लोकों में कहते हैं । भय न होना १ अंतःकरण में राग-द्वेष आदि का न होना २ ज्ञानयोग में स्थित रहना ३ दान करना ४ सि० इसका लक्षण सत्रहवें अध्याय में कहेंगे * और इन्द्रियों का दमन करना ५ । ६ और यज्ञ करना ७ । ८ सि० इसका लक्षण भी सत्रहवें अध्याय में कहेंगे * वेद-शास्त्रों का पढ़ना ९ तप दो प्रकार का है, एक सदा नित्यानित्य पदार्थों का विचार करना, दूसरा चान्द्रायण आदि व्रत करना १० सीधापन ११ ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अन्वय—अहिंसा १ सत्यम् २ अक्रोधः ३ त्यागः ४ शान्तिः ५ अपैशुनम् ६ भूतेषु ७ दया ८ अलोलुप्त्वम् ९ मार्दवम् १० ह्रीः ११ अचापलम् १२ ।

अर्थ—मन, वाणी और शरीर से किसी को दुःख न देना १ सत्य बोलना २ क्रोध न करना ३ त्याग (समस्त पदार्थों का) ४ अंतःकरण का उपशम अर्थात् निरोध ५ पीछे किसी का

अवगुण नहीं कहना ६ सि० यथार्थ पाप का कहनेवाला बराबर का पापी होता है, और जो बढ़ाकर कहे तो दूना पापी होता है * प्राणियों पर ७ दया ८ नीचों के सामने दीनता न करना ६ कोमलता १० लज्जा रखना खोटे कामों में ११ चपल न होना १२ ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

अन्वय—तेजः १ क्षमा २ धृतिः ३ शौचम् ४ अद्रोहः ५ अतिमानिता ६ न ७ भारत ८ दैवीम् ९ संपदम् १० अभिजातस्य ११ भवन्ति १२ ।

अर्थ—प्रागल्भ्यता अर्थात् दृष्टि-मात्र से दूसरा दब जाय। बालक, स्त्री, मूर्ख आदि सहसा हँसी कर बैठें। जिनकी राजा की जैसी दृष्टि रहती है, ऐसे ही पुरुषों को तेजस्वी कहते हैं १ सहनशीलता २ धैर्य ३ पवित्र रहना ४ वैर न करना ५ अनिमानी ६ न होना ७ हे अर्जुन ! ८ दैवी ९ सम्पत् के १० सि० जो सम्मुख * जन्मा है ११ सि० उसमें ये लक्षण * होते हैं १२ सि० जो पीछे ढाई श्लोकों में कहे गए *

तात्पर्य—देवतों का पद जिसको प्राप्त होता है, उसमें ये लक्षण होते हैं। जिसमें ये लक्षण स्वाभाविक न हों, उसको यत्न करना चाहिए ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अन्वय—दम्भः १ दर्पः २ अभिमानः ३ च ४ क्रोधः ५ पारुष्यम् ६ एव ७ च ८ अज्ञानम् ९ च १० पार्थ ११ आसुरीम् १२ संपदम् १३ अभिजातस्य १४ ।

अर्थ—इस मंत्र में असुरों के लक्षण संक्षेप में कहते हैं; आगे फिर विस्तार सहित कहेंगे। जो अपने में तनक-सा भी कोई गुण हो, तो उसको एक भाग का अनेक भाग बनाकर बार-बार लोगों के सामने अनेक युक्तियों के साथ प्रकट करना १ धन, विद्या, जाति, वर्णाश्रम आदि का मन में घमंड रहना २ और

साधु महात्मा हरिभक्तों के सामने नम्र न होना ३। ४ क्रोध करना ५ और कठोरता अर्थात् आप तो छिप कर मेवा मिश्री खावे और घर के लोगों को गुड़ भी नहीं। साधु हरिभक्तों को देखकर दुष्टों का हृदय भस्म हो जाय, और वाणी से दुर्वाक्य कहने लगें ६। ७। ८ सि० ऐसा कठोर * और मूलाज्ञान ९। १० हे अर्जुन! ११ आसुरी सम्पत् को १२। १३ सि० जो प्राप्त है, असुर पद के सामने मुख करके जो * उत्पन्न हुआ है १४ सि० उसमें ये लक्षण होते हैं, दंभ आदि जो इस मंत्र में कहे गए हैं * अर्थात् ऐसे प्राणी असुरपद को प्राप्त होंगे ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

अन्वय—दैवी सम्पत् १ विमोक्षाय २ आसुरी ३ निबन्धाय ४ मता ५ पाण्डव ६ मा शुचः ७ दैवीम् ८ संपदम् ९ अभिजातः १० असि ११।

अर्थ—दैवी संपत् और आसुरी संपत् का फल कहते हैं। दैवी संपत् १ मोक्ष के लिये २ आसुरी ३ बंधन के लिये ४ मानी ५ सि० है महात्मा महापुरुषों ने * हे अर्जुन! ६ तू मत शोच कर ७ दैवी संपत् के सम्मुख ८। ९ जन्मा १० तू है ११ सि० दैवी संपत् के लक्षणों की तरफ़ तेरी वृत्ति है, देवतों के पद को तू प्राप्त होगा *

तात्पर्य—ज्ञान द्वारा मोक्ष होगा। दैवी संपत् के लक्षण जिनमें हैं, उनका ही ज्ञान में अधिकार है, असुरों का नहीं ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

अन्वय—अस्मिन् १ लोके २ भूतसर्गौ ३ द्वौ ४ दैवः ५ आसुरः ६ एव ७ च ८ पार्थ ९ दैवः १० विस्तरशः ११ प्रोक्तः १२ आसुरम् १३ मे १४ शृणु १५।

अर्थ—इस जगत् में १। २ भूतों की सृष्टि ३ दो प्रकार की ४ सि० है एक दैव ५ सि० देवसंबंधिनी, दूसरी * आसुर ६। ७। ८

सि० असुर संबंधिनी * हे अर्जुन ! ६ दैव अर्थात् देवतों का लक्षण १० विस्तारपूर्वक ११ सि० मैंने * कहा १२ असुरों का लक्षण १३ मुझसे १४ सि० विस्तारपूर्वक अब * सुनो १५ सि० असुर-स्वभाव को त्यागना चाहिए यह अभिप्राय है * ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—प्रवृत्तिम् १ च २ निवृत्तिम् ३ च ४ असुराः ५ जनाः ६ न ७ विदुः ८ तेषु ९ न १० शौचम् ११ न १२ अपि १३ च १४ आचारः १५ न १६ सत्यम् १७ विद्यते १८ ।

अर्थ—प्रवृत्ति को १ । २ और निवृत्ति को ३ । ४ असुर-जन ५ । ६ नहीं ७ जानते हैं ८ उनमें ९ न १० शौच ११ और न आचार १२ । १३ । १४ । १५ न १६ सत्य १७ होता है १८ । सि० कोई प्रवृत्ति ऐसी होती है कि उसका फल निवृत्ति है, और कोई निवृत्ति ऐसी होती है कि उसका फल प्रवृत्ति है । यह समझ असुरों को नहीं होती, और वेदोक्त आचार तो पृथक् रहा, दुष्ट स्नान तक नहीं करते, और विना हाथ पैर धोये भोजन करने लगते हैं । कोई-कोई यह कहते हैं कि विना झूठ व्यवहार चलता ही नहीं । जैसे जूठा खाने में उनको ग्लानि नहीं, ऐसे ही झूठ बोलना भी एक व्यवहार समझ रक्खा है । सत्य सम धर्म नहीं, और असत्य सम अधर्म नहीं, यह सिद्धान्त है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥ ८ ॥

अन्वय—ते १ जगत् २ अनीश्वरम् ३ आहुः ४ असत्यम् ५ अप्रतिष्ठम् ६ अपरस्परसम्भूतम् ७ कामहेतुकम् ८ अन्यत् ९ किम् १० ।

अर्थ—वे अर्थात् असुर १ जगत् को २ अनीश्वर कहते हैं अर्थात् कर्मों के फल का देनेवाला कोई भी नहीं ३ । ४ सब झूठ ५ सि० है । जैसे आप झूठे हैं, ऐसे ही जगत् को झूठा

समझते हैं। कहते हैं कि जगत् की कुछ व्यवस्था नहीं, ऐसे ही गोलमोल चला आता है। वेद पुराण आदि को धर्म की * प्रतिष्ठा नहीं ६ सि० समझते। वेद आदि को बड़ा नहीं समझते। यह जानते हैं कि जैसे विद्या मनुष्यों की बनाई हुई है, वैसे ही वेद भी किसी मनुष्य के बनाए हुए हैं। धर्म के उपदेश को बहकाना समझते हैं। इस प्रकार जगत् को अप्रतिष्ठ अव्यवस्थित कहते हैं। "असत्यं अप्रतिष्ठम्" ये दोनों जगत् के विशेषण हैं। जो कोई उनसे पूछे कि क्यों जी, यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है, इसका क्या हेतु है, तो उत्तर यह देते हैं कि अजी * परस्पर स्त्री-पुरुषों के संबंध से हुआ है, ७ कामदेव इसका हेतु है ८ अन्य ९ क्या १० सि० हेतु होता * ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

अन्वय—नष्टात्मानः १ अल्पबुद्धयः २ उग्रकर्माणः ३ अहिताः ४ एताम् ५ दृष्टिम् ६ अवष्टभ्य ७ जगतः ८ क्षयाय ९ प्रभवन्ति १० ।

अर्थ—मलिन चित्तवाले १ मंदमति २ हिंसात्मक कर्मवाले ३ सि० धर्म के * वैरी ४ इस दृष्टि का ५ । ६ आश्रय करके ७ जगत् को ८ भ्रष्ट करने के लिये ९ हुए हैं १० ।

तात्पर्य—'जगतः अहिताः' अर्थात् जगत् के वैरी हैं, यह भी अर्थ हो सकता है। दुष्ट लोग साधु हरिभक्तों के वैरी हैं, साधु जगत् के रक्षक हैं, जब उनके वैरी होते हैं, उनसे वैर किया, तो सब जगत् से उनका वैर हुआ। जो लौकिक व्यवहार है, सोई सत्य है। यह दृष्टि रखते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

अन्वय—दम्भमानमदान्विताः १ दुष्पूरम् २ कामम् ३ आश्रित्य ४ अशुचिव्रताः ५ मोहात् ६ असद्ग्राहान् ७ गृहीत्वा ८ प्रवर्तन्ते ९ ।

अर्थ—दंभ मान मद से युक्त १ जिसका पूर्ण होना कठिन

है ऐसी २ कामना का ३ आश्रय करके ४ अपवित्र आचार है जिनका ५ बेहूदेपन से ६ दुराग्रह का ७ अंगीकार करके ८ सि० निन्दित मार्ग में * वर्तते हैं ९।

तात्पर्य—यह मंत्र जपकर अमुक भूत-प्रेत को सिद्ध करेंगे, फिर उससे यह काम लेंगे, इस प्रकार बेहूदी बातें सुनकर और सीखकर, जिन बातों में सिवाय दुःख विक्षेप के कभी कुछ अन्य सुख आदि फल नहीं, दंभ आदि से अंध हो रहे हैं। किसी की सुनते भी नहीं, जो अंगीकार कर लिया उसमें कितनी ही निन्दा हानि हो, त्यागते नहीं, और यह आशा रखते हैं कि हमारा यह कर्तव्य हमको अवश्य सुख देगा ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

अन्वय—अपरिमेयाम् १ च २ प्रलयान्ताम् ३ चिन्ताम् ४ उपाश्रिताः ५ कामोपभोगपरमाः ६ एतावत् ७ इति ८ निश्चिताः ९।

अर्थ—अप्रमाण १ और २ मरण है अन्त जिसका सि० ऐसी * चिन्ता का आश्रय किए हुए अर्थात् सदा ऐसी चिन्ता में लगे हुए कि जो मरने पर ही समाप्त हो, जीते जी सदा बनी रहे ३। ४। ५ काम और भोगों से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं ६। ७ यह ८ निश्चय है जिनका ९ सि० ऐसे लोग अन्याय से पदार्थों का संचय करते हैं। अगले मंत्र के साथ इस मंत्र का अन्वय है * ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

अन्वय—आशापाशशतैः १ बद्धाः २ कामक्रोधपरायणाः ३ अन्यायेन ४ अर्थसंचयान् ५ कामभोगार्थम् ६ ईहन्ते ७।

अर्थ—आशा की सैकड़ों फाँसी से बँधे हुए हैं अर्थात् असंख्यात आशाओं में फँसे हुए हैं, छूट नहीं सकते १। २ काम क्रोध को ही परम स्थान बना रक्खा है अर्थात् सदा कामक्रोधपरायण रहते हैं ३ अनीति से ४ द्रव्य, मकान, गांव इकट्ठा करते हैं ५ भोगों के लिये ६ सि० सदा * चेष्टा करते हैं ७।

तात्पर्य—पदार्थों के छीन लेने में तत्पर रहते हैं, जिस प्रकार हो सकता है, अनीति से अपने भोग के अर्थ पराया माल छीन लेते हैं, और फिर भी असंख्यात आशाओं में फँसे रहते हैं। सदा कामी क्रोधी बने रहते हैं। ऐसे पुरुष नरक में पड़ेंगे ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

अन्वय—अद्य १ इदम् २ मया ३ लब्धम् ४ इदम् ५ प्राप्स्ये ६ मनोरथम् ७ इदम् ८ मे ९ अस्ति १० इदम् ११ अपि १२ धनम् १३ पुनः १४ भविष्यति १५ ।

अर्थ—दुष्टजनों का मनोराज्य चार मंत्रों में कहते हैं। अब १ यह २ सि० तो * मुझको ३ प्राप्त है ४ सि० और * यह ५ प्राप्त करूँगा ६ सि० यह मेरा * मनोरथ ७ सि० है * यह ८ सि० धन तो * मेरा ९ है १० सि० और * यह ११ भी १२ धन १३ फिर १४ सि० अवश्य ही * प्राप्त होगा १५ सि० ऐसे अपवित्र पुरुष नरक में पड़ेंगे, यह सोलहवें मंत्र में श्रीमहाराज कहेंगे * ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥

अन्वय—मया १ असौ २ शत्रुः ३ हतः ४ च ५ अपरान् ६ अपि ७ हनिष्ये ८ अहम् ९ ईश्वरः १० अहम् ११ भोगी १२ अहम् १३ सिद्धः १४ बलवान् १५ सुखी १६ ।

अर्थ—मैंने १ यह २ शत्रु ३ सि० तो * मारा ४ । ५ सि० और अमुक अमुक * औरों को ६ भी ७ मारूँगा ८ मैं ९ समर्थ १० मैं ११ भोगी १२ मैं १३ सिद्ध १४ बलवान् १५ सुखी १६ सि० हूँ *

तात्पर्य—लोगों के मारने में समर्थ हूँ। अच्छा खाता पीता हूँ। कृतकृत्य हूँ। मैंने बड़े-बड़े काम किए हैं कि वे मेरे ही करने के योग्य थे, अन्य से नहीं हो सकते ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

अन्वय—आढ्यः १ अभिजनवान् २ अस्मि ३ मया ४ सदृशः ५ कः ६ अन्यः ७ अस्ति ८ यक्ष्ये ९ दास्यामि १० मोदिष्ये ११ इति १२ अज्ञानविमोहिता १३।

अर्थ—धनवान् साहूकार १ कुलीन २ मैं हूँ, ३ मेरी ४ बराबर ५ कौन ६ अन्य दूसरा ७ है ८ सि० अब मैं एक * यज्ञ करूँगा ९ सि० उसमें बहुत कुछ * देऊँगा १० आनन्द को प्राप्त हूँगा ११ इस प्रकार १२ अज्ञान मे मोहित रहते हैं १३।

तात्पर्य—झूंठा वृथा मनोराज्य करते हुए अवस्था व्यतीत करते हैं। धन और जाति के अभिमान में जले जाते हैं। यज्ञ करने का जो मनोराज्य है, उसमें उनका यह तात्पर्य है कि थोड़ा बहुत रजोगुणी, तमोगुणी अन्न ऐसे-वैसे ब्राह्मणों को जिमाकर औरों की बुराई किया करते हैं, और दो चार पैसे देने को ही बड़ा दान समझते हैं। जब कभी किसी फक़ीर को, वा ख़ुशामदी लोगों को, या नट वेश्या आदिकों को अपनी बड़ाई के लिये कुछ दे देते हैं, तो अपने को बड़ा दाता समझते हैं, और बहुत प्रसन्न होते हैं ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अन्वय—अनेकचित्तविभ्रान्ताः १ मोहजालसमावृताः २ कामभोगेषु ३ प्रसक्ताः ४ अशुचौ ५ नरके ६ पतन्ति ७।

अर्थ—ऐसे लोगों की जो गति होती है उसको सुनो। अनेक मनोराज्य में चित्त विभ्रान्त हो रहा है जिनका १ मोह के जाल में फँसे हुए २ काम भोगों में ३ आसक्त ४ सि० हैं जो, सो * अपवित्र ५ नरक में ६ पड़ेंगे ७ ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अन्वय—आत्मसंभाविताः १ स्तब्धाः २ धनमानमदान्विताः ३ ते ४ दम्भेन ५ अविधिपूर्वकम् ६ नामयज्ञैः ७ यजन्ते ८।

अर्थ—स्वयं अपने को बड़ा और प्रतिष्ठित जानते हैं १ अनम्र २ सि० किसी महात्मा के सामने नम्र नहीं होते * धन के कारण

जो उनका मान होता है, उस मान के मद में भरे रहते हैं अर्थात् धन के चाहनेवाले मूर्ख धनी लोगों का ही मान किया करते हैं ३ सि० जो ऐसे उन्मत्त हैं * वे ४ दंभ से ५ शास्त्रविधि-रहित ६ नामयज्ञ से ७ यजन करते हैं ८ अर्थात् जो वे करते हैं वह वास्तव में यज्ञ नहीं है, उसका यज्ञ नाम बना रक्खा है, या नाम के वास्ते विधिरहित यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अन्वय--अहङ्कारम् १ बलम् २ दर्पम् ३ कामम् ४ क्रोधम् ५ च ६ संश्रिताः ७ आत्मपरदेहेषु ८ माम् ९ प्रद्विषन्तः १० अभ्यसूयकाः ११ ।

अर्थ--अहंकार १ बल २ दर्प ३ काम ४ और क्रोध ५ । ६ आश्रय किए हुए ७ अपने देह और दूसरे देह में ८ सि० जो मैं सच्चिदानंद विराजमान हूँ * मुझसे ९ द्वेष करते हैं १० सि० और मेरी * निंदा करते हैं ११ ।

तात्पर्य--अपने देह में, या पराये देह में, जो आत्मा को पूर्ण ब्रह्म नहीं समझते, वे भगवान् के निन्दक हैं, जो दूसरे से द्वेष करते हैं वे प्रभु के द्वेषी हैं, और जो मनुष्य देह पाकर आत्म-ज्ञान के लिये यत्न नहीं करते, वे भी प्रभु के वैरी हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

अन्वय--संसारेषु १ नराधमान् २ द्विषतः ३ क्रूरान् ४ तान् ५ अहम् ६ अशुभान ७ आसुरीषु ८ योनिषु ९ एव १० अजस्रम् ११ क्षिपामि १२ ।

अर्थ--ऐसे दुष्टों को जो मैं दंड देता हूँ सो सुनो संसार में १ मनुष्यों में जो अधम नर २ सि० साधु महापुरुषों से * वैर रखते हैं ३ निर्दय अर्थात् दयारहित ४ उनको ५ मैं ६ अशुभ लोक में अर्थात् रौरव आदि नरक में ७ और आसुरी योनियों में ८ । ९ निश्चय १० सदा के लिये ११ फेंकूँगा अर्थात् बड़े-बड़े नरक में डालूँगा । ऐसे दुष्टों को, जो मेरे भक्त साधुजनों को

दुर्वाक्य कहते हैं और जिनके लक्षण ऊपर कहे गए हैं, उनको सदा इसी चक्र में रक्खूँगा १२ ॥ १६ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

अन्वय—मूढाः १ आसुरीम् २ योनिम् ३ आपन्नाः ४ जन्मनि ५ जन्मनि ६ माम् ७ अप्राप्य ८ एव ९ कौन्तेय १० ततः ११ अधमाम् १२ गतिम् १३ यान्ति १४ ।

अर्थ—ऐसे दुष्टों को मेरी प्राप्ति का मार्ग भी नहीं मिलेगा, क्योंकि मेरी प्राप्ति का मार्ग मेरे भक्त साधु जानते हैं। वे ऐसे दुष्टों को न दर्शन देते हैं, न संभाषण करते हैं, और जो लालच से ऐसे दुष्टों को उपदेश करते हैं, वे साधु भक्त नहीं, वर्णसंकर कमीना कोई नाच जाति हैं। मूढ १ आसुरी २ योनि को ३ प्राप्त ४ जन्म-जन्म में ५ । ६ मुझको ७ नहीं प्राप्त होकर ८ निश्चय ९ हे अर्जुन ! १० पीछे ११ अधम १२ गति को १३ प्राप्त होंगे १४ ।

तात्पर्य—हे अर्जुन ! किसी युग में भी मेरे भक्तों की कृपा के बिना मेरी प्राप्ति नहीं होती। जो मुझको बुरा कहते हैं उसको मैं सहन कर लेता हूँ, परन्तु जो मेरे भक्त, साधु का अपराध करते हैं वह मुझसे नहीं सहा जाता। उसको मैं तुरंत कठिन-से-कठिन तीव्र दंड देता हूँ। हिरण्यकशिपु ने मुझसे बहुत द्वेष किया, परन्तु मुझको क्षोभ न हुआ, परन्तु जब मेरे भक्त (प्रह्लाद) के साथ द्वेष किया, तो मैं एक-पल भर भी न सह सका। जो कुछ मैंने किया वह भागवत आदि में प्रसिद्ध है ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

अन्वय—कामः १ क्रोधः २ तथा ३ लोभः ४ इदम् ५ त्रिविधम् ६ नरकस्य ७ द्वारम् ८ आत्मनः ९ नाशनम् १० तस्मात् ११ एतत् १२ त्रयम् १३ त्यजेत् १४ ।

अर्थ—जितने दोष आसुरी संपत्वाले पुरुषों के कहे हैं, उनमें काम, क्रोध और लोभ, ये तीन सबके कारण हैं। पहिले उनको

अवश्य त्यागना चाहिए । काम १ क्रोध २ और ३ लोभ ४ यह ५ तीन प्रकार का ६ नरक का ७ द्वार ८ आत्मा को ९ नरक में, और पशु आदि दुष्ट योनियों में प्राप्त करानेवाला १० सि० है * इस कारण ११ इन १२ तीनों को १३ त्यागना १४ सि० चाहिए *

तात्पर्य--काम आदि तीनों ही नरक के द्वार हैं, इनमें से जो एक भी होगा, तो वही नरक को प्राप्त करावेगा, और जिसमें ये तीनों होंगे वह तो जीते-जी नरक में है । मरकर उसको नरक प्राप्त हो, तो इसमें क्या कहना है ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

अन्वय--कौन्तेय १ एतैः २ त्रिभिः ३ तमोद्वारैः ४ विमुक्तः ५ नरः ६ आत्मनः ७ श्रेयः ८ आचरति ९ ततः १० परां ११ गतिम् १२ याति १३ ।

अर्थ--काम आदि के त्याग का फल कहते हैं । हे अर्जुन ! १ इन तीन नरक के द्वारों से २ । ३ । ४ छूटा हुआ ५ सि० जो * पुरुष ६ आत्मा का ७ भला ८ करता है अर्थात् काम आदि को प्रथम त्यागकर पीछे आत्मप्राप्ति के लिये शुभाचरण करता है, ९ तब १० परमगति को ११ । १२ प्राप्त होता है १३ ।

तात्पर्य--जैसे औषध तब गुण करती है, जब प्रथम खटाई मिठाई आदि पदार्थों का त्याग कर दे, वैसे ही शुभकर्म जप पाठ आदि तब फल देंगे, जब प्रथम काम आदि को त्याग होगा । काम आदि के त्यागने से अंतर्मुख वृत्ति होती है, विना अंतर्मुख हुए विचार नहीं हो सकता; विना विचार ज्ञान नहीं होता, विना ज्ञान मुक्ति नहीं होती, इसवास्ते काम आदि का त्याग अवश्य करना चाहिए ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

अन्वय--यः १ शास्त्रविधिम् २ उत्सृज्य ३ कामकारतः ४ वर्तते ५ सः ६ न ७ सिद्धिम् ८ अवाप्नोति ९ न १० सुखम् ११ न १२ पराम् १३ गतिम् १४ ।

अर्थ—जो काम आदि का त्याग लोगों से नहीं हो सकता, उसका हेतु यह है कि शास्त्र की विधि को छोड़ इच्छापूर्वक वर्त्तते हैं। जो १ शास्त्र-विधि का २ उल्लंघन कर ३ इच्छापूर्वक ४ वर्त्तता है ५ वह ६ न ७ सिद्धि को ८ प्राप्त होता है ९ न १० सुख को ११ न १२ परम गति को १३ । १४ ।

तात्पर्य—उसको न इस लोक में सुख होता है और न सद्गति (मुक्ति) होती है। इस लोक में किसी प्रकार की सिद्धि भी नहीं होती। इस जगह उन लोगों का प्रसंग है, जिनका शास्त्र में अधिकार है, और जान-बूझ कर शास्त्र की विधि का उल्लंघन करते हैं। ज्ञानी जन कृतकृत्य हैं, उनका यहाँ प्रसंग नहीं। और अनजान लोग, या अन्यद्वीपनिवासी, या शास्त्र से अन्य मतवाले, शास्त्र-विधि को उल्लंघन कर अपने मत के अनुसार या स्वाभाविक इच्छापूर्वक वर्त्तते हैं, उनका भी यहाँ प्रसंग नहीं, क्योंकि अर्जुन उनके लिये सत्रहवें अध्याय में प्रश्न करेंगे, और श्रीमहाराज स्पष्ट उत्तर देंगे ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

अन्वय—तस्मात् १ कार्याकार्यव्यवस्थितौ २ ते ३ शास्त्रम् ४ प्रमाणम् ५ शास्त्रविधानोक्तम् ६ कर्म ७ ज्ञात्वा ८ इह ९ कर्तुम् १० अर्हसि ११ ।

अर्थ—इस कारण १ यह करना चाहिए, और यह न करना चाहिए, इस व्यवस्था में २ तुझको ३ शास्त्र ४ प्रमाण ५ सि०हैं,* शास्त्र में जो करना कहा है उस कर्म को ६ । ७ जान करके ८ इस कर्म की अधिकार-भूमि में अर्थात् इस मनुष्य-देह से मर्त्य-लोक में ९ सि० कर्म * करने को १० योग्य है तू ११ ।

तात्पर्य—जो शास्त्र ने कहा है सो कर, और जिस कर्म को बुरा कहा है सो न कर। यहाँ शास्त्र ही प्रमाण है, बुद्धि का काम नहीं ॥ २४ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे देवासुरसम्पत्तिवर्णनयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः १७

सोलहवें अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा कि जो शास्त्र की विधि का उल्लंघन करके अपनी इच्छापूर्वक वर्तते हैं, उनको न इस लोक में सुख होता है, और न सद्गति होती है। इसमें कमसमझों को जिन्होंने श्रीमहाराज का तात्पर्य नहीं जाना, यह शंका प्रतीत होती है कि असंख्य अन्य द्वीप के लोग, और इस द्वीप में भी वेदोक्त मत से अन्य मतवाले और ग्रामनिवासी बहुत अनजान लोग शास्त्र की विधि का उल्लंघन करके वर्तते हैं। इस लोक में जैसा सुख अपने कर्मों के अनुसार वेदोक्त कर्म करनेवालों को होता है, वैसा ही उनको भी अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्रत्यक्ष दीखता है। और परलोक में सबकी दुर्गति हो यह बात अयुक्त है, क्योंकि सब प्रजा एक ईश्वर की है, वह ईश्वर ऐसा नहीं कि सब अन्य द्वीप निवासियों की दुर्गति करे। यह शंका एक नाम-मात्र संक्षेप में लिखी गई है, इसका उत्तर भी संक्षेप में ही लिखा जाता है। प्रथम यह कि श्रीभगवान् ने चौदहवें अध्याय में स्पष्ट कहा है कि सत्त्वगुणी पुरुष ऊपर के लोकों को प्राप्त होते हैं, रजोगुणी मध्य में स्थित रहते हैं, और तमोगुणी अधोगति को प्राप्त होते हैं। ये तीनों गुण यत्न करने से भी होते हैं, और स्वाभाविक भी होते हैं। सब लोग अपने गुणों की तारतम्यता से सद्गति और दुर्गति को प्राप्त होंगे। वे किसी जाति में, किसी मत में, वा अनजान हों, जो शास्त्रोक्त कर्म करते हैं, जिनकी शास्त्र में श्रद्धा है, जो वे यत्न करें तो रजोगुणी और तमोगुणी अपने स्वभाव को पलट सकते हैं, और जिनकी वेद-शास्त्र में श्रद्धा नहीं वे नहीं पलट सकते, वे अपने स्वभाव के अनुसार ही रहेंगे। वैदिक और अवैदिक मत में इतना अन्तर है। दूसरी एक सूक्ष्म बात यह है कि वेदोक्त कर्म ईश्वराराधन आदि सब अध्यारोप है, और जो शास्त्र की विधि का उल्लंघन करके अपने मत के अनुसार कर्म करते हैं, वह भी अध्यारोप है। विद्वानों की दृष्टि में अध्यारोप कल्पित है, विना ज्ञान सब सम है। ज्ञान में सत्त्वगुणी का अधिकार है, सो सत्त्वगुण स्वाभाविक हो, वा प्रयत्न करके किसी ने संपादन किया हो, ज्ञानी सत्त्वगुण को देखकर ज्ञान का उपदेश निःसन्देह करेंगे, जिससे परम गति होती है। सोलहवें अध्याय में श्रीमहाराज ने उन लोगों के वास्ते ऐसा कहा है कि उनको न इस लोक में सुख होगा

और न परलोक में, जिनका शास्त्र में अधिकार है और शास्त्र के अर्थ को जान-बूझकर शास्त्र की विधि का उल्लंघन करते हैं, क्योंकि उनको कुछ भी आश्रय न रहा । ज्ञान-निष्ठों का यहाँ प्रसंग नहीं, वे विधि-निषेध से मुक्त हैं ।

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अन्वय—कृष्ण १ ये २ श्रद्धया ३ अन्विताः ४ शास्त्रविधिम् ५ उत्सृज्य ६ यजन्ते ७ तेषाम् ८ निष्ठा ९ तु १० का ११ सत्त्वम् १२ रजः १३ आहो १४ तमः १५ ।

अर्थ—यह पूर्वोक्त शंका करके अर्जुन प्रश्न करता है । हे भगवन् ! १ सि० बहुत लोग * जो २ श्रद्धा से ३ युक्त ४ शास्त्र की विधि का ५ उल्लंघन कर ६ सि० अपनी बुद्धि के अनुसार, वा वेद-शास्त्र-रहित अपने गुरु-मत के अनुसार ईश्वराराधन आदि कर्म * करते हैं ७ उनकी ८ निष्ठा ९ । १० क्या है अर्थात् उनका सिद्धान्त क्या है ११ सि० उनकी निष्ठा * सत्त्वगुणी १२ सि० है वा * रजोगुणी १३ वा १४ तमोगुणी १५ ।

तात्पर्य—जो लोग शास्त्र के अर्थ को जानकर शास्त्रोक्त अनुष्ठान नहीं करते, प्रत्युत, अनादर करते हैं, उनका और ज्ञानियों का तो यहाँ प्रसंग नहीं, अनजान पुरुष जो देखादेखी वा नास्तिक आदि जो शास्त्र की विधि को उल्लंघन कर वर्तते हैं, उनकी क्या निष्ठा समझना चाहिए, और उनकी क्या गति होती है, यह अर्जुन के प्रश्न का तात्पर्य है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

अन्वय—देहिनाम् १ स्वभावजा २ त्रिविधा ३ श्रद्धा ४ भवति ५ सा ६ सात्त्विकी ७ राजसी ८ च ९ एव १० तामसी ११ च १२ इति १३ ताम् १४ शृणु १५ ।

अर्थ—जीवों के १ स्वाभाविक अर्थात् अपने आप पूर्व संस्कार से ही २ तीन प्रकार की ३ श्रद्धा ४ होती है ५ सो ६

सि० श्रद्धा * सत्त्वगुणी ७ और रजोगुणी ८ । ९ । १० और तमोगुणी ११ । १२ । १३ तिसको १४ सुनो १५ सि० अगले श्लोक में कहते हैं, कार्यभेद से और भी आगे बहुत श्लोकों में कहेंगे * ।

तात्पर्य—शास्त्र में जिनकी श्रद्धा है, जो यथाशक्ति शास्त्रोक्त अनुष्ठान करते हैं, उनकी श्रद्धा और निष्ठा केवल सत्त्वगुणी समझना चाहिए, क्योंकि शास्त्र में यह सामर्थ्य है कि स्वभाव को पलट सकता है। शास्त्र में जिनकी श्रद्धा नहीं, उनकी श्रद्धा तीन प्रकार की समझना चाहिए। जो पूर्वसंस्कार से वे रजोगुणी वा तमोगुणी हैं, तो वेदोक्त कर्म किए विना उनका स्वभाव नहीं पलटेगा ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

अन्वय—भारत १ सर्वस्य २ सत्त्वानुरूपा ३ श्रद्धा ४ भवति ५ अयम् ६ पुरुषः ७ श्रद्धामयः ८ यः ९ यच्छ्रद्धः १० सः ११ एव १२ सः १३ ।

अर्थ—तीन प्रकार की श्रद्धा ऐसे जानो जैसे अब कहते हैं। हे अर्जुन ! १ सबके २ अंतःकरण के अनुसार ३ श्रद्धा ४ होती है ५ यह ६ जीव ७ श्रद्धावान् है ८ जो ९ जिसकी श्रद्धा है अर्थात् जो जिस श्रद्धा से युक्त है १० वह ११ निश्चय से १२ वही १३ सि० है * ।

तात्पर्य—जिसकी श्रद्धा जैसे कर्मों में (सत्त्वगुणी आदि में) है, उसको वैसा ही समझना चाहिए। आगे आहार आदि का भेद (सत्त्व आदि) कहेंगे, उस निष्ठा और अनुमान से जान लेना कि यह पुरुष ऐसा है, यह इसकी निष्ठा है, यह इसकी गति होगी। ऐसा कोई पुरुष नहीं कि जिसकी किसी जगह श्रद्धा न हो, इसवास्ते सबको श्रीभगवान् ने श्रद्धावान् कहा है। जिनके अंतःकरण शुद्ध हैं, उनकी सत्त्वगुणी श्रद्धा है, और जिनके अंतःकरण मलिन हैं, उनकी तमोगुणी वा रजोगुणी श्रद्धा है। पुरुष के सम्बन्ध से श्रद्धा भी तीन प्रकार की है। मोक्ष में जो हेतु है, और साधनचतुष्टय में जिसकी गणना है, वह केवल सत्त्वगुणीवृत्ति श्रद्धा है। परमार्थ

में उसी को श्रद्धा कहते हैं। यह श्रद्धा व्यवहार में तीन प्रकार की है, जो कही जा चुकी है। ज्ञान में अधिकार सत्त्वगुणी श्रद्धावान् का है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अन्वय—सात्त्विकाः १ देवान् २ यजन्ते ३ राजसाः ४ यक्ष-रक्षांसि ५ अन्ये ६ तामसाः ७ जनाः ८ प्रेतान् ९ भूतगणान् १० च ११ यजन्ते १२।

अर्थ—सत्त्वादि गुणों का कार्यभेद से दिखाते हैं। सत्त्व-गुणी १ देवतों का २ यजन करते हैं ३ रजोगुणी ४ यक्ष-राक्षसों को ५ सि० पूजते हैं * और तमोगुणी जन ६। ७। ८ प्रेत ९ और भूतगणों को १०। ११ पूजते हैं १२ ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाऽहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

अन्वय—ये १ जनाः २ अशास्त्रविहितम् ३ घोरम् ४ तपः ५ तप्यन्ते ६ दम्भाऽहङ्कारसंयुक्ताः ७ कामरागबलान्विताः ८।

अर्थ—जो १ जन २ शास्त्रविधिरहित ३ मैला ४ तप ५ करते हैं ६ सि० उसका कारण यह है कि * दंभ अहंकार से युक्त हैं ७ सि० फिर कैसे हैं कि * कामरागबल से युक्त हैं ८।

तात्पर्य—कोई-कोई ऐसा तप करते हैं कि वह कर्मस्वरूप से ही मैला है, अर्थात् उस कर्म के करने में ग्लानि आती है, और उसके करने के लिये शास्त्र की कोई विधि भी नहीं है। उस कर्म का नाम तप रखकर वृथा तपते हैं। इसका कारण एक तो लोगों को दिखाने के लिये, दूसरे यह कि हम जैसा कर्म करते हैं, ऐसा किसी से कब हो सकता है, तीसरे किसी कामना के लिये, चौथे रजोगुण के वश होकर उस कर्म में प्रीति हो गई है, त्याग नहीं सकते, वा पुत्र, मित्र आदि की प्रीति से, मित्र आदि के रिझाने के लिये करते हैं। पाँचवें बलवान् जो चाहता है सो करता है ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अन्वय—अचेतसः १ शरीरस्थम् २ भूतग्रामम् ३ कर्षयन्तः ४ च ५ अन्तः ६ शरीरस्थम् ७ माम् ८ एव ९ तान् १० आसुरनिश्चयान् ११ विद्धि १२।

अर्थ—अज्ञानी १ शरीर में जो स्थित २ इंद्रिय आदि ३ सि० उनको * पीड़ा देते हैं ४ और ५ भीतर ६ शरीर में स्थित ७ सि० जो मैं हूँ * मुझको ८ भी ९ सि० दुःख देते हैं * उनको १० असुरवत् ११ जानो १२।

तात्पर्य—जो विना विचार इन्द्रिय आदि को दुःख देते हैं, और पूर्ण ब्रह्म शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा को दास और अस्थि, चर्म आदि का पुतला समझते हैं, वे लोग असुरवत् हैं। यह असुरों का निश्चय है, सो प्रसिद्ध है। तप का फल शांति है, शांति के लिये उपवास आदि तप करते हैं, जिस कर्म के करने से उलटा तमोगुण और रजोगुण बढ़े, और उस कर्म का नाम तप कहा जावे, यह दंभी और कपटी पुरुषों का काम है ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

अन्वय—आहारः १ तु २ अपि ३ सर्वस्य ४ त्रिविधः ५ प्रियः ६ भवति ७ तथा ८ यज्ञः ९ तपः १० दानम् ११ तेषाम् १२ भेदम् १३ इमम् १४ शृणु १५।

अर्थ—सत्त्वगुण बढ़ाने के लिये, और रजोगुण वा तमोगुण कम करने के लिये, आहार, तप, यज्ञ, दान को सत्त्वादि तीन-तीन भेद करके कहते हैं। और इस भेद से सत्त्वगुणी आदि पुरुषों की परीक्षा भी हो सकती है, अर्थात् जो सत्त्वगुणी आहार, यज्ञ, तप और दान करता है उसको सत्त्वगुणी जानना चाहिए और इसी प्रकार तमोगुणी वा रजोगुणी को भी समझना चाहिए। आहार १ भी २। ३ सबको ४ तीन प्रकार का ५ प्रिय ६ है ७ और ८ यज्ञ ९ तप १० दान ११ सि० भी सबको तीन प्रकार का प्रिय है। हे अर्जुन! * उनका १२ भेद १३ यह १४ सि० है, जो अगले श्लोकों में कहूँगा वह * सुनो १५।

तात्पर्य—जो तुममें रजोगुणी वा तमोगुणी वृत्ति हो तो उसको त्याग

दो, और सत्त्वगुणी वृत्ति को बढ़ाओ, जिससे ज्ञान-निष्ठा दृढ़ हो ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

अन्वय—आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः १ रस्याः २ स्निग्धाः ३ स्थिराः ४ हृद्याः ५ आहाराः ६ सात्त्विकप्रियाः ७ ।

अर्थ—सत्त्वगुणी आहार का लक्षण और फल भी एक ही श्लोक में कहते हैं । अवस्था, चित्त की स्थिरता, वीर्य, उत्साह, बल, आरोग्य, उपशमात्मक सुख, प्रभु में प्रीति, इन पदार्थों को बढ़ानेवाला १ रसवाला २ कोमलतर ३ खाने के पीछे शरीर में उसका रस चिरकाल ठहरे ४ जिसके देखने से ही मन प्रसन्न हो जाय ५ सि० यह चार प्रकार का * आहार ६ सत्त्वगुणी को प्रिय लगता है ७ सि० जैसे मोहनभोग इत्यादि * ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अन्वय—कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः १ आहाराः २ राजसस्य ३ इष्टाः ४ दुःखशोकामयप्रदाः ५ ।

अर्थ—रजोगुणी आहार कहते हैं । अतिचर्फरा, खट्टा, नमका, गरम, तीक्ष्ण, रूखा, दाह करनेवाला १ आहार २ रजोगुणी को ३ प्रिय है ४ दुःख शोक रोग का देनेवाला है ५ सि० अति-शब्द सबके साथ लगाना चाहिए, अतिखट्टा, अतिनमका, अति-गरम, अतितीक्ष्ण, अतिरूखा, अतिदाह करनेवाला, ऐसा भोजन रजोगुणी को प्रिय है * ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अन्वय—यातयामम् १ गतरसम् २ पूति ३ पर्युषितम् ४ च ५ यत् ६ उच्छिष्टम् ७ च ८ अमेध्यम् ९ अपि १० भोजनम् ११ तामसप्रियम् १२ ।

अर्थ—तमोगुणी आहार का लक्षण कहते हैं। जिसको बने हुए एक प्रहर बीत जावे १ ठंडा हो जावे, अर्थात् सूख जावे २ जिसमें दुर्गंध आवे ३ बासी ४ और ५ जो ६ जूँठा ७ और ८ अभक्ष्य ९ भी १० भोजन ११ तमोगुणी को प्रिय है १२ ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अन्वय—अफलाकांक्षिभिः १ यः २ यज्ञः ३ विधिदृष्टः ४ इज्यते ५ यष्टव्यम् ६ एव ७ इति ८ मनः ९ समाधाय १० सः ११ सात्त्विकः १२ ।

अर्थ—सत्त्वगुणी यज्ञ कहते हैं। फल की इच्छा से रहित पुरुष १ जो २ यज्ञ ३ विधि को देखकर ४ करते हैं ५ यज्ञ का करना आवश्यक है ६ निश्चय ७ इस प्रकार ८ मन का ९ समाधान करके १० सि० करते हैं सो ११ सि० यज्ञ * सत्त्वगुणी १२ ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

अन्वय—भरतश्रेष्ठ १ फलम् २ अभिसन्धाय ३ तु ४ दम्भार्थम् ५ अपि ६ च ७ एव ८ यत् ९ इज्यते १० तम् ११ यज्ञम् १२ राजसम् १३ विद्धि १४ ।

अर्थ—रजोगुणी यज्ञ कहते हैं। हे अर्जुन ! १ फल को २ अंतःकरण में धारण करके ३ वा ४ लोगों को दिखाने के लिये ५ भी ६ । ७ । ८ जो ९ यज्ञ किया जाता है १० उस ११ यज्ञ को १२ रजोगुणी १३ जान तू १४ ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

अन्वय—विधिहीनम् १ असृष्टान्नम् २ मन्त्रहीनम् ३ अदक्षिणम् ४ श्रद्धाविरहितम् ५ यज्ञम् ६ तामसम् ७ परिचक्षते ८ ।

अर्थ—तमोगुणी यज्ञ कहते हैं। वेदविधिरहित १ सुन्दर अन्न

नहीं है जिसमें २ मंत्ररहित ३ दक्षिणारहित ४ श्रद्धारहित ५ यज्ञ ६ तमोगुणी ७ कहलाता है ८ ।

तात्पर्य—लोगों की देखा-देखी लौकिक एक रीति समझकर प्रसिद्धि के लिये कुपात्रों को न्योतकर ठंडा, बासी, कच्चा-पक्का, अन्न जिमा देना, न उनके सामने खड़ा होना, न उनके चरणों को स्पर्श करना, न सुन्दर प्रकार बोलना, न पीछे दक्षिणा देना, ऐसा यज्ञ तमोगुणी कहलाता है। ऐसे अभागों के घर जो साधु ब्राह्मण भोजन करने को जाते हैं, वे उनसे भी अभागे हैं, क्योंकि सेर-भर आटा के लिये मूर्खों को दाता वा लालाजी कहना पड़ता है ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अन्वय—देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् १ शौचम् २ आर्जवम् ३ ब्रह्मचर्यम् ४ अहिंसा ५ च ६ शारीरम् ७ तपः ८ उच्यते ९ ।

अर्थ—शरीर का तप कहते हैं। देवता, ब्राह्मण, गुरु, प्राज्ञ, विद्वान्, भक्त, ज्ञानी, इनका पूजन करना १ पवित्र रहना २ नम्र रहना ३ ब्रह्मचर्य में रहना ४ सि० ब्रह्मचर्य का लक्षण आनन्दामृतवर्षिणी के पाँचवें अध्याय में लिखा है, आठ प्रकार का मैथुन है, उसका त्याग करना; और हिंसा न करना ५। ६ सि० इसको * शरीर का ७ तप ८ कहते हैं ९ ।

तात्पर्य—देश, मकान, वस्त्र पात्र सब पवित्र हों तब शरीर की पवित्रता है, और अन्न, जल, वीर्य कुल आदि भी पवित्र हों ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

अन्वय—यत् १ वाक्यम् २ अनुद्वेगकरम् ३ सत्यम् ४ प्रियम् ५ च ६ हितम् ७ च ८ स्वाध्यायाभ्यसनम् ९ एव १० वाङ्मयम् ११ तपः १२ उच्यते १३ ।

अर्थ—वाणी का तप यह है । जो १ वाक्य २ सि० अन्य को * उद्वेग न करे ३ सत्य ४ प्रिय ५ और ६ हित करनेवाला ७

और ८ वेद-शास्त्र पढ़ने का अभ्यास भी ९ । १० वाणी का ११ तप १२ कहलाता है १३ ।

तात्पर्य– जो बात सच्ची शास्त्रविहित और हित करनेवाली भी है, परंतु कहने के समय किसी को प्रिय न लगे, ऐसी बात कहने में दोष है, और जो श्रवण के समय तो प्रिय प्रतीत हो, परंतु वेद-विरुद्ध हो ऐसी बात न कहने में भी दोष है । अनुद्वेगकरं, सत्यं, प्रियं, हितं और चकार से 'मितम्' अर्थात् बहुत अर्थ को संक्षेप में, थोड़े अक्षरों में कहना, वाक्य का यह पाँचवाँ विशेषण चकार से जानना चाहिए ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

अन्वय—मनःप्रसादः १ सौम्यत्वम् २ मौनम् ३ आत्मविनिग्रहः ४ भावसंशुद्धिः ५ इति ६ एतत् ७ मानसम् ८ तपः ९ उच्यते १० ।

अर्थ—मन का तप कहते हैं । मन प्रसन्न रखना १ सि० सत्त्वगुणी वृत्ति में मन प्रसन्न रहता है तमोगुणी और रजोगुणी वृत्ति में विक्षेप और मोह को प्राप्त होता है * सरलता अर्थात् सीधापन २ मनन करना ३ विषयों से मन को रोकना ४ व्यवहार में छल नहीं करना अर्थात् बाहर-भीतर सम वृत्ति रखना ५ यह ६ । ७ मन का ८ तप ९ कहलाता है १० ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

अन्वय—अफलाकांक्षिभिः १ युक्तैः २ नरैः ३ परया ४ श्रद्धया ५ तत् ६ त्रिविधम् ७ तपः ८ तप्तम् ९ सात्त्विकम् १० परिचक्षते ११ ।

अर्थ—शरीर, मन और वाणी से तीन प्रकार का तप होता है, यह भेद पीछे कह चुके हैं, अब सात्त्विक आदि भेद करके तीन प्रकार का तप कहते हैं । इस मंत्र में सत्त्वगुणी तप का लक्षण है । फल की इच्छा से रहित १ एकाग्रचित्तवाले २ पुरुषों ने ३

परम श्रद्धा से ४। ५ वह ६ तीन प्रकार का ७ तप ८ सि० मन, वाणी और शरीर से जो तप * किया है ९ सि० वह तप, * सत्त्वगुणी १० कहलाता है ॥ ११ ॥

तात्पर्य--परम श्रद्धा के साथ, चित्त को भले प्रकार एकाग्र करके, फल की इच्छा से रहित शरीर, मन और वाणी से जो तप किया जाता है, वह सत्त्वगुणी तप कहलाता है ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

अन्वय—यत् १ दम्भेन २ सत्कारमानपूजार्थम् ३ च ४ एव ५ तपः ६ क्रियते ७ तत् ८ इह ९ राजसम् १० प्रोक्तम् ११ चलम् १२ अध्रुवम् १३।

अर्थ—जो १ दम्भ से २ सि० अथवा * सत्कार मान पूजा के लिये ३। ४। ५ तप ६ किया जाता है ७ वह ८ शास्त्र में ९ रजोगुणी १० कहलाता है ११ सि० क्योंकि * अचल नहीं १२ अनित्य है १३।

तात्पर्य—जो पुरुष अपनी स्तुति कराने के लिये, लोगों को दिखाने के लिये, अपने सम्मान पूजा के लिये, धन आदि की प्राप्ति के लिये, और स्वर्ग आदि तथा पुत्र मित्र आदि की प्राप्ति के लिये अच्छे कर्म करते हैं, वे पुरुष भी रजोगुणी हैं और वे सब कर्म भी रजोगुणी हैं। ऐसे कर्मों का फल तुच्छ और अनित्य होगा ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अन्वय—यत् १ तपः २ मूढग्राहेण ३ आत्मनः ४ पीडया ५ वा ६ परस्य ७ उत्सादनार्थम् ८ क्रियते ९ तत् १० तामसम् ११ उदाहृतम् १२।

अर्थ—जो १ तप २ दुराग्रह से ३ सि० अविवेकपूर्वक * इन्द्रियों को ४ दुःख देकर ५ वा ६ दूसरे के ७ नाश के लिये ८ किया जाता है ९ वह १० सि० तप * तमोगुणी ११ कहलाता है १२ ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

अन्वय—दातव्यम् १ इति २ यत् ३ दानम् ४ दीयते ५ देशे ६ काले ७ च ८ पात्रे ९ च १० अनुपकारिणे ११ तत् १२ दानम् १३ सात्त्विकम् १४ स्मृतम् १५ ।

अर्थ—दान तीन प्रकार का है । प्रथम सत्त्वगुणी दान कहते हैं । सि० हमको अवश्य दान * देना चाहिए १ इस प्रकार २ सि० मन में विचार कर * जो ३ दान ४ दिया जाता है ५ सि० सुन्दर * देश में ६ और उत्तम काल में ७ । ८ सुपात्र और अनुपकारी को ९ । १० । ११ वह १२ दान १३ सात्त्विक १४ कहलाता है १५ ।

तात्पर्य—गंगा आदि तीर्थों में, सुंदर लीपी-पोती हुई जगह में, जिस जगह बैठे हुए बुरी वस्तु न दीखे, दुर्गन्ध न आवे, पूर्णमासी, व्यतीपात आदि में, भूख के समय, वा किसी सज्जन का काम अटक रहा हो उस समय, मध्याह्न से पहले भोजन कराना चाहिए । जिसको देना उससे किसी प्रकार का उपकार न चाहना, जहाँ तक बन सके अनजान पुरुष को छिपाकर देना चाहिए । विद्वान् साधु ब्राह्मण दान के पात्र हैं, वा भूखा कोई भी जाति हो । इस दान की व्यवस्था में एक पोथी जिसका नाम राजदूतों की कथा है, आगरानिवासी श्रीमान् मुंशी शिवनारायण माथुर कायस्थ ने हिन्दी-भाषा में लिखा है, और उसीको उर्दू-भाषा में भी उन्होंने ही लिखा है, जिसका नाम कासदानशाही है । उस पोथी के पढ़ने, सुनने और विचारने से दान की व्यवस्था भले प्रकार प्रतीत होती है । जो लोग नौकरी, खेती वा बनिज करते हैं, वा जिनके पास द्रव्य है, उनको अवश्य दान करना चाहिए । क्योंकि द्रव्य में पन्द्रह अनर्थ रहते हैं, जो वेदोक्त दान न किया गया, तो पंद्रह अनर्थों में जो पाप होता है वह द्रव्यग्राही को लगता है । दान करने से उस पाप की निवृत्ति होती है । दान करने के लिये द्रव्य का संचय करना, यह शास्त्र की आज्ञा नहीं है । उसका यह फल होता है कि जैसे कीच में हाथ सानना और फिर धोया । इस समय में दान देना तो पृथक् रहा, जो किसी को देते हुए देखते वा

सुनते हैं, तो जहाँ तक उनसे हो सकता है, इसी तर्क करके उसको भी वर्जित करते हैं। मुमुक्षु को चाहिए कि ऐसे दुष्टों का मुख भी न देखे। यह विचार कर ले कि दिन की, महीने की वा वर्ष की आय में से इतना भाग दान करूँगा। उस द्रव्य को, वा अन्न वस्त्र आदि मोल लेकर प्रतिदिन, प्रतिमास वा प्रतिवर्ष जहाँ तक हो सके सुपात्र को गुप्त दे दिया करे। जो प्रवृत्ति में रहकर दान नहीं करते, केवल माला, तिलक, घंटा, घड़ियाल से मुक्ति चाहते हैं, उन पर परमेश्वर कभी प्रसन्न न होंगे॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २१॥

अन्वय—यत् १ तु २ प्रत्युपकारार्थम् ३ पुनः ४ वा ५ फलम् ६ उद्दिश्य ७ परिक्लिष्टम् ८ च ९ दीयते १० तत् ११ राजसम् १२ उदाहृतम् १३।

अर्थ—रजोगुणी दान कहते हैं। जो १ प्रत्युपकार के लिये २। ३ वा ४। ५ फल के ६ उद्देश से ७ वा क्लेश-कलहसहित ८। ९ दिया जाता है १० वह ११ रजोगुणी १२ कहलाता है १३।

तात्पर्य—दान के पात्र से यह इच्छा रखना कि यह किसी समय किसी प्रकार से हमारी सहायता करेगा, अथवा यह चिंतन करके कि सन्त महन्तों की टहल करने से धन पुत्र आदि मिलते हैं, अथवा लौकिक लज्जा से कि क्या करें जी, हमारे पिता का आज श्राद्ध है एक ब्राह्मण तो अवश्य ही जीमना चाहिए, इस प्रकार दान करके मन में दुःखी होना रजोगुणी दान है। महात्मा लोग कहते हैं कि कलियुग में दाता नहीं हैं, यदि हैं भी, तो सेवा कराकर देते हैं। तदुक्तम् "दातारोऽपि न सन्ति सन्ति यदि चेत्सेवानुकूलाः कलौ।" अर्थात् कलियुग में सत्त्वगुणी दाता कम हैं, विशेषकर रजोगुणी हैं। बहुत लोग दाता प्रसिद्ध हैं, उनके दान की यह व्यवस्था है कि एक पुरुष राजा का नौकर है, प्रजा पर उसका शासन है, किसी की कथा कहला देना, वा शुभ काम के नाम से चन्दा करके कुछ उसको दे देना कुछ आप रख लेना, यह उनका दान है। कोई-कोई सुपात्रों को भी अपने सुयश के लिये देते हैं। कोई साधु को अपने मकान

पर मकान की रक्षा के लिये ठहरा रखते हैं। कोई दूसरे साधु ब्राह्मण को दुःख देने के लिये साधु ब्राह्मण की टहल करते हैं। कोई लौकिक लज्जा से देखा-देखी करते हैं। कोई इस प्रकार दान करते हैं कि ब्राह्मण को नौकर रख लेते हैं, या उसको जिमा देते हैं, और खिचरी वस्त्र आदि भी इसी प्रकार बाँटते हैं। कोई ऐसे दानी प्रसिद्ध हैं कि छल, दंभ, और पाखंड से किसी का द्रव्य दबा लेते हैं, और उस दोष को दबाने के लिये दान करते हैं। उनकी यह व्यवस्था है—"मोहरन की चोरी करें, करें सुई का दान। ऊँचे चढ़ि देखन लगे, कितनी दूर विमान॥" ऐसे दाता कदाचित् भी सद्गति की आशा न रक्खें॥ २१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अन्वय—यत् १ दानम् २ अपात्रेभ्यः ३ अदेशकाले ४ च ५ दीयते ६ असत्कृतम् ७ अवज्ञातम् ८ तत् ९ तामसम् १० उदाहृतम् ११।

अर्थ—जो १ दान २ कुपात्रों को ३ और निषिद्ध देश काल में ४। ५ दिया जाता है ६ मि० अथवा सुपात्रों को भी जो * असत्कारपूर्वक ७ अवज्ञापूर्वक ८ सि० दियाजाता है * वह ९ तमोगुणी १० कहलाता है ११।

तात्पर्य—जिस समय दैवयोग से कोई महात्मा अपने घर आवे, उसको देख हाथ जोड़कर न खड़ा हो और न ऐसा कहे कि आपने बड़ी कृपा की किसी आदमी से कह दे कि फकीर आया है, रोटी या आटा देकर टालो; अथवा किसी को न्यौतकर चौके से बाहर अपवित्र जगह में बैठाकर मध्याह्न से पीछे जिमाना; या नट, बाजीगर, वेश्या आदि को देना इत्यादि तमोगुणी दान है। द्रव्य बड़े दुःख और पापों से प्राप्त होता है। बंधन का भी यही साधन है और मोक्ष का भी साधन है। इसको पाकर मोक्ष का संपादन करना चाहिए। एक दिन इससे अवश्य वियोग होगा, या तो द्रव्य पहले छोड़ देगा, या द्रव्य रक्खा ही रहेगा, आप चले जावेंगे। श्रीभगवान् ने यह तीन प्रकार का भेद इसीवास्ते कहा है कि दान सत्त्व-गुणी करना चाहिए, क्योंकि उससे परंपरा करके मोक्ष की प्राप्ति होती

है। जो यह कहते हैं कि अजी वेदोक्त साधु ब्राह्मण कहाँ हैं यह उनकी समझ, और श्रद्धा, पुरुषार्थ, यत्न और मन-बड़ाई का दोष है कि जो उनको सुपात्र नहीं मिलते। महात्मा जो यह कहते हैं कि पृथिवी पर असंख्यात अमोल रत्न प्रसिद्ध हैं, जिनमें किसी की ममता नहीं, और अभागों को दीखते नहीं, उनका तात्पर्य सुपात्रों से ही है। घर से बाहर पैर नहीं रखते। कौवे की-सी दृष्टि है। महात्मा के भजन, पाठ, पूजा, विवेक, विद्या आदि सहस्रों जो उनमें गुण हैं; उनको तो देखते नहीं, कहते हैं कि अजी महात्मा किसी के घर क्यों जाते हैं? ऐसे दुष्टों से पूछना चाहिए कि जो तेरे घर आवें, वे तो असाधु हैं, और तू मल, मूत्र का पात्र, स्त्री पुत्र आदि को छोड़कर बाहर पैर न रक्खे, तो फिर सुपात्र कैसे मिलें। अभागों के घर महात्मा नहीं जाते, यह बात सत्य है॥ २२॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्रह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

अन्वय—ॐ १ तत् २ सत् ३ इति ४ ब्रह्मणः ५ निर्देशः ६ त्रिविधः ७ स्मृतः ८ तेन ९ ब्राह्मणाः १० वेदाः ११ च १२ यज्ञाः १३ च १४ पुरा १५ विहिताः १६।

अर्थ—जो मुमुक्षु यह चाहते हैं कि प्रभु की आज्ञा से यज्ञ दान आदि वेदोक्त सत्त्वगुणी कर्म करें, परन्तु देश, काल, वस्तु के संबंध से वा किसी अन्य प्रतिबन्ध से वेदोक्त सत्त्वगुणी अनुष्ठान नहीं हो सकता, इस हेतु दुःख पाते हैं, उनके लिये परम करुणाकर व्रजचंद्र इस मंत्र में परम पवित्र उत्तम उपाय गुप्त बतलाते हैं। ॐ १ तत् २ सत् ३ यह ४ ब्रह्म का ५ उच्चारण ६ तीन बार ७ कहा है ८ सि० ब्रह्मविदों ने * उसने अर्थात् ॐ तत्सत् इस मंत्र ने ही ९ ब्राह्मण १० और वेद ११। १२ और यज्ञ को १३। १४ पहले १५ उत्तम पवित्र किए हैं १६।

तात्पर्य—स्नान, दान, भोजन और पाठ इत्यादि करने से पहले और पीछे, ॐ तत्सत् इस मंत्र को तीन बार कहे। इसके कहने से अंगहीन क्रिया भी सत्त्वगुणी होकर वेदोक्त फल देगी। यह विधि अनादि है, महात्मा लोग

जानते हैं, और इसके प्रताप से सदा निर्दोष रहते हैं। श्रीभगवान् अगले मंत्रों में ॐ तत्सत् इन तीनों नामों का माहात्म्य पृथक्-पृथक् कहेंगे। इनमें से परमात्मा का एक नाम भी पवित्र करके ब्रह्म को प्राप्त कराता है, और जो तीनों नामों का उच्चारण करेगा उसके पवित्र होने में क्या सन्देह है। इसमें यही कैमुतिक न्याय है। वेदों में यह मंत्र सार है। जिस मंत्र में इन तीनों नामों में से एक भी होगा, उस मंत्र का फल शीघ्र और अवश्य होगा। मंत्रों में इन्हीं नामों की शक्ति है। पोथियों और मंत्रों के आदि में, इन तीनों नामों में से एक या दो नाम अवश्य होते हैं। जब वेद और ब्राह्मण आदि की बड़ाई इस मंत्र के प्रताप से है, तो विना इस मंत्र के जपे कोई क्रिया कैसे श्रेष्ठ हो सकती है। इस हेतु क्रिया के आदि और अन्त में इस मंत्र का तीन बार अवश्य उच्चारण करना चाहिए ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

अन्वय—तस्मात् १ ॐ २ इति ३ उदाहृत्य ४ विधानोक्ताः ५ यज्ञदानतपःक्रियाः ६ सततम् ७ ब्रह्मवादिनाम् ८ प्रवर्तन्ते ९ ।

अर्थ—अब तीनों नामों का माहात्म्य पृथक्-पृथक् कहते हैं। इस मंत्र में ॐ नाम का माहात्म्य है। जब वेद आदि इन नामों से ही श्रेष्ठ और पवित्र हैं * इस हेतु १ ॐ २ ऐसा ३ उच्चारण करके ४ वेदोक्त ५ यज्ञदानतपरूप क्रियाएँ ६ सदा ७ ब्रह्म-निष्ठों की ८ होती हैं ९ ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

अन्वय—मोक्षकाङ्क्षिभिः १ तत् २ इति ३ फलम् ४ अनभिसन्धाय ५ यज्ञतपःक्रियाः ६ दानक्रियाः ७ च ८ विविधाः ९ क्रियन्ते १० ।

अर्थ—मोक्ष की इच्छावाले १ तत् २ यह ३ सि० नाम उच्चारण करके और * फल का ४ चिंतन न करके ५ यज्ञतपरूप क्रिया ६ और दानक्रिया ७।८ नाना प्रकार की ९ करते हैं १०

सि० महावाक्य में यही नाम है * ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

अन्वय—पार्थ १ सद्भावे २ साधुभावे ३ च ४ सत् ५ इति ६ एतत् ७ प्रयुज्यते ८ तथा ९ प्रशस्ते १० कर्मणि ११ सत् १२ शब्दः १३ युज्यते १४।

अर्थ—हे अर्जुन! १ सद्भाव में २ और साधुभाव में ३। ४ सत् ५ यह ६। ७ मि० नाम * कहा जाता है ८ और ९ मि० विवाह आदि * मंगलकर्म में १०। ११ सत् १२ शब्द १३ कहा जाता है १४ ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अन्वय—यज्ञे १ तपसि २ दाने ३ च ४ स्थितिः ५ सत् ६ इति ७ च ८ उच्यते ९ तदर्थीयम् १० कर्म ११ च १२ एव १३ सत् १४ इति १५ एव १६ अभिधीयते १७।

अर्थ—इस मंत्र में भी सत् नाम का माहात्म्य है। यज्ञ में १ तप में २ और दान में ३। ४ मि० जो * स्थिति ५ मि० से उसको * सत् ६ ऐसा ७। ८ कहते हैं ९ ईश्वरार्थ १० कर्म को ११ भी १२। १३ सत् ही १४। १५। १६ कहते हैं १७।

तात्पर्य—जो पुरुष परमेश्वरार्थ सदा यज्ञ आदि करते रहते हैं, उनको सत्फल प्राप्त होता है, जिसका कभी नाश नहीं होता ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अन्वय—अश्रद्धया १ हुतम् २ दत्तम् ३ तपः ४ तप्तम् ५ च ६ यत् ७ कृतम् ८ इति ९ असत् १० उच्यते ११ पार्थ १२ तत् १३ प्रेत्य १४ न च १५ नो १६ इह १७।

अर्थ—जो श्रद्धापूर्वक दान आदि नहीं करते, केवल लौकिक लज्जा से करते हैं, उनको न यहाँ फल होता है, और न मरने के पीछे परलोक में। इस मंत्र में यह अर्थ प्रकट करते हुए

अश्रद्धावान् की निंदा करते हैं। अश्रद्धा से १ हवन २ दान ३ तप ४। ५ और जो कुछ किया जाय ६। ७। ८ यह ६ क्रि० सब * असत् १० कहलाता है अर्थात् निष्फल, निंदित, झूठा और वृथा है ११ हे अर्जुन! १२ वह १३ न मरने के पीछे १४। १५ न १६ इस लोक में १७।

तात्पर्य--मोक्ष-मार्ग में सब कर्मों से प्रथम श्रद्धा की आवश्यकता है। जिसकी वेद ब्राह्मण आदि में श्रद्धा है, वह मुक्त होगा ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः १८

अर्जुन उवाच।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अन्वय--अर्जुन उवाच। महाबाहो १ हृषीकेश २ केशिनिषूदन ३ संन्यासस्य ४ च ५ त्यागस्य ६ तत्त्वम् ७ पृथक् ८ वेदितुम् ९ इच्छामि १०।

अर्थ--इस अध्याय में समस्त गीता का सार संक्षेप में है। अर्जुन कहता है, हे महाबाहो! १ हे हृषीकेश! २ हे केशिनिषूदन! ३ संन्यास ४ और ५ त्याग के ६ तत्त्व को ७ पृथक् ८ जानने की ९ मैं इच्छा करता हूँ १०।

तात्पर्य—हे भगवन्! त्याग और संन्यास शब्द का अर्थ मुझसे कहो। दोनों पदों का अर्थ पृथक्-पृथक् मैं जानना चाहता हूँ। श्रीभगवान् इन दोनों पदों का अर्थ अगले मंत्र में भले प्रकार कहेंगे, प्रसंग से चतुर्थाश्रम संन्यास का अर्थ संक्षेप में यहाँ लिखे देते हैं। त्याग और संन्यास का अर्थ वास्तव में एक ही है। संन्यास दो प्रकार का है, अंतरंग और बहिरंग। संन्यास ज्ञान-निष्ठा का अंग है। अंतरंग संन्यास का अर्थ इस अध्याय में श्रीभगवान्

---

१ महाबाहु, हृषीकेश और केशिनिषूदन, ये तीनों नाम श्रीकृष्णचन्द्र के हैं।

भले प्रकार कहेंगे। बहिरंग संन्यास का अर्थ यहाँ लिखा जाता है। यह संन्यास बहुत प्रकार का है। कुटीचक १ क्षेत्र २ बहूदक ३ विविदिषा ४ विद्वन् ५ हंस ६ परमहंस ७ और भी इसके बहुत भेद हैं। इनका अर्थ अंक के क्रम से लिखते हैं। वाणिज्य आदि व्यवहार छोड़, ग्राम से बाहर कुटी में बैठकर, शरीर-यात्रा-मात्र भोजन कर भगवद्भजन और ब्रह्मविचार करना, अपने संबंधी और दूसरों को सम समझना, घर वा बाहर का कोई भोजन दे जावे, उसी से देह का निर्वाह कर लेना, यह कुटीचक संन्यासी का लक्षण है, और उसका कनिष्ठ अंग यह भी है कि देहयात्रा-मात्र आजीविका का कुछ यत्न करके एकान्त में निवास करना १ कुटीचक का जो लक्षण कहा है वही क्षेत्र का भी समझ लेना चाहिए। क्षेत्र में देहयात्रा के लिये मधुकरी माँग खाने में दोष नहीं है २ घर को त्यागकर विचरता रहे, एक जगह न रहे ३ वेदान्त-शास्त्र श्रवण करने के लिये गृहस्थाश्रम को त्यागना और त्याग के पीछे दिन-रात सदा श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते रहना ४ जीवनमुक्ति के आनन्द के लिये गृहस्थाश्रम का त्याग करना। इस संन्यास को वे धारण करते हैं, जिनको गृहस्थाश्रम में संशय-विपर्यय-रहित साक्षात्कार ब्रह्म-ज्ञान हो जाता है ५ जिस प्रकार हंस दूध और जल को जुदा करके दूध ही पान करता है, उसी प्रकार परमहंस महात्मा देह आदि पदार्थों से अपने स्वरूप को पृथक् विलक्षण समझकर सदा स्वरूप में ही निष्ठा रखते हैं, इसी को हंस-संन्यास कहते हैं ६ वस्त्र आदि का भी त्याग करके मौन रहना, इसको परमहंस-संन्यास कहते हैं ७ यह संन्यास का अर्थ एक नाम-मात्र लिख दिया है, जो किसी को कुटीचक आदि संन्यास करना हो, तो वह उसकी विधि मनु आदि धर्म-शास्त्र और उपनिषदों को श्रवण करके संन्यास करे। दंड धारणपूर्वक संन्यास में कर्मकांड की विधि से ब्राह्मण को ही अधिकार है, क्योंकि कर्म-कांड में वेदोक्त कर्म करनेवाले ब्राह्मण को ही बड़ा कहते हैं, और उपासक भगवद्भक्त को बड़ा कहते हैं। भगवद्भक्त व्यवहार में कोई जाति हो, सबसे बड़ा है, और जो व्यवहार में भी ब्राह्मण हो, तो क्या कहना है। विदुर, गुह, निषाद, शबरी इत्यादि हजारों की कथाएँ साक्षी हैं। ज्ञानी ब्रह्मवित् को बड़ा कहते हैं। ब्राह्मण-शब्द का अर्थ यही है,—"ब्रह्म जानाति स ब्राह्मणः।" जो व्यवहार में ब्राह्मण कहे जाते हैं, उनको वैराग्य न हो, तो भी अवस्था के अन्तिम चतुर्थ भाग में उनको गृहस्थाश्रम छोड़ना चाहिए,

नहीं तो पाप होगा और प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ेगा, और जिसको वैराग्य हो, वह किसी जाति का भी हो प्रत्येक अवस्था में उसको संन्यास का अधिकार है। "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत" इस श्रुति का यह अर्थ है कि जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास करे। त्याग (संन्यास) में सबको अधिकार है। हज़ारों विरक्त महात्मा, जो व्यवहार में ब्राह्मण नहीं हैं, लेकिन ब्रह्मवित्, ज्ञानी, दर्शनीय और पूजनीय हैं, और हज़ारों हो गये हैं। संन्यास और वैराग्य के बिना मुक्ति न होगी, परमेश्वर का अनुग्रह और पूर्व संस्कार तो दूसरी बात है। गृहस्थाश्रम में जिसको ज्ञान हुआ वह पूर्व संस्कार और परमेश्वर की कृपा समझना चाहिए, नहीं तो निवृत्ति मार्ग की बड़ाई क्या हुई। प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग दोनों बराबर हो गये। साधु महात्मा विरक्तों का माहात्म्य वेद-शास्त्र और अवतारों ने क्या वृथा ही कहा है। सारांश यह कि विरक्त अवश्य होना चाहिए। विरक्ति और निवृत्ति में सबको अधिकार है। देश, काल और वस्तु का नियम प्रवृत्ति-मार्ग में है, निवृत्ति-मार्ग में नहीं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

अन्वय—कवयः १ काम्यानाम् २ कर्मणाम् ३ न्यासम् ४ संन्यासम् ५ विदुः ६ विचक्षणाः ७ सर्वकर्मफलत्यागम् ८ त्यागम् ९ प्राहुः १०।

अर्थ—सि० कोई-कोई * पंडित १ काम्य २ कर्मों के ३ न्यास को ४ संन्यास ५ जानते हैं ६ सि० और कोई-कोई * पंडित ७ सब कर्मों के फल के त्याग को ८ त्याग ९ कहते हैं १०।

तात्पर्य—काम्य-शब्द का अर्थ कोई तो ऐसा करते हैं कि स्त्री, धन आदि के निमित्त जो कर्म है उसको त्यागना योग्य है। नित्य प्रायश्चित्त-कर्म करना चाहिए, इसीका नाम संन्यास है। और कोई महात्मा काम्य शब्द का अर्थ यह करते हैं कि समस्त कर्मों का त्याग करना योग्य है,

इसका नाम संन्यास है । सकाम कर्मों के त्यागने में दोनों का सम्मत है, और कुछ न करने से सकाम कर्म करना अच्छा है । पुत्र स्वर्ग आदि की इच्छा करनेवाला यज्ञ करे, ऐसा वेद में सुना जाता है । परंतु इस जगह काम्य-शब्द का अर्थ यही है कि सब कर्मों के त्याग का नाम संन्यास है, नहीं तो दोनों जगह कर्म की विधि रहती है । जब एक कर्म की विधि है और वह कर्म किसी हेतु से न बना, तो कर्ता को प्रायश्चित करना भी आवश्यक है, और जब उसको पाप लगा, और प्रायश्चित करना पड़ा, तो मुक्त कैसे होगा, सदा बन्धन में रहेगा । इसहेतु अधिकार-भेद से इस श्लोक का यह तात्पर्य समझना चाहिए । शुद्ध अन्तःकरणवाले निष्काम पुरुष सब कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं, और इस भूमिका की इच्छावाले केवल सब कर्मों के फल के त्याग को संन्यास जानते हैं । जो सब कर्मों के फल के त्याग को ही संन्यास कहते हैं, तो चतुर्थाश्रम जो संन्यास है, उसकी विधि क्या वृथा है ? सब कर्मों के फल का त्याग करना, और कर्म करना, इसको कोई-कोई पंडित त्याग कहते हैं । और सब कर्मों को स्वरूप से त्याग देना, इसीको पंडित संन्यास कहते हैं । जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो, तब तक कर्म करे और उसका फल त्याग दे, और जब अन्तः-करण शुद्ध हो जाय, तब सब कर्मों का भी त्याग कर देना चाहिए ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

अन्वय—एके १ मनीषिणः २ इति ३ प्राहुः ४ दोषवत् ५ कर्म ६ त्याज्यम् ७ च ८ अपरे ९ इति १० यज्ञदानतपःकर्म ११ न १२ त्याज्यम् १३ ।

अर्थ—एक १ पंडित २ यह ३ कहते हैं ४ सि० कि * दोष-वाला ५ कर्म ६ त्यागना योग्य है ७ और ८ अपर अर्थात् कोई एक पंडित ९ यह १० सि० कहते हैं कि * यज्ञ दान तप कर्म ११ नहीं १२ त्यागना चाहिए १३ ।

तात्पर्य—सब कर्मों के त्याग में अन्य मतवालों का भी सम्मत है, इसी बात को दृढ़ करने के लिये सांख्य-शास्त्र का मत दिखाया है । सांख्य-शास्त्रवाले कहते हैं कि यज्ञ आदि कर्मों में हिंसा असमता आदि दोष हैं,

इसवास्ते उनको त्यागना योग्य है । और पूर्व मीमांसावाले कहते हैं कि वेद की आज्ञा में शंका न करना चाहिए । यज्ञ आदि कर्म जो वेदों ने कहा है, करना योग्य है । यदि उसमें हिंसा भी प्रतीत होती हो तो भी वह कर्म श्रेष्ठ है । अधिकारी के प्रति दोनों का कहना सत्य है, प्रवृत्ति-मार्गवाला यज्ञ आदि कर्म अवश्य करे, और निवृत्ति-मार्गवाला कर्मों में विक्षेप समझकर कर्मों को त्याग दे, शम दम आदि का अनुष्ठान करे ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

अन्वय—भरतसत्तम १ तत्र २ त्यागे ३ निश्चयम् ४ मे ५ शृणु ६ पुरुषव्याघ्र ७ हि ८ त्यागः ९ त्रिविधः १० संप्रकीर्तितः ११ ।

अर्थ—आस्तिक-मार्गवालों में भी भेद प्रतीत होता है, जो पिछले श्लोक में कहा गया है । उसकी निवृत्ति के लिये दोनों का सिद्धांत तात्पर्यार्थ कहते हैं । हे अर्जुन ! १ उस २ त्याग के विषय ३ निश्चय ४ मेरे ५ सि० वचन को * सुन ६ हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन ! ७ सि० त्याग का अर्थ जानना कठिन है * क्योंकि ८ त्याग ९ तीन प्रकार का १० कहा है ११ ।

तात्पर्य—हे अर्जुन ! त्याग तीन प्रकार का है, इसहेतु त्याग का अर्थ कठिन है । त्याग और संन्यास इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है, सो मुझसे सुन । प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग ये दोनों अनादि हैं । वेदों में जहाँ कर्म का त्याग कहा है, वह निवृत्त विरक्त महापुरुषों के लिये कहा है, और जहाँ कर्म का अनुष्ठान कहा है, वह प्रवृत्त रागी जनों के लिये कहा है । ऐसा वेदों का तात्पर्य सत्पुरुषों की कृपा से जाना जाता है । शास्त्रों में किंचिन्मात्र भेद नहीं, अपनी समझ का भेद है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

अन्वय—यज्ञः १ च २ दानम् ३ तपः ४ एव ५ मनीषिणाम् ६ पावनानि ७ एव ८ तत् ९ यज्ञदानतपःकर्म १० न ११ त्याज्यम् १२ कार्यम् १३ ।

अर्थ—श्रीभगवान् तीन प्रकार का त्याग आगे कहेंगे, प्रथम

दो श्लोकों में अपना सिद्धांत कहते हैं। यज्ञ १ और २ दान ३ तप ४ निश्चय ५ पंडितों को ६ पवित्र करनेवाले ७ सि० हैं * इसवास्ते ८ उस ९ यज्ञ दान तप कर्म को १० नहीं ११ त्यागना योग्य है १२ करना योग्य है १३।

तात्पर्य—यज्ञ, दान आदि कर्म अंतःकरण को शुद्ध करते हैं, इसवास्ते ज्ञान की प्रथम भूमिकावाले को कर्म न त्यागना चाहिए। स्पष्टार्थ यह है कि पवित्र की विधि अपवित्र वस्तु में होती है, पवित्र वस्तु में पवित्र विधि नहीं होती। जिनको संसार से वैराग्य नहीं, और भगवद्भक्त जिनको प्राणों के बराबर प्यारे नहीं, वे निश्चय करें कि हमारा अंतःकरण शुद्ध नहीं है। विरक्तों की सेवा-पूजा से हमारा अंतःकरण शुद्ध होगा ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अन्वय—पार्थ १ एतानि २ कर्माणि ३ सङ्गम् ४ च ५ फलानि ६ त्यक्त्वा ७ अपि ८ तु ९ कर्तव्यानि १० इति ११ मे १२ निश्चितम् १३ उत्तमम् १४ मतम् १५।

अर्थ—हे अर्जुन! १ ये २ मि० तप दान आदि * कर्म ३ आसक्ति ४ और ५ फल का ६ त्याग करके ७ निश्चय से ८। ९ करने योग्य हैं १० यह ११ मेरा १२ निश्चय से १३ उत्तम १४ मत १५ सि० है *

तात्पर्य—हे अर्जुन! तप, दान आदि अंतःकरण को शुद्ध करते हैं, इस वास्ते मुमुक्षु को अवश्य करना चाहिए। मेरा भी यही उत्तम मत है और दूसरों का भी कर्म की विधि में यही तात्पर्य है। विना अंतःकरण शुद्ध हुए अवैदिक-मार्गवालों की बातें सुनकर या निवृत्ति-मार्गवालों को श्रुति-स्मृति के प्रमाण देकर, जो वेदोक्त बहिरंग कर्मों का त्याग कर देते हैं, वे पाप के भागी होते हैं। क्योंकि उन्होंने शास्त्र का अर्थ उलटा समझा है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

अन्वय—नियतस्य १ कर्मणः २ संन्यासः ३ न ४ उपपद्यते ५ तु ६ मोहात् ७ तस्य ८ परित्यागः ९ तामसः १० परिकीर्तितः ११।

अर्थ—भगवान् ने पीछे कहा है कि त्याग तीन प्रकार का है, उसको कहते हैं। नित्य सन्ध्या आदि १ कर्म का २ त्याग ३ न ४ करना चाहिए ५ और ६ मोह से ७ उसका ८ त्याग ६ सि० कर देना * तमोगुणी त्याग १० कहलाता है ११।

तात्पर्य—जिज्ञासु अर्थात् मुक्ति की इच्छा है जिसको, वह नित्य कर्मों का त्याग न करे। और जो भूल या मूर्खता से त्याग करेगा, तो वह त्याग तमोगुणी कहा जायगा। ऐसे त्याग का फल मोक्ष नहीं है। ऐसा त्याग पीछे महाक्लेश देता है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

अन्वय—यत् १ कर्म २ कायक्लेशभयात् ३ त्यजेत् ४ दुःखम् ५ इति ६ एव ७ सः ८ राजसम् ६ त्यागम् १० कृत्वा ११ त्यागफलम् १२ न १३ लभेत् १४ एव १५।

अर्थ—जो १ कर्म २ कायक्लेश के भय से ३ त्यागता है ४ सि० उसमें * दुःख ५।६।७ सि० समझकर * वह ८ रजोगुणी ६ त्याग को १० करके ११ त्याग के फल को १२ नहीं १३ प्राप्त होता है १४ निश्चय से १५।

तात्पर्य—रजोगुणी पुरुष मलिन अन्तःकरण होने से स्नान दान आदि कर्मों को दुःख-रूप जानता है। यह नहीं समझता कि इन कर्मों से मेरा अन्तःकरण शुद्ध होकर मुझको ज्ञान प्राप्त होगा, जिससे सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसवास्ते बिना आत्मबोध हुए ही, या कायक्लेश के भय से कर्मों को त्याग देता है। बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए त्याग का फल (ज्ञान-निष्ठा) उसको प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ६ ॥

अन्वय—अर्जुन १ यत् २ नियतम् ३ कर्म ४ कार्यम् ५ इति ६ एव ७ सङ्गम् ८ च ६ फलम् १० त्यक्त्वा ११ क्रियते १२ सः १३ त्यागः १४ एव १५ सात्त्विकः १६ मतः १७।

अर्थ—सत्त्वगुणी त्याग यह है। हे अर्जुन ! १ जो २

नित्य ३ कर्म ४ सि० है, वह * करना चाहिए ५ यह निश्चय है, ६ । ७ संग को ८ और ९ फल को १० त्यागकर ११ सि० जो त्याग * किया जाता है १२ वह १३ त्याग १४ निश्चय से १५ सत्त्वगुणी १६ माना है १७ ।

तात्पर्य—हे अर्जुन ! जो नित्यकर्म है, उसको ब्रह्म का जिज्ञासु अवश्य करे, परंतु उसमें संग न करे, और उसके फल का त्याग करे, वह त्याग सत्त्वगुणी है । इस प्रकार जो कर्म करते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है । फिर साधन-चतुष्टय संपन्न होकर, ब्रह्मविद्या का श्रवण करके अपने स्वरूप को जानकर कृतकृत्य हो जाते हैं । फिर उनका कुछ कर्तव्य नहीं रहता ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

अन्वय—अकुशलम् १ कर्म २ न ३ द्वेष्टि ४ कुशले ५ न ६ अनुषज्जते ७ त्यागी ८ सत्त्वसमाविष्टः ९ मेधावी १० छिन्नसंशयः ११ ।

अर्थ—जिसका शुद्ध अंतःकरण हो जाता है, उसका लक्षण यह है । बुरा १ सि० जो * कर्म २ सि० उसके साथ * न ३ वैर करता है ४ अच्छे कर्म में ५ न ६ प्रीति करता है ७ बुरे भले दोनों कर्मों का फल त्याग देता है ८ आत्मा और अनात्मा का जो विवेक उससे युक्त अर्थात् विचारवान् ९ आत्मनिष्ठ १० संदेहरहित ११ सि० होता है *

तात्पर्य—जब तक प्राणी को इच्छा रहती है, तब तक अच्छे कर्मों में प्रीति रखता है, और उसके वास्ते नाना प्रकार के यत्न करता है । अच्छे कर्म और बुरे कर्मों का साथ है । बुरे कर्म परवश हो जाते हैं । इच्छा-रहित पुरुष को बुरा भला कर्म नहीं लगता । जो भले कर्मों का फल चाहेगा उसको बुरे कर्मों का भी फल अवश्य होगा । विवेकी, विचारवान्, शुद्धान्तः-करणवाला, सन्देहरहित सदा आत्म-निष्ठ रहता है । ज्ञानी को परमानन्द-स्वरूप आत्मा के सामने सब कर्मों के फल तुच्छ प्रतीत होते हैं ॥ १० ॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

अन्वय—देहभृता १ अशेषतः २ कर्माणि ३ त्यक्तुम् ४ नहि ५ शक्यम् ६ यः ७ तु ८ कर्मफलत्यागी ९ सः १० त्यागी ११ इति १२ अभिधीयते १३ ।

अर्थ—जो कोई यह समझे कि कर्मों का फल त्यागने से कर्मों को ही त्याग देना अच्छा है, इसवास्ते श्रीभगवान् कहते हैं कि अज्ञानी जीव समस्त कर्मों को नहीं त्याग सकता, फल का ही त्याग कर सकता है। कर्मों का फल त्यागने से अन्तःकरण शुद्ध होता है। यह परम फल है और इसीसे ज्ञान होता है। ज्ञानी समस्त कर्म त्याग सकता है, क्योंकि कर्मों का फल, जो अज्ञान की निवृत्ति, वह हुई। जब तक अज्ञान दूर न हो, तब तक कर्मों का त्याग न करना चाहिए। वर्णाश्रम का अभिमानी अज्ञानी जीव १ समस्त २ कर्म ३ त्यागने को ४ नहीं ५ समर्थ है ६ जो ७। ८ कर्म के फल का त्यागी ९ सि० है * वह १० त्यागी ११। १२ कहलाता है १३।

तात्पर्य—अज्ञानी जीव कर्मों के त्यागने से बन्धन को प्राप्त होता है, क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय उसने छोड़ दिया, और ज्ञानी कर्म करता हुआ भी अकर्ता ही है, क्योंकि आत्मा सदा असंग अक्रिय है, इस ज्ञान के प्रताप से मुक्त होता है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

अन्वय—अनिष्टम् १ च २ इष्टम् ३ मिश्रम् ४ त्रिविधम् ५ कर्मणः ६ फलम् ७ प्रेत्य ८ अत्यागिनाम् ९ भवति १० तु ११ संन्यासिनाम् १२ क्वचित् १३ न १४ ।

अर्थ—जो कर्मों का फल त्याग देते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर, उनको परमानन्द परम फल की प्राप्ति होती है। और जो सकाम कर्म करते हैं, उनको इष्ट, अनिष्ट, और इष्टानिष्ट अर्थात् मिला हुआ, यह तीन प्रकार का फल होता है।

और जो विना अन्तःकरण शुद्ध हुए कर्म छोड़ देते हैं, वे सदा नरक में रहते, और पशु-पक्षियों की योनियों में जन्म लेकर बार-बार मरते हैं। इसवास्ते श्रीभगवान् जिज्ञासु को बार-बार निष्काम उपदेश फल के सहित करते हैं। नरक आदि १ और २ स्वर्ग आदि ३ मि० और * मर्त्यलोक में मनुष्य आदि देहों की प्राप्ति ४ मि० यह * तीन प्रकार ५ कर्म का ६ फल ७ मर करके ८ सकामों को ९ होता है १० और ११ संन्यासियों को १२ कभी १३ नहीं १४ मि० होता है *

तात्पर्य—स्वर्ग आदि अनित्य और दुःखदायी पदार्थ हैं। भगवद्भजन करके जो अनित्य फल की प्राप्ति हुई तो क्या हुआ। नित्य एकरस परमानन्द की प्राप्ति होना चाहिए, सो संन्यासियों को ही होती है, यह श्रीभगवान् स्पष्ट निःसन्देह कहते हैं ॥ १२ ॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

अन्वय—महाबाहो १ सर्वकर्मणाम् २ सिद्धये ३ एतानि ४ पञ्च ५ कारणानि ६ सांख्ये ७ कृतान्ते ८ प्रोक्तानि ९ मे १० निबोध ११।

अर्थ—कर्म और कर्मों के फल का त्याग तब हो सकता है, जब कर्मों के कारण का ज्ञान हो, इसवास्ते कर्मों के जो कारण हैं उनको बतलाते हैं। हे अर्जुन! १ सब कर्मों की २ सिद्धि के वास्ते ३ ये ४ पाँच ५ कारण ६ सांख्य कृतान्त में ७। ८ कहे हैं। मि० उनको * ९ मुझसे १० सुन ११ ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

अन्वय—अधिष्ठानं १ तथा २ कर्ता ३ करणम् ४ च ५ पृथग्विधम् ६ विविधाः ७ च ८ पृथक्चेष्टाः ९ दैवम् १० च ११ एव १२ अत्र १३ पञ्चमम् १४।

---

१ जिस शास्त्र से परमात्मा का स्वरूप भले प्रकार जाना जावे, उसको सांख्य कहते हैं। ब्रह्मविद्या वेदान्तशास्त्र का नाम सांख्य है। और कर्मों का अन्त है जिसमें, उसको कृतान्त कहते हैं। यह सांख्य का विशेषण है।

अर्थ—कर्म करने में ये पाँच हेतु हैं। स्थूल-शरीर, भौतिक-इन्द्रिय आदि का आश्रय १ चैतन्य और जड़ की ग्रन्थि अहंकार अर्थात् सोपाधिक चैतन्य २। ३ और इन्द्रिय ४। ५ पृथक् स्वरूपवाली ६ और कई प्रकार की ७। ८ मि० ये दोनों चौथे पद करण अर्थात् इन्द्रिय के विशेषण हैं। मूल में 'करणम्' यह चौथा पद है और * प्राण अपान आदि ९ और दैव १०। ११। १२ इनमें १३ पाँचवाँ अर्थात् इन्द्रियों की देवता १४।

तात्पर्य—शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, और अज्ञान, इनके साथ मिला हुआ चैतन्य कर्ता है, और इनसे पृथक् अकर्ता है ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

अन्वय—नरः १ शरीरवाङ्मनोभिः २ यत् ३ कर्म ४ प्रारभते ५ वा ६ न्याय्यम् ७ वा ८ विपरीतम् ९ तस्य १० एते ११ पञ्च १२ हेतवः १३।

अर्थ—प्राणी १ शरीर, वाणी, मन से २ जो ३ कर्म ४ प्रारंभ करता है ५ या ६ अच्छा ७ या ८ बुरा ९ उसके १० ये ११ पाँच १२ हेतु १३ मि० हैं, जो पिछले श्लोक में शरीर आदि कहे गए हैं * शरीर १ सोपाधिचैतन्य २ इन्द्रिय ३ प्राण ४ दैव ५ अर्थात् आदित्य आदि देवता, यही पाँच करण हैं। केवल आत्मा कारण है, कर्ता नहीं, अगले मंत्र में भगवान् स्पष्ट कहेंगे ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

अन्वय—तत्र १ एवम् २ सति ३ तु ४ यः ५ आत्मानम् ६ केवलम् ७ कर्तारम् ८ पश्यति ९ अकृतबुद्धित्वात् १० सः ११ दुर्मतिः १२ न १३ पश्यति १४।

अर्थ—जब कि सब कर्मों में ये पाँच हेतु हैं, तो फिर केवल आत्मा को कर्ता समझना मूर्खता है। वहाँ अर्थात् सब कर्मों में १ इस प्रकार होने पर २। ३ फिर ४ जो ५ आत्मा को ६ केवल ७ कर्ता ८ देखता है ९ मि० इसका हेतु यह है कि सत्

शास्त्र और सद्गुरु के उपदेशरहित होने से अर्थात् गुरु ने उसको ब्रह्मज्ञान का उपदेश नहीं किया, इसवास्ते ७ अकृत बुद्धि होने से अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान न होने से १० वह ११ मंदमति १२ सि० आत्मा को यथार्थ ~ नहीं १३ देखता है १४।

तात्पर्य—जैसा पिछले मंत्र में कहा है इस प्रकार वास्तव में आत्मा शुद्ध, सच्चिदानन्द निर्विकार अक्रिय है। शरीर इन्द्रिय आदि भ्रान्ति के सम्बन्ध से अज्ञानियों को जल-चन्द्रवत् आत्मा कर्ता प्रतीत होता है, जिन्होंने वेदान्त-शास्त्र श्रद्धापूर्वक नहीं श्रवण किया ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबद्ध्यते ॥ १७॥

अन्वय—यस्य १ अहंकृतः २ भावः ३ न ४ यस्य ५ बुद्धिः ६ न ७ लिप्यते ८ सः ९ इमान् १० लोकान् ११ अपि १२ हत्वा १३ न १४ हन्ति १५ न १६ निबध्यते १७।

अर्थ—सुमति अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाले जो आत्मा को अक्रिय जानते हैं, वे कर्म करते हुए भी अकर्ता हो हैं। इस बात को कैमुतिक-न्याय से श्रीभगवान् दृढ़ करते हैं अर्थात् जब बुरे कर्म हिंसा आदि उसको बन्धन नहीं करते, तो भले कर्म यज्ञ आदि उसको कैसे बन्धन करेंगे। जिसको १ अहंकृत २ भाव ३ नहीं अर्थात् यह कर्म मैंने नहीं किया, इस कर्म के करने में शरीर आदि पाँच हेतु हैं। मैं शुद्ध असंग अविद्या-रहित हूँ, ऐसा जो समझता है ४ सि० और ७ जिसकी ५ बुद्धि ६ नहीं ७ लिपायमान होती है अर्थात् किसी प्रकार का शुभाशुभ कर्म प्रारब्धवशात् हो जावे और जिसको किंचिन्मात्र हर्ष शोक न होवे ८ वह ९ इन १० लोकों को ११ भी १२ मारकर १३ नहीं १४ मारता है १५ न १६ बन्धन को प्राप्त होता है १७।

तात्पर्य—जो मुमुक्षु दिन-रात मुक्ति के लिये यथाशक्ति यत्न करते हैं, जहाँ तक हो सकता है, देश काल वस्तु के अनुसार भगवद्भजन, पूजा, पाठ, जप तीर्थ-स्नान आदि कर्म करते रहते हैं, परलोक के विषय में जिनकी आस्तिक्य बुद्धि है, और शुभ कर्मों के प्रताप से शुद्धान्तःकरण होकर जिनको आत्म-

ज्ञान प्राप्त हुआ है, उनसे कदाचित् किसी पिछले पाप का उदय होने से, प्रारब्धवशात् कोई बुरा कर्म हो जावे, तो ऐसे महात्माओं को उस कर्म का दोष कभी नहीं लगेगा। जो उसको दोष समझेंगे, उसका फल उनको होगा। वेद, शास्त्र और ईश्वर का इस बात में सम्मत है ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

अन्वय—परिज्ञाता १ ज्ञानम् २ ज्ञेयम् ३ त्रिविधा ४ कर्मचोदना ५ कर्ता ६ कर्म ७ करणम् ८ इति ९ त्रिविधः १० कर्मसंग्रहः ११ ।

अर्थ—अब अन्य प्रकार से आत्मा को अकर्ता सिद्ध करते हैं। ज्ञाता[1] १ ज्ञान[2] २ ज्ञेय[3] ३ तीन प्रकार ४ कर्म की प्रेरणा है ५ सि० और * कर्ता ६ कर्म ७ करण ८ यह ९ तीन प्रकार १० कर्मसंग्रह ११ सि० है *।

तात्पर्य—चिदाभास, अन्तःकरण की वृत्ति, और श्रोत्र आदि इंद्रिय, यही कर्म की प्रवृत्ति में हेतु[4] हैं। आत्मा कूटस्थ निर्विकार है। बन्ध मोक्ष चिदाभास को ही है। आत्मा बन्ध मोक्ष शब्दों का विषय भी नहीं ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

अन्वय—कर्ता १ च २ कर्म ३ च ४ ज्ञानम् ५ गुणभेदतः ६ गुणसंख्याने ७ त्रिधा ८ एव ९ प्रोच्यते १० तानि ११ अपि १२ यथावत् १३ शृणु १४ ।

अर्थ—कर्ता कर्म आदि सब त्रिगुणात्मक हैं और आत्मा त्रिगुणरहित है। कर्ता १ और २ कर्म ३ और ४ ज्ञान ५ गुणों के भेद से ६ सांख्य-शास्त्र में ७ तीन प्रकार के ८। ९ कहे गए हैं १० उनको ११। १२ यथार्थ १३ सुन १४।

तात्पर्य--कर्ता आदि में तीन-तीन भेद हैं--सत्त्व, रज, तम और यह

---

१ जाननेवाला। २ जिससे जाना जावे। ३ जानने योग्य। ४ कर्म की प्रवृत्ति में हेतु। ५ क्रिया का आश्रय।

तीनों गुण अज्ञान से कल्पित हैं। अज्ञान के दूर होने से परमानन्द-स्वरूप नित्य-प्राप्त आत्मा की प्राप्ति होती है। तमोगुण को रजोगुण से दूर करे, रजोगुण को सत्त्वगुण से, और सत्त्वगुण को ब्रह्म-विद्या से दूर करे। इसीवास्ते यह तीन प्रकार का भेद दिखाकर आत्मा को इन तीनों गुणों से पृथक् दिखलाया है ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

अन्वय--विभक्तेषु १ सर्वभूतेषु २ येन ३ अविभक्तम् ४ एकम् ५ भावम् ६ अव्ययम् ७ ईक्षते ८ तत् ९ ज्ञानम् १० सात्त्विकम् ११ विद्धि १२ ।

अर्थ—सात्त्विक ज्ञान यह है। पृथक्-पृथक् सब भूतों में १।२ जिस ज्ञान से ३ अनुस्यूत ४ एक ५ भाव ६ निर्विकार ७ सि० परमात्मा को * देखता है ८ वह ९ ज्ञान १० सत्त्वगुणी ११ तू जान १२ ।

तात्पर्य—जैसे वस्त्र में सूत अनुस्यूत हैं, इसी प्रकार ब्रह्माजी से लेकर चींटी तक सब भूतों में सच्चिदानन्द-स्वरूप शुद्ध निर्विकार परमात्मा एक ही है। देहों की उपाधि से पृथक्-पृथक् देवता, मनुष्य, पशु आदि कहा जाता है। जिस ज्ञान से आत्मा को इस प्रकार जानते हैं, वह ज्ञान सत्त्वगुणी है। अद्वैतवादियों का यही ज्ञान है ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

अन्वय--पृथक्त्वेन १ तु २ यत् ३ ज्ञानम् ४ तत् ५ ज्ञानम् ६ राजसम् ७ विद्धि ८ सर्वेषु ९ भूतेषु १० नाना ११ भावान् १२ पृथक् १३ विधान् १४ वेत्ति १५ ।

अर्थ--भेदवादियों के रजोगुणी ज्ञान को कहते हैं। पृथग्भाव करके १।२ जो ३ ज्ञान ४ उस ज्ञान को ५।६ रजोगुणी ७ तू जान ८ सि० इसी बात को फिर स्पष्ट करके कहते हैं * सब भूतों में ९।१० नाना प्रकार के ११ पदार्थों को १२

पृथक् १३ प्रकार १४ जो जानता है १५ सि० जिस ज्ञान से, उस ज्ञान को रजोगुणी तू जान * ।

तात्पर्य—निरवयव-पदार्थ सच्चिदानंद-स्वरूप परमात्मा से आत्मा को पृथग्भाव करके जानना, अर्थात् परमात्मा चिद्घन है और आत्मा चित्कण है, इस प्रकार भेदवादी आत्मदृष्टि से भी अर्थात् निरवयव आत्मा में भी भेद को सिद्धान्त जानते हैं । अविद्या की उपाधि से देहदृष्टि करके भ्रान्ति-जन्य भेद व्यवहार में प्रतीत होता है, जिसको रजोगुणी भेदवादी सिद्धान्त समझते हैं । इसी हेतु रजोगुणी ज्ञान भेदवादियों का है ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अन्वय—यत् १ तु २ एकस्मिन् ३ कार्ये ४ कृत्स्नवत् ५ सक्तम् ६ अहैतुकम् ७ च ८ अतत्त्वार्थवत् ९ अल्पम् १० तत् ११ तामसम् १२ उदाहृतम् १३ ।

अर्थ—तमोगुणी ज्ञान को कहते हैं । जो १ । २ सि० ज्ञान * एक ३ कार्य में ४ संपूर्णवत् ५ सक्त ६ सि० है * अर्थात् एक कार्य में संपूर्णवत् जो ज्ञान है, जैसे आपको देहदृष्टि से ब्राह्मण संन्यासी केवल स्थूल शरीर को जानना, और पाषाण की मूर्ति को, वा श्रीरामचन्द्र आदि सावयव मूर्ति को ही परमार्थ में परमात्मा जानना अर्थात् इनसे परे कुछ अन्य निरवयव सच्चिदानन्द शुद्धतत्त्व नहीं है, मूर्तिमान् ही परमात्मा है, यह शरीर ही ब्राह्मण संन्यासी है, यही पाषाण की मूर्ति परमेश्वर है, यह ज्ञान ६ हेतुरहित अर्थात् ऐसे ज्ञान में कोई युक्ति नहीं ७ और ८ परमार्थ (सिद्धान्त) नहीं है ९ सि० परमतत्त्व सिद्धान्त की प्राप्ति का एक साधन है । फिर कैसा है कि * तुच्छ है १० सि० क्योंकि इसका फल अल्प है । वैराग्य आदि साधनों की अपेक्षा इस ज्ञान से चिरकाल में अन्तःकरण शुद्ध होता है । इस प्रकार का जो ज्ञान * वह ११ तमोगुणी १२ कहलाता है १३ ।

तात्पर्य—ज्ञानी भी तीन प्रकार के हैं । सात्त्विक ब्रह्मज्ञान के बिना रजोगुणी और तमोगुणी ज्ञान में अटक जाना, और इसी ज्ञान से मोक्ष

समझ लेना मूर्खता है। इस समझ से जो साधन को सिद्धान्त समझते हैं, वही तमोगुणी ज्ञान है॥ २२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

अन्वय--अफलप्रेप्सुना १ यत् २ नियतम् ३ कर्म ४ सङ्गरहितम् ५ अरागद्वेषतः ६ कृतम् ७ तत् ८ सात्त्विकम् ९ उच्यते १०।

अर्थ--कर्म तीन प्रकार का है, प्रथम सत्त्वगुणी कहते हैं। नहीं फल की चाह है जिसको, उससे १ जो २ नित्य ३ कर्म ४ संगरहित ५ विना राग द्वेष के ६ किया ७ वह ८ सत्त्वगुणी ९ कहलाता है १०।

तात्पर्य--स्नान, ध्यान, पाठ, पूजा, तीर्थ, साधुसेवा इत्यादि कर्म करना शास्त्र की आज्ञा है। कर्म में आसक्ति (प्रीति) करने और फल की चाह करने से बन्धन होता है, इस वास्ते कर्म में प्रीति, द्वेष और आसक्ति न करना चाहिए। वह कर्म अन्तःकरण को शुद्ध करके परमानन्द-स्वरूप आत्मा को प्राप्त करता है। आसक्ति प्रीति उस पदार्थ में चाहिए, जो नित्य एकरस हो। और इसी प्रकार फल की चाह न करना चाहिए। फल प्राप्त होने के पीछे भी साधनों में राग द्वेष न चाहिए॥ २३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

अन्वय--कामेप्सुना १ यत् २ कर्म ३ साहङ्कारेण ४ क्रियते ५ वा ६ तु ७ पुनः ८ बहुलायासम् ९ तत् १० राजसम् ११ उदाहृतम् १२।

अर्थ--रजोगुणी कर्म कहते हैं। फल की कामना है जिसको, उससे १ जो २ कर्म ३ अहंकार के सहित ४ किया जाता है ५ और ६। ७। ८ बहुत श्रम हो जिसमें ९ वह १० सि० कर्म * रजोगुणी ११ कहलाता है १२।

तात्पर्य--पुत्र, स्त्री, धन, स्वर्ग आदि भोगों के निमित्त, वा यह अहंकार करके कि हमारे बराबर अग्निहोत्री कौन है, हमने जितने तीर्थ किए उतने

कोई नहीं कर सकता। ब्रह्म-ज्ञान से क्या होता है, कर्म ही सब कुछ है। अब हम चारों धाम कर चुके, इस हेतु हम कृतकृत्य हैं। और कर्म करने में इतना श्रम करना कि विचार किंचित् भी न हो, जैसे तीर्थ-यात्रा में प्रातःकाल से सायंकाल तक ब्राह्म-मुहूर्त और प्रदोषकाल में चार गौ कोस चलना चाहिए इसके विपरीत चलना इत्यादि, इस प्रकार के कर्म सब रजोगुणी हैं ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

अन्वय—अनुबन्धम् १ क्षयम् २ हिंसाम् ३ च ४ पौरुषम् ५ अनवेक्ष्य ६ मोहात् ७ कर्म ८ आरभ्यते ९ तत् १० तामसम् ११ उदाहृतम् १२।

अर्थ—तमोगुणी कर्म कहते हैं। पश्चाद्भावी १ द्रव्य आदि का खर्च २ हिंसा ३ और ४ पुरुषार्थ ५ सि० इन चारों को * न देखकर ६ मोह से ७ सि० जिस * कर्म का ८ आरम्भ किया जाता है ९ वह १० तमोगुणी ११ कहलाता है १२।

तात्पर्य—औरों की देखा-देखी, या सुनकर, विचार न करके अर्थात् जो मैं यह कर्म करूँगा तो मुझको पीछे इसका फल क्या होगा ? इस कर्म में कितना द्रव्य व्यय होगा ? मुझको वा औरों को कितना दुःख होगा ? यह काम मुझसे हो सकेगा वा नहीं ? यह न विचार कर मूर्खता से कर्म का प्रारम्भ कर देना तमोगुणी कहलाता है, क्योंकि विना विचार के शब्द बोलने में भी किसी जगह न्योता-वैर हो जाता है। इसी प्रकार विना विचार तीर्थ, व्रत, मंदिर आदि के आरम्भ कर देने में सिवाय दुःख और पाप के कुछ नहीं मिलता। खोटे कर्मों का तो कुछ प्रसंग ही नहीं; वे तो विचार-पूर्वक, और विना विचार किए हुए सब प्रकार से अनर्थ की मूल हैं ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

अन्वय—मुक्तसङ्गः १ अनहंवादी २ धृत्युत्साहसमन्वितः ३ सिद्ध्यसिद्ध्योः ४ निर्विकारः ५ कर्ता ६ सात्त्विकः ७ उच्यते ८।

अर्थ—कर्ता तीन प्रकार का है। प्रथम सत्त्वगुणी कर्ता को कहते हैं। संगरहित १ अहंकाररहित २ धैर्य उत्साह से युक्त ३

सिद्धि और असिद्धि में ४ निर्विकार ५ सि० ऐसा * कर्ता ६ सत्त्वगुणी ७ कहलाता है ८।

तात्पर्य—कर्मों में आसक्त न होना चाहिए, क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि के पीछे कर्मों को त्यागना होगा। जिस पदार्थ से एक दिन जुदा होना है, उसकी प्राप्ति के समय भी उसमें प्रीति न रखना चाहिए। अथवा संगरहित का अर्थ यह समझना चाहिए कि मैं असंग हूँ। अहंकार न करना कि मैं ऐसा वेदोक्त कर्म करता हूँ। कर्म करने में धैर्य और उत्साह रखना, जो धैर्य, उत्साह न होगा, तो कभी कर्म में प्रवृत्ति और स्थिति न होगी। उत्साह से कर्म में प्रवृत्ति होती है, और धैर्य से कर्म में स्थिति रहती है। और कर्म की सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहना। दैवयोग से जो कर्म प्रत्यक्ष फल दे, जैसा फल शास्त्र में लिखा है, या वैसा फल न हो, तो दोनों में निर्विकार रहना चाहिए। जो पदार्थ नश्वर है, या जिसका होना और न होना बराबर है, प्रत्युत होकर नाश होने से न होना श्रेष्ठ है। परम फल अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा परमानंद-स्वरूप आत्मा पर दृष्टि चाहिए। सत्त्वगुणी कर्मों को जो सत्त्वगुणी कर्ता पुरुष करेगा, तो निःसंदेह उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा॥ २६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

अन्वय—रागी १ कर्मफलप्रेप्सुः २ लुब्धः ३ हिंसात्मकः ४ अशुचिः ५ हर्षशोकान्वितः ६ कर्ता ७ राजसः ८ परिकीर्तितः ९।

अर्थ—रजोगुणी कर्ता को कहते हैं। प्रीतिवाला अर्थात् पुत्र आदि की प्रीति के अर्थ कर्म करनेवाला १ कर्मों के फल को चाहनेवाला २ लोभी अर्थात् पराये धन की इच्छा करनेवाला ३ दूसरे को दुःख देनेवाला ४ अपवित्र ५ हर्ष-शोक से युक्त ६ सि० ऐसा * कर्ता ७ रजोगुणी ८ कहलाता है ९।

तात्पर्य—जो पुरुष पुत्र मित्र आदिकों को प्रसन्न करने के लिये अर्थात् यह जो मैं कर्म करता हूँ, इस कर्म के देखने-सुनने से मेरे मित्र आदि आनंदित होंगे, इस दृष्टि से कर्म करना, कर्मों में राग रखना, फल को चाहना, पराई स्त्री, धन आदि की इच्छा रखना, हमको अच्छा कर्म करता हुआ देख-सुनकर राजा प्रजा दान देंगे। कर्म करने के समय दूसरे के दुःख पर दृष्टि न

देना, भीतर बाहर से अपवित्र रहना, कर्म की सिद्धि में हर्ष करना, असिद्धि में शोक करना, इस प्रकार का कर्ता रजोगुणी है। जो इस प्रकार वेदोक्त कर्म भी करता है, तो वह कर्म मोक्ष का हेतु न होगा ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अन्वय—अयुक्तः १ प्राकृतः २ स्तब्धः ३ शठः ४ नैष्कृतिकः ५ अलसः ६ विषादी ७ दीर्घसूत्री ८ च ९ कर्ता १० तामसः ११ उच्यते १२ ।

अर्थ—तमोगुणी कर्ता को कहते हैं । कर्म करने के समय कर्म में चित्त न रखना १ विवेकरहित अर्थात् यह न समझना कि कर्म करने का यथार्थ फल क्या है २ अनम्र ३ मायावी अर्थात् कर्म तो वेदोक्त करना और मन में यह रखना कि दूसरे को धोखा देकर उसका धन छीन लेना चाहिए, इस बात को छिपानेवाला ४ दूसरे की आजीविका का नाश करनेवाला, अपमान करनेवाला ५ आलसी ६ सदा रोती हुई सूरत अर्थात् अप्रसन्न रहनेवाला ७ जो काम घड़ी में करने का है उसको दो चार प्रहर या महीना लगा देनेवाला अर्थात् तनिक से काम का बहुत विस्तार कर देनेवाला ८ । ९ सि० ऐसा * कर्ता १० तमोगुणी ११ कहलाता है १२ ।

तात्पर्य—अपने को कर्मनिष्ठ समझकर और ज्ञाननिष्ठ भगवद्भक्तों को शूद्र आदि समझकर उनको नमस्कार न करना इत्यादि तमोगुणी कर्म है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

अन्वय—धनञ्जय १ बुद्धेः २ धृतेः ३ च ४ भेदम् ५ गुणतः ६ त्रिविधम् ७ पृथक्त्वेन ८ प्रोच्यमानम् ९ अशेषेण १० एव ११ शृणु १२ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ बुद्धि का २ और धैर्य का ३ । ४ भेद ५ गुणों से ६ तीन प्रकार का ७ जुदा-जुदा ८ कहना है ९ सि० जो अगले छः श्लोकों में, उसको * समस्त १० । ११ सुन १२ ।

तात्पर्य — संसार में रजोगुणी और तमोगुणी बुद्धिवाले भी बुद्धिमान कहे जाते हैं, किंतु वह उनकी समझ मोक्ष के लिये नहीं है। परमार्थ की बात तमोगुणी और रजोबुद्धिवाले नहीं जानते, उनको बुद्धिमान् समझ कर, परमार्थ में उनकी समझ पर विश्वास रखकर अनुष्ठान न करना चाहिए। इस वास्ते श्रीभगवान् बुद्धि का भेद दिखाते हैं ॥ २६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

अन्वय—पार्थ १ या २ बुद्धिः ३ प्रवृत्तिम ४ च ५ निवृत्तिम् ६ च ७ कार्या-कार्ये ८ भयाभये ६ बन्धम् १० च ११ मोक्षम् १२ वेत्ति १३ सा १४ सात्त्विकी १५।

अर्थ—बुद्धि तीन प्रकार की है, प्रथम सत्त्वगुणी बुद्धि को कहते हैं। हे अर्जुन! १ जो २ बुद्धि ३ प्रवृत्ति को ४ और ५ निवृत्ति को ६ और ७ कार्य-अकार्य ८ भय-अभय ६ बन्ध १० और ११ मोक्ष को १२ जानती है १३ वह १४ सत्त्वगुणी १५ मि० बुद्धि है *

तात्पर्य—प्रवृत्ति बंध का हेतु, और निवृत्ति मोक्ष का हेतु है। इस देश काल में ऐसे पुरुष को यह करना योग्य है, यह अयोग्य है, खोटे काम करने में भय होगा, भगवद्भजन विवेक वैराग्य आदि शुभ कर्मों में भय नहीं, इस प्रकार कर्म करने से बन्ध होता है, इस प्रकार कर्मों के करने से मुक्ति होती है, ऐसी जिनकी बुद्धि है वह सत्त्वगुणी है। बहुत कर्म ऐसे हैं कि वे किसी के लिये अच्छे हैं, किसी के लिये बुरे हैं। एक काम किसी देश काल में कोई कर सकता है, और वही काम किसी देश काल में नहीं हो सकता। किसी को एक कर्म करने का अधिकार है, और किसी को उसी कर्म के त्यागने का अधिकार है। ऐसी-ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिनको निवृत्ति सत्त्वगुणी महापुरुष जानते हैं। केवल वेद-शास्त्र के पढ़ने-सुनने से तात्पर्यार्थ नहीं जाना जाता। एक-एक बात समझाने के लिये नाना प्रकार की रीतियाँ हैं। महात्मा लोग यदि प्रसन्न हो जावें, तो अनेक दृष्टांत और युक्तियों से समझा सकते हैं ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अन्वय—पार्थ १ यया २ धर्मम् ३ अधर्मम् ४ च ५ कार्यम् ६ च ७ अकार्यम् ८ एव ९ च १० अयथावत् ११ प्रजानाति १२ सा १३ बुद्धिः १४ राजसी १५ ।

अर्थ—रजोगुणी बुद्धि कहते हैं। हे अर्जुन ! १ जिस बुद्धि से २ धर्म को ३ और अधर्म को ४।५ कार्य और अकार्य को ६।७।८।९।१० संदेहसहित ११ जानता है अर्थात् यथावत् (जैसे का तैसा) नहीं जानता है १२ मि० उसकी * वह १३ बुद्धि १४ रजोगुणी है १५ ।

तात्पर्य—धर्म अधर्म में जिसको संदेह बना रहता है, उसकी बुद्धि रजोगुणी है। यह जीव सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्णब्रह्म है वा नहीं, वेद-शास्त्र में अद्वैत सिद्धान्त सत्य है वा नहीं, कर्मों के संन्यास से मोक्ष होता है वा नहीं, निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है वा नहीं, वेद-शास्त्र प्रमाण हैं वा नहीं, इस प्रकार के संदेह रजोगुणी बुद्धि के दोष हैं ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अन्वय—पार्थ १ या २ बुद्धिः ३ तमसावृता ४ अधर्मम् ५ धर्मम् ६ इति ७ मन्यते ८ च ९ सर्वार्थान् १० विपरीतान् ११ सा १२ तामसी १३ ।

अर्थ—तमोगुणी बुद्धि कहते हैं। हे अर्जुन ! १ जो २ बुद्धि ३ तमोगुण से ढकी हुई ४ मि० है, जिस बुद्धि से * अधर्म को ही धर्म ५।६।७ मानता है ८ और ९ सब अर्थों को १० विपरीत ११ सि० समझता है * वह १२ तमोगुणी १३ सि० बुद्धि है *

तात्पर्य—जो पुरुष सनातन श्रौत-स्मार्त-धर्म को छोड़, इस कलियुग में मनुष्यों ने जो सम्प्रदाय और पन्थ अपने नाम से चलाए हैं, उनको धर्म समझ कर उस रास्ते पर चलते हैं, तो विचार करना चाहिए कि श्रौत-स्मार्त-मार्ग में क्या दोष है, जो उसको त्यागकर कल्पित मार्ग को धर्म समझते हैं, यही तमोगुणी बुद्धि का दोष है। और श्रुति-स्मृतियों का अर्थ अपने मत के अनुसार करना, यही विपरीत अर्थ है। श्रुति-स्मृति-प्रतिपाद्य-मार्ग सनातन धर्म है, और कलियुग में जो मत चले हैं वे श्रुति-स्मृति के विरुद्ध हैं, क्योंकि जो वे श्रुति-स्मृति के अनुसार होते, तो उस संप्रदाय और पन्थ

का जुदा एक नाम क्यों बनाया जाता । स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रुति-स्मृतियों का कुछ आशय लिया गया है, कुछ अर्थ उलटा किया गया है, कुछ अपनी बुद्धि से लिख दिया गया और कह दिया गया है कि यह ग्रंथ श्रुति-स्मृतियों के अनुसार है, यही दोष तमोगुणी बुद्धि के हैं ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

अन्वय—पार्थ १ यया २ धृत्या ३ मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ४ धारयते ५ सा ६ धृतिः ७ सात्त्विकी ८ योगेन ९ अव्यभिचारिण्या १० ।

अर्थ—अन्तःकरण की वृत्ति सत्त्वादि भेद से तीन-तीन प्रकार की हैं । इन सब वृत्तियों में से एक वृत्ति धृति को सत्त्वादि भेद से तीन प्रकार की दिखाते हैं । प्रथम सत्त्वगुणी धीरज को कहते हैं । हे अर्जुन ! १ जिस धृति से २ । ३ मन, प्राण, इन्द्रियों की क्रिया को ४ धारण करता है ५ वह ६ धृति ७ सत्त्वगुणी ८ सि० है, कैसी है धृति * कर्मयोग से अव्यभिचारिणी है ९ । १० ।

तात्पर्य—स्वभाव के वश से अन्तःकरण आदि अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त होते हैं । धैर्य से सबको वश करना चाहिए । क्षुत्पिपास आदि के समय व्याकुल न होना चाहिए । यह न हो सके, तो जानना कि कर्मयोग में अभी कचाई है । अभी अन्तःकरण की वृत्ति सत्त्वगुणी नहीं हुई । सत्त्वगुणप्रधान वृत्ति की परीक्षा के लिये श्रीभगवान् ने धृति का यह भेद दिखाया है । जब तक इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण का निरोध न हो सके, तब तक रज-स्तमःप्रधान वृत्ति को जानना, और उसकी निवृत्ति के लिये कर्मयोग का अनुष्ठान करना चाहिए । धृति तीन प्रकार की है, केवल यह जान लेने से मुक्ति न होगी ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

अन्वय—अर्जुन १ यया २ धृत्या ३ धर्मकामार्थान् ४ धारयते ५ तु ६ पार्थ ७ प्रसङ्गेन ८ फलाकांक्षी ९ सा १० धृतिः ११ राजसी १२ ।

अर्थ—रजोगुणी धृति को कहते हैं। हे अर्जुन ! १ जिस धृति से २।३ धर्म, काम, अर्थ को ४ धारण करता है अर्थात् धर्म, अर्थ, काम ही में तत्पर रहता है, मोक्ष में वृत्ति नहीं करता ५ और ६ हे अर्जुन ! ७ सि० जो धर्म आदि के * प्रसंग से ८ फल का चाहनेवाला है ९ सि० उसकी * वह १० धृति ११ रजोगुणी है १२।

तात्पर्य—शास्त्र के श्रवण करने से यह निश्चय करे कि कर्म निष्काम करना चाहिए, फिर उस कर्म के प्रसंग से पुत्र, धन, स्वर्ग, वैकुंठ आदि की इच्छा करने लगे, तो जानना चाहिए कि अन्तःकरण की वृत्ति रजःप्रधान है। जब तक कर्मयोग का फल स्वर्ग आदि समझता रहे, परंपरा से आत्मा को फल न समझे, तब तक वृत्ति को रजःप्रधान जानना चाहिए ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥ ३५ ॥

अन्वय—पार्थ १ दुर्मेधा २ यया ३ स्वप्नम् ४ च ५ भयम् ६ शोकम् ७ विषादम् ८ मदम् ९ एव १० न ११ विमुञ्चति १२ सा १३ धृतिः १४ तामसी १५ मता १६।

अर्थ—तमोगुणी धृति को कहते हैं। हे अर्जुन ! १ तमोगुणी बुद्धिवाला २ जिस धृति से ३ स्वप्न ४ और ५ भय ६ शोक ७ विषाद ८ मद को ९। १० नहीं ११ त्याग सकता है १२ वह १३ धृति १४ तमोगुणी १५ कहलाती है १६।

तात्पर्य—जागने के समय ब्राह्म मुहूर्त में भी न जागे, सोता ही रहे और कर्म करने के समय भी भय, शोक, विषाद, मद बने ही रहें, तो जानना चाहिए कि अन्तःकरण की वृत्ति तमःप्रधान है। जब तक तमोगुणी वृत्ति रहे, तब तक स्नान, ध्यान, साधुसेवा आदि कर्मों को अवश्य करे ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

अन्वय—भरतर्षभ १ इदानीम् २ तु ३ सुखम् ४ त्रिविधम् ५ मे ६ शृणु ७ यत्र ८ अभ्यासात् ९ रमते १० दुःखान्तम् ११ च १२ निगच्छति १३।

अर्थ—कर्ता कर्म करण आदि का भेद सत्त्वादि भेद से तीन-तीन प्रकार का कहा, अब उन सबका फल तीन-तीन प्रकार का कहते हैं। चतुर्दश अध्याय में सत्त्व रज तम का भेद कहा है, वहाँ यह दिखाया है कि ये तीनों गुण आत्मा को बन्धन करते हैं, और सत्रहवें अध्याय में जो भेद कहा है वहाँ यह दिखाया कि तप यज्ञ आदि रजोगुणी वा तामसी न करना चाहिए, सात्त्विकी करना चाहिए, क्योंकि सत्त्वगुणी पुरुष का ज्ञान में अधिकार है। और इस जगह (अठारहवें अध्याय में) सत्त्वादि भेद करके कार्य-कारण का यह भेद कहा, और सबका फल (सुख) तीन प्रकार का कहते हैं। यहाँ यह दिखाते हैं कि कर्ता, कर्म, करण आदि फलसहित सब त्रिगुणात्मक हैं। आत्मा का किसी से किसी प्रकार का वास्तव में कुछ सम्बन्ध नहीं, आविद्यक सम्बन्ध है। इस श्लोक के आधे में प्रतिज्ञा है और आधे में सत्त्वगुणी सुख का लक्षण है। हे अर्जुन! १ अब २ तो ३ सुख को ४ तीन प्रकार का ५ मुझसे ६ सुन ७ सि० प्रथम सत्त्वगुणी सुख को डेढ़ श्लोक में कहता हूँ * जिस सात्त्विक सुख में ८ सि० वृत्ति को * अभ्यास से अर्थात् शनैः शनैः नित्य प्रतिदिन बढ़ाता हुआ ९ रमता है १० सि० जो, वह * दुःखों के अन्त को ११। १२ प्राप्त होता है अर्थात् उसको फिर दुःख नहीं होता १३।

तात्पर्य—दुःख से पार हो जाता है। सब शास्त्रों के पढ़ने सुनने और कर्मों के अनुष्ठान करने का यही फल है कि सत्त्वगुणी वृत्ति प्रधान होकर सदा सत्त्वगुणी सुख बना रहे। इसी सुख में रमने से जल्दी अनिर्वाच्य, अप्रमेय, परात्पर, परमानन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति होती है॥ ३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

अन्वय—यत् १ अग्रे २ विषम् ३ इव ४ तत् ५ परिणामे ६ आत्मबुद्धिप्रसाजम् ७ अमृतोपमम् ८ तत् ९ सुखम् १० सात्त्विकम् ११ प्रोक्तम् १२।

अर्थ—जो १ सि० सुख * प्रथम, प्रारम्भ समय २ विष-वत् ३ । ४ सि० प्रतीत होता है * वह ५ पीछे ६ अपने अन्तः-करण के प्रसाद से ७ अमृत के सदृश ८ सि० हो जाता है * वह ९ सुख १० सत्त्वगुणी ११ कहलाता है १२ ।

तात्पर्य—वैराग्य, आत्मध्यान, ज्ञान, समाधि के समय, और शरीर, इन्द्रिय और प्राण के निरोध के समय प्रथम दुःख प्रतीत होता है । जब अन्तःकरण की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्ति कम हो जाती है; निर्मल सत्त्वगुणी वृत्ति प्रधान हो जाती है अर्थात् दया, क्षमा, कोमलता, सत्य, संतोष, धैर्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, सावधानता, मुक्ति की इच्छा, विवेक और वैराग्य इत्यादि ये वृत्तियाँ जब प्रधान होती हैं तब सुख अमृत के सदृश होता है इसवास्ते कहा कि वह सुख वास्तव में सच्चिदानन्द को दिखा देता है । बुद्धि की प्रसन्नता इसी को कहते हैं कि अन्तःकरण का रज तम दूर होकर यह सुख प्रकट होता है । इस सुख की अवधि के सामने रजोगुणी वा तमोगुणी सुख, जो आगे कहेंगे, तुच्छ हैं, और इस सुख के महत्त्व में शास्त्र और अनुभव दोनों प्रमाण हैं । जीते-जी इस सुख की अवधि का अनुभव हो सकता है । आत्मनिष्ठ और योगी जीते-जी इस सुख की अवधि का अनुभव कर सकते हैं । और रजोगुणी सुख की अवधि में शास्त्र पुराण आदि प्रमाण हैं । जीते-जी उस सुख की अवधि का अनुभव प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यत् १ विषयेन्द्रियसंयोगात् २ तत् ३ अग्रे ४ अमृ-तोपमम् ५ परिणामे ६ विषम् ७ इव ८ तत् ९ सुखम् १० राजसम् ११ स्मृतम् १२ ।

अर्थ—रजोगुणी सुख को कहते हैं । जो १ सि० सुख * शब्द आदि विषय और श्रोत्र आदि इन्द्रियों के संबन्ध से अर्थात् सुनने, देखने, बोलने और स्त्री-संग आदि से जो सुख होता है २ वह ३ प्रथम क्षण (भोग के समय) ४ अमृत के बराबर है ५ सि० और * भोग के पश्चात् ६ विष के बराबर ७ । ८ सि० है जो सुख

* वह ६ सुख १० रजोगुणी ११ कहलाता है १२ ।

तात्पर्य—विष के खाने से तो प्राणी एक बार ही मरता है, और शब्द आदि विषयों के भोगने से बार-बार मरता है । महात्मा अष्टावक्रजी ने कहा है कि हे प्यारे ! जो तू मुक्त होना चाहता है, तो विषयों को विषवत् त्याग । सावयव भगवन्मूर्ति और सावयव वैकुंठ-लोक आदि की जो इच्छा रखते हैं, वे इसी रजोगुणी सुख की अवधि को चाहते हैं । उसको सत्त्वगुणी व दिव्य सुख न समझना चाहिए, क्योंकि वह सुख श्रवण दर्शन आदि से होता है । तमोगुणी सुख और मलिन रजोगुणी सुख कि जो इस लोक में स्त्री आदि के सम्बन्ध से होता है, इससे सावयव लोकजन्य सुख श्रेष्ठ है । पुराण आदि में इसका माहात्म्य लिखा है । जो कोई शुद्ध सच्चिदानन्द निराकार ब्रह्म की उपासना करने को समर्थ नहीं हैं, उनको चाहिए कि मूर्तिमान् राम कृष्ण आदि की उपासना किया करें । जो निष्काम करेंगे, तो अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मोक्ष होगा, और जो मंद, सुगन्ध, शीतल पवन खाने की इच्छा से वा मणि माणिक्य आदि सौंदर्य देखने की इच्छा से सावयव भगवन्मूर्ति का ध्यान करते हैं, तो वे इस लोक में सुख का भोग करते हैं ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—यत् १ सुखम् २ निद्रालस्यप्रमादोत्थम् ३ च ४ अग्रे ५ च ६ अनुबन्धे ७ आत्मनः ८ मोहनम् ९ तत् १० तामसम् ११ उदाहृतम् १२ ।

अर्थ—तमोगुणी सुख को कहते हैं । जो १ सुख २ निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है अर्थात् खेल, मनोराज्य, हिंसा, लड़ाई, विषाद, क्रोध इत्यादि ३ और ४ पहिले ५ और ६ पीछे ७ आत्मा को ८ मोह करनेवाला ९ वह १० तमोगुणी ११ कहलाता है १२ ।

तात्पर्य—निद्रा, आलस्य, मनोराज्य और क्रोध आदि के समय न प्रथम सुख होता है, और न पीछे जीव को सुख की भ्रांति रहती है । असंख्यात पशु जो आदमी की सूरत में हैं, वे इसी तमोगुणी सुख की भ्रांति में मर जाते हैं । कभी किसी काल में रजोगुणी सुख का अनुभव किया

होगा, और सत्त्वगुणी सुख की तो गंध भी ऐसे पुरुषों के पास नहीं आती। जैसे रजोगुणी इस सुख को तुच्छ समझते हैं, ऐसे ही सत्त्वगुणी पुरुष तमोगुणी और रजोगुणी इन दोनों सुखों को तुच्छ समझते हैं, और ब्रह्मज्ञानी शुद्ध आनन्द को जाननेवाला तीनों सुखों को तुच्छ जानता है। ये तीनों गुण सबमें रहते हैं। जिसमें तमोगुण प्रधान, और रजोगुण वा सत्त्वगुण कम होता है, उसको तमोगुणी कहते हैं। रजोगुणी में दो भेद हैं। जो इसी लोक के शब्द आदि विषयों में तत्पर रहते हैं, वे बुरे कहे जाते हैं, और जो परलोक में रूप, रस आदि विषयों को भोगते हैं, वा इस लोक में वेदोक्त भोग भोगते हैं, वे अच्छे कहे जाते हैं। सत्त्वगुणी भी दो प्रकार के हैं। एक ब्रह्मज्ञानरहित योगी और दूसरे ज्ञानसहित योगी। ये दोनों रजोगुणी से श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मज्ञानरहित योगी से ब्रह्मवित् श्रेष्ठ हैं। तमोगुणी सबसे निकृष्ट हैं ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

अन्वय—पृथिव्याम् १ वा २ दिवि ३ वा ४ देवेषु ५ पुनः ६ यत् ७ सत्त्वम् ८ एभिः ९ त्रिभिः १० गुणैः ११ प्रकृतिजैः १२ मुक्तम् १३ स्यात् १४ तत् १५ न १६ अस्ति १७।

अर्थ—जो जो क्रिया का फल देखने में आता है, सबको त्रिगुणात्मक जानना चाहिए। पृथिवी १ वा २ स्वर्ग में ३ वा ४ देवतों में ५। ६ जो ७ पदार्थ ८ इन तीन गुणों से ९। १०। ११ सि० जो * माया से उत्पन्न हुए हैं १२ सि० इनसे * रहित १३ हो १४ वह १५ नहीं १६ है १७।

तात्पर्य—एक शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप नित्यमुक्त, आत्मा, स्थूल-सूक्ष्म-कारण, शरीरों से पृथक्, तीनों अवस्था का साक्षी त्रिगुणरहित है। उससे पृथक् इस लोक वा परलोक के सब पदार्थ जो जो देखने सुनने में आते हैं, सब माया-मात्र हैं। इस माया ने सबको भ्रान्त कर रक्खा है। देवता सत्त्वगुण में भ्रान्त, मनुष्य रजोगुण में भ्रान्त, पशु तमोगुण में भ्रान्त हैं। जो मनुष्य सत्त्वगुण में भ्रान्त है, वह देवता के सदृश है, और जो तमोगुण में भ्रान्त है, वह पशु के बराबर है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

अन्वय—परन्तप १ ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् २ च ३ शूद्राणाम् ४ कर्माणि ५ स्वभावप्रभवैः ६ गुणैः ७ प्रविभक्तानि ८ ।

अर्थ—यह गुणों की भ्रान्ति, जो पीछे कही गई है वह ब्रह्मविद्या के बिना नहीं दूर होती, और अज्ञान दूर हुए बिना परमानन्द-स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता । इसवास्ते अज्ञान की निवृत्ति के लिये ब्राह्मण आदि अपने-अपने धर्म का अनुष्ठान करें । ब्राह्मण आदि का धर्म आगे कहा जायगा । हे अर्जुन ! १ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के २ और ३ शूद्रों के ४ कर्म ५ जिनकी प्रकृति से उत्पत्ति है ऐसे ६ गुणों से ७ पृथक्-पृथक् ८ भि० हैं । अज्ञान की निवृत्ति के लिये उनका अनुष्ठान करना चाहिए, इसवास्ते मैं कहता हूँ ॥

तात्पर्य—ब्राह्मण आदि के कर्म गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक् हैं, सोई दिखाते हैं । सत्त्वगुण जिसमें प्रधान हो, वह ब्राह्मण; रजोगुण जिसमें प्रधान, सत्त्वगुण उससे कम, और तम सत्त्व से भी कम हो, वह क्षत्रिय; रजोगुण जिसमें प्रधान हो, तमोगुण कम हो, सत्त्व उससे भी कम हो, वह वैश्य; तमोगुण जिसमें प्रधान हो, वह शूद्र । स्पष्टार्थ होने के लिये एक यंत्र लिखे देते हैं । जिस गुण के नीचे तीन का अंक है, उसको प्रधान जानना; जिसके नीचे दो का अंक है उसको उससे कम जानना; जिसके नीचे एक का

ब्राह्मण.			क्षत्रिय			वैश्य.			शूद्र.		
सत्त्व	रज	तम	रज	सत्त्व	तम	रज	तम	सत्त्व	तम	रज	सत्त्व
३	२	१	३	२	१	३	२	१	३	२	१

अंक है, उसको उससे भी कम जानना । जैसे क्षत्रिय और वैश्य ये दोनों रजःप्रधान हैं, भेद इन दोनों में यह है कि क्षत्रिय में सत्त्व अधिक और तम कम है, वैश्य में तम अधिक और सत्त्व कम है । परमार्थ में तो यही चार विभाग हैं, और लौकिक व्यवहार में अनेक जातियाँ हैं । इस देश में हिंदू लोगों की यह रीति है कि ब्राह्मण को दूसरी जातियों की अपेक्षा बड़ा समझते हैं, क्षत्रिय को उससे कम, वैश्य को उससे भी कम और फिर अनेक जातियाँ

हैं। शूद्र व्यवहार में किसी का नाम नहीं है। कोई-कोई कायस्थों को शूद्र कहते हैं, परन्तु समस्त ब्राह्मण आदि आचार्य लोगों का इसमें सम्मत नहीं है। इसके सिवाय व्यवहार में सब लोग उनको कायस्थ ही कहते हैं, और उनका व्यवहार, चाल-चलन, क्रिया-कर्म ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों से कम नहीं, मद्य-मांस खाने-पीने से यह शंका नहीं की जाती कि कायस्थ शूद्र हैं, क्योंकि बहुत-से ब्राह्मण, क्षत्रिय भी मांस खाते हैं, और बहुत कायस्थ मद्य-मांस को छूते भी नहीं। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य श्रौत स्मार्त कर्म करते हैं, वैसे ही वे करते हैं। यह कायस्थ शब्द संस्कृत है, और जो इनकी जाति के भेद भटनागर, माथुर इत्यादि हैं, वे भी सब संस्कृत पद हैं। इस हेतु ये अन्त्यज भी नहीं हो सकते। लोक में द्रव्य, ऐश्वर्य, हुक्म, सौंदर्य, विद्या इत्यादि से बड़ाई होती है, और परमार्थ में भगवद्भजन आदि शुभ कर्म करने और ज्ञाननिष्ठ होने से बड़ाई होती है। यह कोई नहीं कह सकता कि कायस्थ भगवद्भजन करने से मुक्त न होंगे। तात्पर्य यह कि कायस्थ एक ऐसी जाति है, जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि हैं। व्यवहार में बहुत जातियाँ हैं, परमार्थ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार जातियाँ हैं। व्यवहार में रजपूत आदि को भी चार वर्ण में समझते हैं। जाट, गूजर आदि को कोई क्षत्रिय, कोई शूद्र, कोई अन्त्यज कहते हैं, यवन आदि को म्लेच्छ कहते हैं, यह सब व्यवहार की बोल-चाल है। जैसे मुसलमान वर्णाश्रमी को काफिर कहते हैं, वैसे ही हिंदू मुसलमानों को म्लेच्छ कहते हैं, परमार्थ दृष्टि से सब द्वीपों के निवासी गुणों की तारतम्यता से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं, क्योंकि सब त्रिगुणात्मक हैं। और सबका स्वामी एक ही है, वह सम है। यह बात कैसे समझ में आवे कि ऐसे स्वामी ने अन्य द्वीप-निवासियों के वास्ते परलोक का साधन न कहा हो। आगे जो श्रीभगवान् ब्राह्मण आदि का धर्म कहेंगे वह ऐसा साधारण है कि अब तक उस धर्म का किसी एक भी जाति में प्रचार नहीं है। शम दम आदि अँगरेज़ों और मुसलमानों में भी देखने में आते हैं, शम दम आदि धारण करने से यह लोग पाप के भागी न होंगे। इसी प्रकार खेती, वनिज और शूरता आदि का यह नियम नहीं कि शूरता आदि धर्म क्षत्रियों में ही हों, अन्य में न हों। प्रत्युत जो व्यवहार में क्षत्रिय कहे जाते हैं, उनमें शूरता आदि नहीं है, क्योंकि उनका राज्य बहुत दिनों से जाता रहा। परमार्थ दृष्टि से

परलोक का साधन करने के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं, जो पीछे यंत्र में लिखे हैं; व्यवहार में वे कोई जाति हों। व्यवहार में जो ब्राह्मण आदि कहलाते हैं, उनकी व्यवस्था यह है कि जिस काल में समस्त मनुष्यों के चार विभाग किए गए थे, तो वे विभाग कुछ दिन ऐसे चले कि ब्राह्मण का पुत्र सत्त्वप्रधान, शूद्र का पुत्र तमःप्रधान होता रहा। वीर्य और क्रिया में बिगाड़ न हुआ। अब इस समय न वीर्य का ठिकाना है, न क्रिया का, और न यह नियम रहा कि ब्राह्मण जाति में सत्त्वप्रधान ही उत्पन्न हों। ब्राह्मण तमःप्रधान देखने में आते हैं, और म्लेच्छ शूद्र सत्त्व-प्रधान देखने में आते हैं। जो तमःप्रधान को वेद पढ़ाया जावे, तो वह कब पढ़ सकता है, और सत्त्वप्रधान से टहल कराई जावे, तो कब कर सकता है। व्यवहार में तो यही समझना कि जैसा प्रचार है अर्थात् ब्राह्मण कैसा भी कुपात्र हो, इसी के जिमाने से लौकिक दृष्टि में सूतक का पातक दूर होता है। परमार्थ में यह समझना कि जिसमें शम दम आदि होंगे, वह मुक्ति का भागी होगा, मुमुक्षु का कल्याण भी इसीसे होगा। वही महाभारत में कहा है। वाक्य-वाद की कुछ अपेक्षा नहीं "न जातिः कारणं तात गुणाः कल्याणकारणम्। वृत्तिस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥" इस श्लोक का अर्थ यह है कि भीष्मजी राजा युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे तात! मुक्ति में जाति कारण नहीं, शम दम आदि गुण कारण हैं, जो शम आदि गुण चांडाल में भी होंगे, तो देवता उस चांडाल को ब्राह्मण कहेंगे। जो व्यावहारिक ब्राह्मण शम दम आदि साधनों से युक्त हो, तो वह सब से श्रेष्ठ है, इसमें कोई शंका नहीं कर सकता "अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः। अद्यापि श्रूयते घोषो द्वारावत्यामहर्निशम्॥" इस श्लोक का स्पष्ट अर्थ है कि ब्रह्म का जाननेवाला पढ़ा हुआ विद्वान् हो, वा पढ़ा हुआ न हो, ब्रह्मवित् ब्रह्म ही है, "ब्रह्मविन् ब्रह्मैव भवति" यह श्रुति है। लौकिक ब्राह्मण को भगवत्स्वरूप होना तो बहुत कठिन है, दस रुपए महीने की नौकरी भी उनको कठिनता से मिलती है। इसके सिवाय ऐसे वाक्यों में हठ करने से शास्त्र से बड़ा विरोध आता है। मूर्खों को मूर्ख ही पसंद करता है। इस देश में जो अन्य द्वीप-निवासियों का राज्य हुआ, ब्राह्मण आदि वर्ण उनके दास (गुलाम) बने, उसका कारण ऐसे ही ऐसे मूर्ख हैं। शास्त्र का पढ़ना सुनना छोड़ दिया।

मूर्खों के कहने पर चलने लगे। जो पुरुष काम क्रोध लोभ आदि में फँसा हुआ है, उसके कहने को सच्चा समझना कितनी बड़ी मूर्खता है। यह कब समझ में आवेगा कि ऐसे आदमी धोखा न देंगे, और जो पोथियाँ बहुत दिनों से उनके ही पास रही हैं, क्या आश्चर्य है कि उन पोथियों में कुछ-का-कुछ न बना दिया हो। विशेष क्या लिखें, इसी को बार-बार विचारना चाहिए ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—शमः १ दमः २ तपः ३ शौचम् ४ क्षान्तिः ५ आर्जवम् ६ एव ७ च ८ ज्ञानम् ९ विज्ञानम् १० आस्तिक्यम् ११ ब्रह्मकर्म १२ स्वभावजम् १३।

अर्थ—ब्राह्मणों का कर्म कहते हैं। जिसमें शम आदि गुण हों, वही ब्राह्मण है। व्यवहार में वह कोई जाति हो, जो ब्राह्मण बना चाहे, वह शम आदि कर्मों का अनुष्ठान करे। अन्तःकरण का निरोध १ इन्द्रियों का निरोध २ विचार करना वा व्रत आदि करके शरीर का निरोध करना ३ बाहर भीतर पवित्र ४ क्षमा ५ कोमलता ६ और ७। ८ ज्ञान ९ अनुभव १० विश्वास ११ सि० वेद शास्त्र आचार्य आदि के वाक्य में, यह * ब्राह्मण का कर्म १२ स्वाभाविक है १३।

तात्पर्य—पूर्व संस्कार से यह लक्षण ब्राह्मण में अपने आप अनायास होते हैं। ब्राह्मण की निष्ठा सदा इन्हीं कर्मों में रहती है। इस समय वीर्य और क्रिया का तो ठिकाना नहीं, और जो यह लक्षण भी न हों, तो कहो कैसे उसको ब्राह्मण जानकर उसके वाक्य पर निश्चय किया जावे। शम आदि ब्राह्मणों के साधारण कर्म हैं, और प्रतिग्रह (लेना), सूतक आदि पातक में जीमना, रसोई करना, विवाह आदि में सम्बन्धी के घर आना जाना, इस प्रकार के कर्म असाधारण हैं। इन कर्मों में उन्हीं ब्राह्मणों को अधिकार है, जो लौकिक व्यवहार में ब्राह्मण कहे जाते हैं। उनके सिवाय अन्य जाति को शोभा नहीं देते ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

अन्वय--शौर्यम् १ तेजः २ धृतिः ३ दाक्ष्यम् ४ युद्धे ५ च ६ अपि ७ अपलायनम् ८ दानम् ९ ईश्वरभावः १० च ११ क्षात्रम् १२ स्वभावजम् १३ कर्म १४ ।

अर्थ--क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म कहते हैं । शूरता १ प्रागल्भ्य २ धैर्य ३ चतुरता ४ युद्ध में ५ । ६ । ७ पीछे को न भागना ८ देना अर्थात् सुपात्रों को ९ नियामक शक्ति १० । ११ क्षत्रियों का १२ सि० यह * स्वाभाविक १३ कर्म है १४ ।

तात्पर्य--विचार करो, ये सब लक्षण आज-कल अँगरेजों में मौजूद हैं । जैसे इन कर्मों में अधिकार उनको था कि जो व्यवहार में क्षत्रिय जाति हैं, उनसे यह कर्म न हो सके, जिन्होंने ये कर्म किए, प्रत्यक्ष देख लो राज्य का भोग करते हैं । इसी प्रकार जो शम दम आदि साधन सम्पन्न हो, वह निःसन्देह परमानंद ब्रह्मसुख को भोगेगा । जो कोई यह शंका करे कि ये म्लेच्छ हैं, इनको राज्य का अधिकार नहीं, मरकर सब नरकगामी होंगे, आप्तकाम विद्वान् इस बात को कभी नहीं पसन्द करेंगे । सत्वादि गुणों की तारतम्यता से सद्गति वा दुर्गति सब जीवों की होती है, और इस लोक में सदा न पुण्यात्मा रहते हैं, न पापात्मा । अधिकार की व्यवस्था में यह भी सुना जाता है कि वैद्यक विद्या के पढ़नेवाले ब्राह्मण को ही चिकित्सा करने का अधिकार है । अब विचारो कि व्यवहार में वैद्यक विद्या किनकी अच्छी है, और ब्राह्मण जाति से अन्य जो वैद्यक करते हैं, उनसे रोगी की निवृत्ति होती है वा नहीं । इसी प्रकार सब कर्मों की व्यवस्था है ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

अन्वय--कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् १ स्वभावजम् २ वैश्यकर्म ३ परिचर्यात्मकम् ४ कर्म ५ शूद्रस्य ६ अपि ७ स्वभावजम् ८ ।

अर्थ--आधे श्लोक में वैश्य का कर्म, आधे में शूद्र का कर्म कहते हैं । खेती, गौ की रक्षा, बनिज करना १ सि० यह * स्वाभाविक २ वैश्य का कर्म ३ सि० है और * सेवा करना ४

सि० यह * कर्म ५ शूद्र का ही ६। ७ स्वाभाविक ८ सि० है *

तात्पर्य—शूद्र वैश्य और क्षत्रियों को चाहिए कि शम दम आदि सम्पन्न ब्राह्मण की यथा अधिकार यथाशक्ति सेवा करे। तब सबके धर्म बने रहेंगे॥ ४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

अन्वय—स्वे १ स्वे २ कर्मणि ३ अभिरतः ४ नरः ५ संसिद्धिम् ६ लभते ७ स्वकर्मनिरतः ८ सिद्धिम् ९ यथा १० विन्दति ११ तत् १२ शृणु १३।

अर्थ—अपने-अपने कर्मों का जो अनुष्ठान करते हैं उसका फल कहते हैं। अपने १ अपने २ कर्म में ३ प्रीति करनेवाला ४ मनुष्य ५ सि० अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा भगवत्प्रसाद से * मोक्ष को ६ प्राप्त होता है ७ अपने कर्म में निरंतर प्रीति करनेवाला ८ मोक्ष को ९ जैसे १० प्राप्त होता है ११ सो १२ सुन १३॥ ४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

अन्वय—यतः १ भूतानाम् २ प्रवृत्तिः ३ येन ४ इदम् ५ सर्वम् ६ ततम् ७ तम् ८ स्वकर्मणा ९ अभ्यर्च्य १० मानवः ११ सिद्धिम् १२ विन्दति १३।

अर्थ—आधे मन्त्र में ईश्वर का तटस्थ लक्षण कहकर फिर आधे श्लोक में उसी की भक्ति करने का फल कहते हैं। जिससे १ भूतों की २ प्रवृत्ति अर्थात् जिसकी सत्ता से सब जगत् चेष्टा करता है ३ सि० और * जिससे ४ यह ५ सब ६ सि० जगत् * व्याप्त ७ सि० हो रहा है * उस अन्तर्यामी ईश्वर का ८ अपने कर्म से ९ आराधन करके १० प्राणी ११ सि० अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा उसी अन्तर्यामी की कृपा से ज्ञाननिष्ठ होकर * परमानन्द-स्वरूप आत्मा को १२ प्राप्त होता है १३।

तात्पर्य—समस्त जगत् आनंदपूर्ण हो रहा है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं कि जिसमें आनंद न हो और वह आनंद ही साक्षात् भगवत् का स्वरूप है, जिसकी तनिक-सी छाया में त्रिलोक आनंदित है ॥ ४६ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् १ परधर्मात् २ स्वधर्मः ३ विगुणः ४ श्रेयान् ५ स्वभावनियतम् ६ कर्म ७ कुर्वन् ८ किल्बिषम् ९ न १० आप्नोति ११।

अर्थ—अपने धर्म में अवगुण समझ कर पराए धर्म का जो अनुष्ठान करते हैं उनको पाप होता है अर्थात् जो प्रवृत्ति-धर्म के योग्य हैं, वे निवृत्ति-धर्म को श्रेष्ठ समझ कर, निवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान किया चाहें, तो अन्तःकरण में रजोगुण वा तमोगुण भरे रहने से उस निवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान कब हो सकता है। प्रवृत्ति-धर्म को भी छोड़कर, दोनों तरफ़ से भ्रष्ट हो जाते हैं। और जो निवृत्ति-धर्म के योग्य हैं, वे कुसंग के वश, वा और किसी संस्कार से अपने धर्म को छोड़ प्रवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान करेंगे, तो फिर गई हुई रजोगुणी वा तमोगुणी वृत्ति उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जावेगी, इसी को पाप कहते हैं। इसवास्ते अपने ही धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। सुन्दर १ पराए धर्म से २ अपना धर्म ३ गुणरहित ४ सि० भी * श्रेष्ठ ५ सि० है * अपने गुण के अनुसार जिसका नियम किया गया है, उस कर्म को ६। ७ करता हुआ ८ पाप को ९ नहीं १० प्राप्त होता ११।

तात्पर्य—जैसे विष में रहनेवाला जीव विष खाकर नहीं मरता, इसी प्रकार अपने गुण के अनुसार कर्म करता हुआ बन्धन को नहीं प्राप्त होता। मेवा आदि का भोजन बहुत सुन्दर है, परन्तु ज्वरवाले के काम का नहीं ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अन्वय—कौन्तेय १ सहजम् २ कर्म ३ सदोषम् ४ अपि ५

न ६ त्यजेत् ७ सर्वारम्भाः ८ हि ९ दोषेण १० आवृताः ११ धूमेन १२ अग्निः १३ इव १४।

अर्थ—शुभ अशुभ कोई कर्म ऐसा नहीं कि जिसमें कुछ दोष न हो इसवास्ते, हे अर्जुन! १ स्वभाव के अनुसार जो गुण (सत्त्व रज वा तम) अपने में प्रधान हो, वैसे ही शम आदि कर्म वा परिचर्या, युद्ध, कृषि इत्यादि कर्म २। ३ दोषसहित ४ भी ५ सि० हों, परन्तु जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो तब तक उनको * न ६ त्यागे ७ समस्त कर्म ८। ९ सि०किसी-न-किसी * दोष से १० मिले हुए हैं ११, धूम से १२ अग्नि १३ जैसे १४।

तात्पर्य—गुण दोष का फल काँटे की तरह संग है। बुद्धिमान को चाहिए कि धर्म में कंटकवत् दोष पर दृष्टि न दे, गुणग्राही रहे ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

अन्वय—सर्वत्र १ असक्तबुद्धिः २ जितात्मा ३ विगतस्पृहः ४ संन्यासेन ५ परमाम् ६ नैष्कर्म्यसिद्धिम् ७ अधिगच्छति ८।

अर्थ—इस प्रकार कर्म करे। सर्वत्र शुभ अशुभ पाप-पुण्य-जनक किसी कर्म में १ जिसकी बुद्धि आसक्त नहीं २ जीता गया है कार्य-कारण-संघात जिससे ३ दूर हो गई है इस लोक के पदार्थों की इच्छा जिसकी ४ सि० वह * सबका त्याग करके ५ परम ६ निष्कामता की अवधि को ७ प्राप्त होता है ८।

तात्पर्य—आनंद-स्वरूप निष्क्रिय आत्मा की प्राप्ति सब पदार्थों का त्याग करने से होती है। आनन्द-स्वरूप आत्मा के सिवाय किसी के पन्थ, मत वा सम्प्रदाय में आसक्त नहीं होना, यही परमसिद्धि है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

अन्वय—यथा १ सिद्धिम् २ प्राप्तः ३ ब्रह्म ४ आप्नोति ५ तथा ६ कौन्तेय ७ या ८ ज्ञानस्य ९ परा १० निष्ठा ११ समासेन १२ एव १३ मे १४ निबोध १५।

अर्थ—श्रीभगवान् अब आगे पाँच श्लोकों में ज्ञान की परा-

निष्ठा कहेंगे, इसवास्ते अर्जुन को संबोधन करके कहते हैं कि हे कौन्तेय ! चैतन्य हो, चित्त को एकाग्र करके, परमसिद्धान्त को सुन । जैसे १ सि० सब कर्मों का यथा अधिकार अनुष्ठान करके, और उनके फल का त्याग करके नैष्कर्म्य की * सिद्धि को २ प्राप्त हुआ ३ ब्रह्म को ४ प्राप्त होता है ५ वैसे ही ६ हे अर्जुन ! ७ जो ८ ज्ञान की ९ परा १० निष्ठा ११ सि० है उसको * संक्षेप से १२ । १३ मुझसे सुन १४ । १५ ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

अन्वय--विशुद्धया १ बुद्ध्या २ युक्तः ३ च ४ धृत्या ५ आत्मानम् ६ नियम्य ७ शब्दादीन् ८ विषयान् ९ त्यक्त्वा १० च ११ रागद्वेषौ १२ व्युदस्य १३ ।

अर्थ—सोई ज्ञान की परानिष्ठा श्रीभगवान् कहते हैं । सत्त्व-गुणी बुद्धि से युक्त १ । २ । ३ और ४ सि० सत्त्वगुणी * धृति से ५ कार्य-कारण-संघात का ६ निरोध करके ७ शब्द आदि विषयों का ८ । ९ त्याग करके १० और ११ राग-द्वेष को १२ दूर करके १३ सि० ब्रह्म को प्राप्त होता है । तीसरे श्लोक के साथ इसका सम्बन्ध है *।

तात्पर्य—शब्द आदि के त्याग में देह यात्रा-मात्र क्रिया का निषेध नहीं । शरीर का निरोध यह है कि शौच स्नान आदि के समय अवश्य उठना, रात्रि के बीच में डेढ़ पहर सोना, इसके सिवाय एक जगह एकान्त आसन पर विना आश्रय सीधा बैठकर आत्मा का ध्यान करना चाहिए । संन्यासी एक जगह न रहे, और चार गौ-कोस से अधिक न चले ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अन्वय—विविक्तसेवी १ लघ्वाशी २ यतवाक्कायमानसः ३ नित्यम् ४ ध्यानयोगपरः ५ वैराग्यम् ६ समुपाश्रितः ७ ।

अर्थ—वन, पहाड़, नदी के किनारे इत्यादि देश में, जिस जगह स्त्री, चोर, बालक, मूर्ख, सिंह, सर्प इत्यादि का भय न

हो, ऐसे देश के सेवन करने का स्वभाव है जिसका १ दो भाग अन्न से एक भाग जल से पूर्ण करके, और एक भाग श्वास के आने जाने के लिये अवशेष (ख़ाली) रक्खे, तात्पर्य थोड़ी-सी क्षुधा बनी रहे अर्थात् कम भोजन करने का स्वभाव है जिसका, उसको लघ्वाशी कहते हैं २ जीते हुए हैं वाणी शरीर मन जिसके अर्थात् जो लक्षण सत्रहवें अध्याय में सत्त्वगुणी तप का लिखा है, उसी प्रकार वर्तते हैं ३ सि० आत्मध्यान योग को अर्थात् निदिध्यासन को परात्पर जानकर * नित्य ४ ध्यान-योग-परायण रहते हैं ५ सि० नित्य-शब्द कहने का यह तात्पर्य है कि ज्ञाननिष्ठ को पढ़ना, पढ़ाना, जप, पाठ आदि कर्मों का त्याग करना चाहिए * वैराग्य का ६ बहुत अच्छी तरह आश्रय कर रक्खा है ७ सि० परमानन्द-स्वरूप आत्मा के सिवाय जितने पदार्थ इस लोक वा परलोक के देखे सुने हैं, सबको अनित्य, दुःखदायी, अनात्मधर्मवाले जानकर किसी में न कुछ प्रीति करता है, न द्वेष करता है, परम ज्ञान-निष्ठा का यह लक्षण है * ॥ ५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

अन्वय—अहङ्कारम् १ बलम् २ दर्पम् ३ कामम् ४ क्रोधम् ५ परिग्रहम् ६ विमुच्य ७ निर्ममः ८ शान्तः ९ ब्रह्मभूयाय १० कल्पते ११ ।

अर्थ—देह आदि में अहंबुद्धि अर्थात् हम विरक्त संन्यासी ब्राह्मण जगत् के गुरु श्रीमान् विद्यावाले हैं ऐसा अहंकार १ योग के बल से किसी का बुरा भला करना, विद्या के बल से दूसरे का मत खंडन करना २ विद्या विरक्ति धन ऐश्वर्य आदि का मन में गर्व रखना ३ इस लोक वा परलोक के पदार्थों की इच्छा ४ नास्तिक आदि के साथ द्वेष ५ देह-यात्रा के सिवाय संचय करना ६ सि० जो ऊपर कहे गए हैं, इन सब अहंकार आदि को मन से * त्यागकर ७ सि० संन्यास आदि धर्म और अद्वैतवाद आदि मत में * ममतारहित ८ भूत आदि काल की

चिंता से रहित ६ सि० पुरुष * ब्रह्म को १० प्राप्त होता है ११ ।

तात्पर्य—परमानन्द-स्वरूप नित्य प्राप्त आत्मा को प्राप्तवत् मानकर, यह कहा जाता है कि ब्रह्म को प्राप्त होता है । वास्तव में ब्रह्म सदा एकरस है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

अन्वय—ब्रह्मभूतः १ प्रसन्नात्मा २ न ३ शोचति ४ न ५ काङ्क्षति ६ सर्वेषु ७ भूतेषु ८ समः ९ पराम् १० मद्भक्तिम् ११ लभते १२ ।

अर्थ—ब्रह्म को जो प्राप्त होता है उसका फल दो श्लोकों में निरूपण करते हैं । ब्रह्म-स्वरूप १ प्रसन्न चित्त है जिसका २ सि० वह बीती हुई बातों का * नहीं ३ शोच करता है ४ सि० आगे को कुछ * नहीं ५ चाहता है ६ सब भूतों में ७ । ८ सम ९ सि० है श्रीभगवान् कहते हैं कि वह * मेरी परा भक्ति को १० । ११ प्राप्त होता है १२ ।

तात्पर्य—सातवें अध्याय में चार प्रकार की भक्ति कही गई है, चारों में जो पीछे कही गई उसको पराभक्ति कहते हैं । ज्ञान की परानिष्ठा कहो, वा पराभक्ति कहो, बात एक ही है । इस जगह पाषाण आदि मूर्तियों का पूजन, और राम कृष्ण आदि सावयव मूर्तिमान् भगवत् की भक्ति, इस जगह भक्ति नहीं । ज्ञाननिष्ठा का नाम यहाँ भक्ति है । यह पराभक्ति फल, और सेवा-पूजा आदि साधन हैं । प्रकरण देखकर अर्थ समझना चाहिए । इस अध्याय के पचासवें श्लोक में श्रीभगवान् ने स्पष्ट कहा है कि हे अर्जुन ! ज्ञान की परानिष्ठा मुझसे सुन । और वह प्रकरण अब तक समाप्त नहीं हुआ, पचपनवें श्लोक में समाप्त होगा, वहाँ तक ज्ञाननिष्ठा का वर्णन है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

अन्वय—तत्त्वतः १ यावान् २ च ३ यः ४ अस्मि ५ माम् ६ भक्त्या ७ अभिजानाति ८ ततः ९ तत्त्वतः १० माम् ११ ज्ञात्वा १२ तदनन्तरम् १३ विशते १४ ।

अर्थ—श्रीभगवान् कहते हैं कि जो मेरा यथार्थ स्वरूप है वह इसी ज्ञाननिष्ठा से (जो पीछे चार श्लोकों में कही गई है) जाना जाता है, और सब वेदविधि इसका साधन है। वास्तव में १ जैसा २ और ३ जो ४ मैं हूँ ५ सि० वैसा * मुझको ६ सि० ज्ञानलक्षणा * भक्ति से ७ भले प्रकार जानता है ८ उसके पीछे ९ सि० अर्थात् * यथार्थ १० मुझको ११ जानकर १२ फिर १३ सि० मुझमें ही * मिल जाता है १४।

तात्पर्य—परमानन्द-स्वरूप आत्मा उपाधिसहित और उपाधिरहित है, वह ज्ञाननिष्ठा से ही जाना जाता है। आत्मा का जानना ही उसमें मिलना है, पहिले जानना और पीछे उसमें मिलना, यह एक कहने की रीति है। ब्रह्म का जाननेवाला ब्रह्म रूप ही है, यह वेदार्थ है ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

अन्वय—सदा १ सर्वकर्माणि २ मद्व्यपाश्रयः ३ कुर्वाणः ४ अपि ५ मत्प्रसादात् ६ अव्ययम् ७ शाश्वतम् ८ परम् ९ अवाप्नोति १०।

अर्थ—ज्ञाननिष्ठा भगवत् की कृपा से प्राप्त होती है। प्रथम वेदोक्त निष्काम कर्म करे, यह परम पद का मार्ग श्रीभगवान् दिखाते हैं। सदा १ सब कर्मों को २ मुझ भगवत् का आश्रय लेकर ३ करता हुआ ४ निश्चय ५ भगवत्प्रसाद से ६ निर्विकार नित्य पद को ७। ८। ९ प्राप्त होता है १०।

तात्पर्य—प्रभु का आश्रय लेकर यथाशक्ति देश काल वस्तु के अनुसार निष्काम कर्म करना चाहिए, विना आश्रय कर्मों का निर्वाह कठिन है; और इस समय परमेश्वर के सिवाय और किसी कर्म धर्म का भरोसा नहीं। केवल उसी करुणाकर की कृपा से सब अनर्थ दूर हो सकते हैं, और परम-पद परमानन्द-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति उसी की कृपा का फल समझना चाहिए। अकृत उपासक की ज्ञाननिष्ठा का कभी परिपाक नहीं होता ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

अन्वय—मत्परः १ चेतसा २ सर्वकर्माणि ३ मयि ४ संन्यस्य ५ बुद्धियोगम् ६ उपाश्रित्य ७ सततम् ८ मच्चित्तः ९ भव १० ।

अर्थ—मुझमें परायण होकर १ चित्त से २ सब कर्मों को ३ मेरे विषय ४ त्याग करके ५ सि० और * ज्ञानयोग का ६ आश्रय करके ७ सदा ८ मुझमें चित्तवाला ९ हो अर्थात् तेरा चित्त सदा मुझमें ही लगा रहे १० ।

तात्पर्य—सब धर्म कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के वास्ते हैं। जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उस पर परमेश्वर प्रसन्न होते हैं, तब ज्ञान में निष्ठा होती है। फिर उस ज्ञान-निष्ठा के परिपाकार्थ कर्मों का त्याग आवश्यक है, यह प्रभु की आज्ञा है। प्रभु की आज्ञा से कर्मों का त्याग करना, यही प्रभु में कर्मों का संन्यास करना है। कर्मों का संन्यास करके फिर निरन्तर भक्ति करना चाहिए। ज्ञानयोग का आश्रय यह है कि हरि-भक्ति से मुझको ज्ञाननिष्ठा अवश्य प्राप्त होगी। इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा की आशा रखना, यही ज्ञानयोग का आश्रय करना है। इस प्रकरण में ज्ञान-योग का आश्रय करने का यही अर्थ है ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

अन्वय—मच्चित्तः १ सर्वदुर्गाणि २ मत्प्रसादात् ३ तरिष्यसि ४ अथ ५ चेत् ६ त्वम् ७ अहङ्कारात् ८ न ९ श्रोष्यसि १० विनंक्ष्यसि ११ ।

अर्थ—मुझमें चित्त लगाकर १ सब दुर्गम को २ मेरे प्रसाद से ३ तर जायगा ४ और ५ जो ६ तू ७ अहङ्कार से ८ नहीं ९ सुनेगा १० सि० तो * नष्ट हो जायगा ११ ।

तात्पर्य—परमेश्वर मोक्ष-मार्ग का सुगम उपाय अपनी भक्ति बताते हैं। वर्णाश्रम के अहंकार से भक्ति का आदर न करेंगे, तो उनका पुरुषार्थ भ्रष्ट हो जायगा। प्रभु के प्रसाद के विना अपने मतलब को न पहुँचेंगे। कैसा ही कठिन पदार्थ हो हरि की कृपा से भगवद्भक्त को सुलभ हो जाता है। भगवान् की आज्ञा मानना, यही भक्ति है। भक्ति में चतुरता का कुछ काम नहीं ॥ ५८ ॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

अन्वय—यत् १ अहङ्कारम् २ आश्रित्य ३ इति ४ मन्यसे ५ न ६ योत्स्ये ७ ते ८ एव ९ व्यवसायः १० मिथ्या ११ प्रकृतिः १२ त्वाम् १३ नियोक्ष्यति १४ ।

अर्थ—जिस अहंकार का १।२ आश्रय करके ३ यह ४ तू मानता है ५ सि० कि मैं * नहीं ६ युद्ध करूँगा ७ तेरा ८ यह ९ निश्चय १० झूठा ११ सि० है * तेरा स्वभाव १२ तुझसे १३ युद्ध करावेगा १४ ।

तात्पर्य—जिसका जो धर्म है उसको उसी का अनुष्ठान करना चाहिए। अन्य धर्म का अनुष्ठान उससे नहीं हो सकेगा। जैसे अर्जुन क्षत्रिय है, भिक्षा माँगना उसको कठिन है, क्योंकि क्षत्रिय में रजोगुण प्रधान होता है। वह शूरता आदि धर्मों में ही प्रेरता है, और वही अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु है ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

अन्वय—कौन्तेय १ स्वभावजेन २ स्वेन ३ कर्मणा ४ निबद्धः ५ यत् ६ कर्तुम् ७ न ८ इच्छसि ९ मोहात् १० अवशः ११ तत् १२ अपि १३ करिष्यसि १४ ।

अर्थ—हे अर्जुन ! १ स्वाभाविक २ अपने ३ कर्म से ४ बँधा हुआ ५ जो ६ सि० तू युद्ध * करने को ७ नहीं ८ इच्छा करता है ९ अविवेक से १० अवश हो गया है ११ वही १२।१३ सि० युद्ध तू * करेगा १४ ।

तात्पर्य—इस समय तेरे अन्तःकरण में सत्त्वगुणी वृत्ति का आविर्भाव हो रहा है; जिससे तुझको दया आ रही है। युद्ध अच्छा नहीं लगता, भिक्षा माँगना प्रिय प्रतीत होता है। जब यह वृत्ति तिरोभाव को प्राप्त होगी, और रजोगुणी वृत्ति जो विशेष करके तेरे अन्तःकरण में प्रधान रहती है, उसका जब आविर्भाव होगा, उस समय तेरी यह दया सब जाती रहेगी। रजोगुण के वश होकर तू अवश्य युद्ध करेगा ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

अन्वय—अर्जुन १ ईश्वरः २ सर्वभूतानाम् ३ हृद्देशे ४ तिष्ठति ५ सर्वभूतानि ६ मायया ७ भ्रामयन् ८ यन्त्रारूढानि ९।

अर्थ—जीव प्रकृति के वश है, और प्रकृति ईश्वर के वश है। सोई कहते हैं। हे अर्जुन! १ ईश्वर २ सब भूतों के ३ हृदय में ४ विराजमान है ५ सब भूतों को ६ माया से ७ भ्रमा रहा है ८ सि० कैसे हैं वे भूत कि जैसे * यंत्र में आरूढ़ अर्थात् कल में लगी हुई पुतली को जैसे बाजीगर (खिलारी) नचाता है ९।

तात्पर्य—जीव स्वतंत्र नहीं है, शास्त्र-मार्ग को छोड़ अपनी बुद्धि से बुरे-भले कर्मों को नहीं जान सकता। श्रुति, स्मृति ईश्वर की दो आज्ञाएँ हैं। जो दोनों को सत्य समझकर वेदोक्त मार्ग पर चलता रहेगा, उसको ईश्वर सब बखेड़ों से छुड़ाकर परमानंद को प्राप्त कर देंगे। और जो अपनी चतुराई चलावेगा वह निःसन्देह धोखा खायगा॥ ६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥६२॥

अन्वय—भारत १ सर्वभावेन २ तम् ३ एव ४ शरणम् ५ गच्छ ६ तत्प्रसादात् ७ पराम् ८ शान्तिम् ९ शाश्वतम् १० स्थानम् ११ प्राप्स्यसि १२।

अर्थ—जब जीव स्वतंत्र नहीं, तो उसको अवश्य परमेश्वर का आश्रय चाहिए। इस हेतु हे अर्जुन! तू भी परमेश्वर का आश्रय ले। हे अर्जुन! १ सब भाव से अर्थात् तन मन धन से २ उस ३ ही ४ रक्षा करनेवाले को ५ प्राप्त हो अर्थात् उसी अन्तर्यामी का आश्रय ले ६ उस अन्तर्यामी के प्रसाद से ७ परम शान्ति को ८। ९ सि० और * नित्य स्थान को १०।११ तू प्राप्त होगा १२॥ ६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

अन्वय—इति १ मया २ गुह्यात् ३ गुह्यतरम् ४ ज्ञानम् ५ ते ६ आख्यातम् ७ एतत् ८ अशेषेण ९ विमृश्य १० यथा ११ इच्छसि १२ तथा १३ कुरु १४ ।

अर्थ—यह १ मैंने २ गुप्त से ३ अतिगुप्त ४ ज्ञान ५ तुझसे ६ कहा ७ इस ८ समस्त का ९ विचार करके १० जैसी ११ तेरी इच्छा हो १२ वैसा कर १३ । १४ ।

तात्पर्य—ग्रन्थ को प्रारंभ से अन्त तक भले प्रकार विचारना चाहिए, तब ग्रन्थ का तात्पर्य प्रतीत होता है । दो-चार पत्र, वा दो-चार अध्याय के विचारने से ग्रन्थकार का तात्पर्य नहीं जाना जाता । प्रत्युत मूर्ख लोग पूर्व-पक्ष को सिद्धान्त समझ बैठते हैं, क्योंकि बहुत जगह पूर्वपक्ष कई पत्रों में होता है, इसी हेतु बहुत लोग साधनों को सिद्धान्त समझ बैठते हैं ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

अन्वय—सर्वगुह्यतमम् १ मे २ परमम् ३ वचः ४ भूयः ५ शृणु ६ दृढमिति ७ मे ८ इष्टः ९ असि १० ततः ११ ते १२ हितम् १३ वक्ष्यामि १४ ।

अर्थ—जो तुझसे समस्त गीता-शास्त्र का विचार न हो सके, तो मैं ही समस्त गीता का सार दो श्लोकों में कहता हूँ । तू मेरा प्यारा है, तेरे हित के वास्ते बार-बार कहता हूँ । प्रथम तो कर्म-मार्ग ही बतलाना गुप्त है, और भक्ति-मार्ग उससे भी गुप्ततर है, और ज्ञाननिष्ठा सबसे गुप्ततम है । ऐसे गुप्ततम १ मेरे २ परम ३ वचन को ४ फिर ५ सुन ६ अत्यन्त ७ मेरा ८ प्यारा ९ है तू १० इस वास्ते ११ तेरे १२ हित के लिये १३ कहूँगा १४ ॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

अन्वय—मन्मना १ मद्भक्तः २ मद्याजी ३ भव ४ माम् ५ नमस्कुरु ६ माम् ७ एव ८ एष्यसि ९ ते १० सत्यम् ११ प्रति-जाने १२ मे १३ प्रियः १४ असि १५ ।

अर्थ—इस मंत्र में कर्मनिष्ठा का सार कहते हैं । मुझमें मन-

वाला हो अर्थात् मुझ परमेश्वर में मन लगा १ सि० और * मेरा भक्त सि० हो * मेरी भक्ति कर २ सि० और मेरा * पूजन करनेवाला ३ हो अर्थात् तू मेरा पूजन कर ४ सि० और * मुझको ५ नमस्कार कर ६ मुझको ७ ही ८ प्राप्त होगा ९ तुझसे १० सत्य ११ मैं प्रतिज्ञा करता हूँ १२ मेरा १३ प्यारा १४ है तू १५ ।

तात्पर्य—ज्ञान-निष्ठा का साधन कर्म-निष्ठा है, कर्मों में भगवद्भक्ति सार है, सो दो प्रकार की है, अन्तरंग और बहिरंग । नमस्कार पूजन आदि बहिरंग हैं, और भगवत् में मन लगाना इत्यादि अन्तरंग है । जब तक परमेश्वर के स्वरूप में भले प्रकार मन न लगे, तब तक पाठ, मंत्रों का जप, भगवत्सेवा, भगवद्भक्तों की सेवा, शास्त्र-श्रवण इत्यादि करता रहे । यद्यपि ज्ञान के साधन बहुत हैं, परन्तु सबमें ये तीन सार हैं, भगवद्भक्ति, साधु-सेवा, शास्त्र का श्रवण, और इन तीनों में भी साधु-सेवा सार है, जिसके प्रताप से सब साधन प्राप्त हो जाते हैं । ये तीनों साधन सुगम और प्रत्यक्ष फल देनेवाले हैं, और इस समय में इनका ही अनुष्ठान हो सकता है । यज्ञ आदि कर्म और वर्णाश्रमविहित धर्म का अनुष्ठान होना कठिन है । साधु-सेवा आदि साधनों में जो प्रतिबन्ध है, सो दिखाते हैं । बहुत जीव भगवत् से इसवास्ते विमुख हैं कि भगवत् का निराकार, एकरस, नित्यमुक्त, शुद्ध, सच्चिदानन्द-स्वरूप उनकी दुराग्रह, अश्रद्धा, मन्द-भाग्य, और कमसमझ से, समझ में नहीं आता । और राम कृष्ण आदि साकार भगवद्रूप को मनुष्य समझते हैं, और उस स्वरूप में नाना प्रकार के तर्क करते हैं । भगवद्भक्ति में यही प्रतिबन्ध है । जब तक भगवत् का स्वरूप शुद्ध, सच्चिदानन्द, नित्यमुक्त शास्त्र की रीतिपूर्वक समझ में न आवे, तब तक मूर्तिमान् ईश्वर की उपासना आवश्यक है । और शास्त्र के श्रवण से इसहेतु विमुख हैं कि ब्रह्म-विद्या, वेदान्त-शास्त्र, उपनिषद्, सांख्य, पातंजल इत्यादि शास्त्र उनकी समझ में आते नहीं, प्रत्युत बहुत लोग यह भी नहीं जानते कि उन पोथियों में क्या बात है, और रामायण महाभारत श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों को कहानी बताते हैं । उन ग्रन्थों के तात्पर्य को इतना तो समझते ही नहीं कि जैसे समुद्र में से एक बूँद जल होता है । जब तक वेदान्त-शास्त्र का अर्थ भले प्रकार समझ में न आवे, तब तक महाभारत आदि ग्रन्थों को श्रवण करना

चाहिए । और साधु-सेवा से इसवास्ते विमुख हैं कि साधु को नीच जाति, अपढ़ और कुरूप मानकर साधुओं की सेवा और उनका संग नहीं करते । कुछ लोग मान बड़ाई और अहङ्कार आदि में फँसे रहते हैं, जैसे आप सदोष हैं, साधुओं को भी अपने ही सदृश जानते हैं । वे मंद-भाग्य हैं, इसहेतु शुभ कर्म, पूजा, पाठ, जप, शम, दम आदि वैराग्य, विद्या इन पर उनकी दृष्टि नहीं जाती । वे गुण देखने को आँखों के अन्धे हैं, और कुकर्मों को कौवे की-सी दृष्टि से देखते हैं । एक बड़ा आश्चर्य यह है कि साधु को तो वेदोक्त निर्दोष तालाश करते हैं, और जोरू, पुत्र, मित्र इत्यादि में हजारों दोष भरे हुए हैं, उनको मोक्ष का साधन समझते हैं । मूर्ख यह नहीं समझते कि निर्दोष महात्मा निर्दोषों को ही मिलते हैं, मुझ ऐसे अभागों को दर्शन भी नहीं देते । कहते हैं कि बहुत लोग ऐसी साधु-सेवा करते हैं कि जहाँ तक उनसे हो सके, साधुओं की बुराई करना और साधुओं को दुःख देना, इसी को मोक्ष का साधन समझते हैं । इस समय साधु बहुत हैं, जो हंस के सदृश हैं, वे उनको देखते हैं, और जिनकी कौवे की-सी दृष्टि है, उनको साधु कभी न मिलेंगे । न शास्त्रार्थ उनकी समझ में आवेगा, और न भगवद्भक्ति उनसे हो सकेगी । जैसे माता अपने पुत्र के मुखपर दुष्टों की दृष्टि बचाने के लिये स्याही की बिंदी लगा देती है, इसी प्रकार जो कदाचित् किसी साधु में कोई दोष अपने दोष से प्रतीत हो, तो उस दोष को स्याही की बिंदीवत् समझना चाहिए । भगवद्भक्त भगवत् के पुत्र के सदृश हैं ॥६५॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

अन्वय--सर्वधर्मान् १ परित्यज्य २ एकम् ३ माम् ४ शरणम् ५ व्रज ६ अहम् ७ त्वा ८ सर्वपापेभ्यः ९ मोक्षयिष्यामि १० मा शुचः ११ ।

अर्थ--समस्त गीता में कर्म-निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा का वर्णन है । कर्म-निष्ठा का साराथं तो पिछले मंत्र में कहा, अब ज्ञान-निष्ठा का सार संक्षेप से इस मंत्र में कहते हैं । सब धर्मों को १ त्यागकर २ अकेले मुझ शरण को ३ । ४ । ५ प्राप्त हो ६ मैं ७ तुझको ८ सब पापों से ९ छुड़ा दूँगा १०, मत शोच कर ११ ।

तात्पर्य—शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के जो-जो धर्म हैं, उन सब धर्मों को त्याग कर जो आश्रय लेना चाहिए, सो कहते हैं 'शरणम्' और 'एकम्' ये दोनों 'माम्' शब्द के विशेषण हैं "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः । अमरकोश में शरण का अर्थ गृह है अर्थात् आश्रय और रक्षा करनेवाला, ये दो अर्थ हैं । श्रीभगवान् कहते हैं कि मुझको प्राप्त हो, कैसा हूँ मैं कि एक अर्थात् अद्वैत, कभी किसी काल में जिसमें दूसरा नहीं, और फिर कैसा हूँ मैं, कि आश्रय शरण हूँ, वा रक्षा करनेवाला हूँ । "द्वितीयाद्वै भयं भवति" दूसरे से अवश्य भय होता है, यह वेद ने कहा है । इसवास्ते तू अद्वैत को प्राप्त हो, वह रक्षा करनेवाला है, वहाँ भय नहीं । वही आश्रय है । इस मंत्र का तात्पर्य निःसंदेह अभेद में है, और कहने सुनने में इसका तात्पर्यार्थ भेद में प्रतीत होता है । जहाँ तक वाणी है, वहाँ तक व्यावहारिक द्वैत है । परमार्थ में द्वैत नहीं, इसके सिवाय अक्षरार्थ से भी इस श्लोक का अर्थ अद्वैत विषय है, सो भी सुनो । अहम्-शब्द और माम् शब्द ये दोनों अस्मत्-शब्द के प्रयोग हैं । श्रीभगवान् स्पष्ट कहते हैं कि 'अहं' यह शब्द अर्थात् केवल माया अविद्यारहित शुद्ध अहंकार अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि (यह महावाक्यार्थ) यह निष्ठा तुझको संसार से छुड़ावेगी । शरीर आदि के जो धर्म, उनके त्याग में मत शोच कर । यह अर्थ गीता-भाष्य में बहुत विस्तारपूर्वक सिद्धान्त अभेद अद्वैत ज्ञान-निष्ठा में किया है, क्योंकि सब धर्मों का त्याग कर्मनिष्ठा से नहीं हो सकता, ज्ञानी से ही हो सकता है । व्याकरण की रीति से युष्मत्-अस्मत्-शब्दों के अर्थ को, धर्म-शब्द के अर्थ को जो समझते हैं, वे "माम्, अहम्, त्वाम्, त्वम्" इन शब्दों के अर्थ को समझेंगे । और जो किसी का यह हठ और निश्चय है कि इस मंत्र का अर्थ भी भेद में है, तो उसको उचित है कि कहे हुए का अनुष्ठान करे । हमको भगवद्भक्ति से विरोध नहीं, वेदवादी का यदि ज्ञाननिष्ठा से विरोध है, तो इससे भी हमको लाभ है, क्योंकि अज्ञानी बना रहेगा, तो सेवा करेगा; ज्ञानी वन बैठेगा, तो हमको क्या लाभ होगा । ज्ञाननिष्ठा का उपदेश तो दूसरे के लाभार्थ है । श्रद्धा करो वा मत करो, श्रीभगवान् अश्रद्धावान् को ज्ञान का उपदेश करना निषेध करते हैं ॥ ६६ ॥

पांच श्लोकों का अर्थ अन्य प्रकार से लिखते हैं । उस रीति से अर्थ शीघ्र समझ में आवेगा । पंडित शंकरलाल विष्णुनागर

ब्राह्मण की बेटी बीबी जानकी ने समस्त गीता का अर्थ उसी रीति से लिखा है । उस टीका का नाम जानकी-विनिर्मिता प्रसिद्ध है ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

वि०	व०	पद		अर्थ
१	१	इदम्	१	यह
				गीता शास्त्र
४	१	ते	२	तुमको
४	१	अतपस्काय	३	जिसने तप न किया हो उस बहिर्मुखको
अ०		न	४	नहीं
				सुनाना चाहिए,
अ०		न	५	न
४	१	अभक्ताय	६	अभक्त को
				जो गुरु और भगवत्‌का भक्त न हो उसको
अ०		कदाचन	७	कभी
				न सुनाना चाहिए,
अ०		च	८	और
				जो
४	१	अशुश्रूषवे	९	शुश्रूषा (टहल) न करे अथवा जिसको
				सुनने की इच्छा न हो उसको
अ०		न	१०	नहीं
१		वाच्यम्	११	कहना योग्य है,
				अर्थात् पूर्वोक्तों को न सुनाना चाहिए,
अ०		च	१२	और
१	१	यः	१३	जो
२	१	माम्	१४	मुझको
				अर्थात् मेरी
क्रि०	१	अभ्यसूयति	१५	निन्दा करता है
				उसको भी
अ०		न	१६	नहीं
				सुनाना योग्य है, यह मेरी आज्ञा है ।

तात्पर्य—जो मूल के अनधिकारी हैं, वही इस टीका के अनधिकारी हैं ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

तपस्वी, भक्त, शुश्रूषु, जिज्ञासु, निन्दारहित, इस गीता-शास्त्र के पढ़ने सुनने के अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारियों को जो यह गीता-शास्त्र पढ़ाते सुनाते हैं, उनकी महिमा दो श्लोकों में कहते हैं।

वि०	व०	पद		अर्थ
१	१	यः	१	जो
२	१	इमम्	२	इस
२	१	परमम्	३	परम
२	१	गुह्यम्	४	गुप्त
				गीता-शास्त्र को
७	ब०	मद्भक्तेषु	५	मेरे भक्तों के विषय
क्रि०	१	अभिधास्यति	६	धारण करावेगा,
				अर्थात् गीता का अर्थ भले प्रकार,
				प्रेमपूर्वक,
				विना लोभ, जो भगवद्भक्तों को
				समझावेगा, वह
७	१	मयि	७	मुझमें
२	१	पराम्	८	परा
२	१	भक्तिम्	९	भक्ति
अ०	कृ०	कृत्वा	१०	करके
२	१	माम्	११	मुझको
अ०		एव	१२	ही
क्रि०	१	एष्यति	१३	प्राप्त होगा,
१	१	असंशयः	१४	नहीं है संशय इसमें ।

तात्पर्य—गीता-शास्त्र को जो पढ़ाते हैं, वे परमभक्त महानुभाव हैं ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

वि०	व०	पद		अर्थ
७	१	भुवि	१	पृथिवी पर
अ०		कश्चित्	२	कोई
५	१	तस्मात्	३	उससे,
				अर्थात् गीता पढ़ानेवाले से अधिक
६	१	मे	४	मुझको
१	१	प्रियकृत्तमः	५	अत्यंत प्रसन्न करनेवाला
७	ब०	मनुष्येषु	६	मनुष्यों में
अ०		न च	७	नहीं।
क्रि०	१	भविता	८	है,
				और
५	१	तस्मात्	९	उससे
				अर्थात् गीता पढ़नेवाले से
६	१	मे	१०	मुझको
१	१	अन्यः	११	दूसरा अन्य
१	१	प्रियतरः	१२	विशेष प्यारा
अ०		न च	१३	नहीं।

तात्पर्य--जो गीता का अर्थ जानते हैं, उनका कुछ कर्तव्य नहीं। न वेद की विधि उन पर है, और न उनको इस लोक वा परलोक के पदार्थों की इच्छा होती है। ऐसे जो महात्मा विना प्रयोजन, दुःख विक्षेप सहकर किसी को गीता-शास्त्र पढ़ावें, सुनावें, तो निःसन्देह उनके सिवाय परमेश्वर को और कौन प्यारा लगेगा। ऐसे महात्मा भगवत् का नित्य अवतार कहलाते हैं ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७० ॥

वि०	व०	पद		अर्थ
१	१	यः	१	जो
२	१	इमम्	२	इस
२	१	धर्म्यम्	३	धर्म से मिले हुए
६	२	आवयोः	४	मेरे और तेरे
२	१	संवादम्	५	संवाद को
क्रि०	१	अध्येष्यते	६	पढ़ेगा
अ०		च (पादपूरणार्थ)	७	
३	१	तेन	८	उस
३	१	ज्ञानयज्ञेन	९	ज्ञान-यज्ञ से
				वह मुझको प्रसन्न करेगा अर्थात् जैसे ज्ञानयज्ञ से मैं प्रसन्न होता हूँ, वैसे ही गीता पढ़नेवाले से
१	१	अहम्	१०	मैं
१	१	इष्टः	११	प्रसन्न
क्रि०	१	स्याम्	१२	होता हूँ,
अ०		इति	१३	यह
६	१	मे	१४	मेरी
१	१	मतिः	१५	समझ
				है।

तात्पर्य--चतुर्थ अध्याय में बारह यज्ञ प्रभु ने बतलाया है । सब यज्ञों में ज्ञान-यज्ञ को बड़ा कहा है, क्योंकि ज्ञान में सब कर्मों की समाप्ति है । गीता को जो पढ़ते हैं, उनके कर्म भी समाप्त हो जाते हैं । गीता का पढ़ना, पाठ करना यही सबसे बड़ा कर्म है, इसी एक शुभ कर्म से पूजा करने पर भगवान प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

जो गीता-शास्त्र को श्रवण करते हैं, उनकी स्तुति श्रीमहाराज अपने मुख से करते हैं ।

वि०	व०	पद		अर्थ
१	१	यः	१	जो
१	१	नरः	२	पुरुष
अ०		च (पादपूरणार्थ)	३	
१	१	अनसूयः	४	निंदारहित
१	१	श्रद्धावान्	५	श्रद्धासहित
क्रि०	१	शृणुयात्	६	सुने
अ०		अपि	७	भी
१	१	सः	८	वह
अ०		अपि	९	भी
				सब झगड़ों से
१	१	मुक्तः	१०	छूटकर
६	ब.	पुण्यकर्मणाम्	११	धर्मात्माओं के
२	ब.	शुभान्	१२	शुभ
२	ब.	लोकान्	१३	लोकों को
क्रि०	१	प्राप्नुयात्	१४	प्राप्त हो

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

अन्वय—पार्थ १ त्वया २ एकाग्रेण ३ चेतसा ४ कच्चित् ५ एतत् ६ श्रुतम् ७ धनञ्जय ८ ते ९ अज्ञानसम्मोहः १० कच्चित् ११ प्रनष्टः १२।

अर्थ—परम करुणा की खानि श्रीभगवान् अर्जुन से इस श्लोक में पूछते हैं कि हे अर्जुन ! इस उपदेश से तुम्हारे अज्ञान का नाश हुआ वा नहीं। जो अज्ञान का नाश न हुआ हो, तो फिर दूसरे प्रकार से उपदेश करूँ। यह अपनी कृपा और आचार्यों का धर्म दिखाते हैं। जब तक शिष्य का अज्ञान दूर न हो, तब तक गुरु को चाहिए कि फिर बार-बार दूसरे प्रकार से उपदेश करे, यह आचार्यों का धर्म है। हे अर्जुन ! १ तुमने २ एकाग्र ३ चित्त से ४ कुछ ५ यह ६ सि० जो मैंने उपदेश किया उसको * सुना ७ सि० वह तुम्हारी समझ में आया, वा नहीं, और * हे अर्जुन ! ८ तुम्हारा ९ तत्त्वज्ञान का विपर्यय अज्ञान-सम्मोह १० कुछ ११ नष्ट हुआ १२ सि० वा नहीं *

तात्पर्य—"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" शारीरक भाष्य का यह सूत्र है, अर्थात् जब तक अज्ञान भले प्रकार नष्ट न हो, तब तक बार-बार वेदांत-शास्त्र का श्रवण करे । श्रवण करने से अज्ञान, मनन से संशय, और निदिध्यासन से विपर्यय का नाश होता है ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अन्वय—अच्युत १ त्वत्प्रसादात् २ मोहः ३ नष्टः ४ मया ५ स्मृतिः ६ लब्धा ७ गतसन्देहः ८ स्थितः ९ अस्मि १० तव ११ वचनम् १२ करिष्ये १३ ।

अर्थ—अर्जुन अज्ञान-संशयविपर्यय-रहित, कृतार्थ होकर श्रीभगवान् से कहता है कि आपकी कृपा से मेरा अज्ञान, संशय, विपर्यय, असंभावना, विपरीतभावना, प्रमाणगत, और प्रमेय-गत, इन सबका नाश हुआ, और आपकी कृपा से मैं कृतकृत्य हुआ । अब मुझको कुछ करने के योग्य नहीं, मैं अक्रिय असंग हूँ । हे अविनाशी ! १ आपकी कृपा से २ सि० मेरा * मोह ३ नष्ट ४ सि० हुआ और * मुझको ५ सि० अपने स्वरूप की * स्मृति ६ प्राप्त हुई ७ सि० अब मैं * सन्देहरहित ८ स्थित ९ हूँ १० आपके ११ वचन को १२ करूँगा १३ ।

तात्पर्य—चौथे अध्याय में अर्जुन ने कहा था कि आपका जन्म अब हुआ है, और इस जगह अविनाशी कहता है, यह ज्ञान का प्रताप है । कमसमझ यह समझते हैं कि अर्जुन ने यह कहा कि आपके वचन को करूँगा अर्थात् युद्ध करूँगा, और विद्वान् यह समझते हैं कि अर्जुन ने यह कहा कि आपका वचन करूँगा अर्थात् जो आपने कहा उसी प्रकार अनुष्ठान करूँगा अर्थात् मैं कृतकृत्य हूँ, मुझको कुछ कर्तव्य नहीं, यह युद्ध आदि अज्ञानियों की दृष्टि में है । इस आपके उपदेश का अनुष्ठान करूँगा । जो अर्जुन को कुछ युद्ध आदि कर्तव्य था, तो कृतकृत्य का अर्थ क्या किया जावेगा ॥ ७३ ॥

सञ्जय उवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्‌भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

अन्वय—इति १ वासुदेवस्य २ महात्मनः ३ पार्थस्य ४ च ५ इमम् ६ अद्‌भुतम् ७ रोमहर्षणम ८ संवादम् ९ अहम् १० अश्रौषम् ११ ।

अर्थ—संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि इस प्रकार १ श्रीकृष्णचन्द्र महात्मा २ । ३ और अर्जुन का ४ । ५ यह ६ अद्‌भुत ७ रोमांच करनेवाला ८ संवाद ९ मैंने १० सुना ११ ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्‌गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

अन्वय—एतत् १ परम २ योगम् ३ गुह्यम् ४ स्वयम् ५ साक्षात् ६ कथयतः ७ योगेश्वरात् ८ कृष्णात् ९ व्यासप्रसादात् १० अहम ११ श्रुतवान् १२ ।

अर्थ—यह १ श्रेष्ठ २ योग ३ गुप्त ४ आप ५ साक्षात् ६ कहते हुए ७ योगेश्वर ८ श्रीकृष्णचन्द्र महाराज से ९ व्यासजी के प्रसाद से १० मैंने ११ सुना १२ ।

तात्पर्य—यह ब्रह्म-विद्या परमयोग है, और गुप्त है, महात्मा इसको गुप्त रखते हैं । साधन-चतुष्टय-संपन्न से कहते हैं । पहिले यह विद्या ब्रह्म-लोक में ही थी, मुनीश्वरों ने तप करके इस लोक में इस विद्या का प्रचार किया । ब्रह्म-विद्या आकाश में आकर, उसने मुनीश्वरों से यह कहा कि मर्त्य-लोक में जब मैं आऊँगी, तब तुम मुझको पुत्री के सदृश समझकर अधिकारी को देना जब मुनीश्वरों ने इस वाक्य को अंगीकार किया, तब ब्रह्म-विद्या इस लोक में आई । इस द्वीप के सिवाय और किसी द्वीप में नहीं है, और ब्रह्म-लोक के सिवाय और किसी लोक में नहीं है । जो इस विद्या के लालच या आशा से अनधिकारी को पढ़ाते सुनाते हैं, वे अधम हैं, क्योंकि कंगाल भी अपनी पुत्री अनधिकारी को नहीं देता । जो पुरुष इस विद्या को लालच से सीखते हैं, वह विद्या भोग के लिये नहीं है, जैसे वर्णसङ्कर पुत्र इसी लोक की शोभा है ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

अन्वय--राजन् १ इमम् २ केशवार्जुनयोः ३ पुण्यम् ४ अद्भुतम् ५ संवादम् ६ संस्मृत्य ७ च ८ संस्मृत्य ९ मुहुर्मुहुः १० हृष्यामि ११ ।

अर्थ--हे राजन् ! १ इस २ केशव अर्जुन के ३ पुण्य-रूप ४ अद्भुत ५ संवाद का ६ स्मरण करके ७ । ८ । ९ बार-बार १० मैं आनंदित होता हूँ ११ ।

तात्पर्य--हे राजन ! श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन का यह संवाद पुण्य-रूप है । इसके श्रवण-मात्र से पुण्य होता है । इसवास्ते मुझको बार-बार स्मरण होता है । स्मरण करने से परमानंद होता है ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

अन्वय--तत् १ हरेः २ अत्यद्भुतम् ३ रूपम् ४ संस्मृत्य ५ च ६ संस्मृत्य ७ मे ८ महान् ९ विस्मयः १० च ११ राजन् १२ पुनः १३ पुनः १४ हृष्यामि १५ ।

अर्थ--उस १ श्रीमहाराज के २ अतिअद्भुत रूप का अर्थात् विश्व-रूप का ३ । ४ बार-बार स्मरण करके ५ । ६ । ७ मुझको ८ बड़ा ९ आश्चर्य १० सि० होता है * और ११ हे राजन् ! १२ बार-बार १३ । १४ मैं हर्षित होता हूँ १५ ।

तात्पर्य--हे राजन् ! श्रीमहाराज का वह अद्भुत विश्व-रूप बार-बार मुझे याद आता है, और उसका जब मैं ध्यान करता हूँ, तब मेरे रोम खड़े हो जाते हैं । मुझको बड़ा आनन्द होता है । वह रूप आश्चर्यजनक है॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

अन्वय--यत्र १ योगेश्वरः २ कृष्णः ३ यत्र ४ धनुर्धरः ५ पार्थः ६ तत्र ७ श्रीः ८ विजयः ९ भूतिः १० नीतिः ११ ध्रुवा १२ मम १३ मतिः १४ ।

अर्थ—जिस सेना में १ योगेश्वर २ श्रीकृष्णचन्द्र ३ सि० हैं, और * जिस सेना में ४ धनुषधारी ५ अर्जुन ६ सि० हैं, * उसी सेना में ७ लक्ष्मी ८ विजय ९ ऐश्वर्य १० न्याय ११ सि० है, यह * निश्चययुक्त १२ मेरी १३ मति १४ सि० है *

तात्पर्य—संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि हे राजन्! तुम्हारे पुत्रों की जय न होगी, अपने विजय की आशा छोड़ दो। जिस तरफ़ श्रीकृष्णचन्द्र महाराज हैं, उसकी विजय होगी। जिन पर श्रीभगवान् की कृपादृष्टि है, वे सदा इस लोक और परलोक में परमानन्द भोगते हैं, यह सिद्धान्त है ॥ ७८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

गीता का सार

समाप्ति का मंगलाचरण

परमानन्द परमात्मा जीवात्मा से अभिन्न है। जिसको परमानन्द की इच्छा हो, वह सदा परमानन्द की उपासना किया करे। परमानन्द में सबका सम्मत है। ब्रह्मवादी, ज्ञानी, उपासक, कर्मी, विषयी, बालक, मूर्ख, पशु, सब मत पन्थ और सम्प्रदायवाले दिन-रात आनन्द के लिये यत्न करते हैं, सब कर्म ईश्वर के भजन तक, सबके मत से साधन हैं, और आनन्द फल है। यह सब कहते हैं कि जो हम कहते हैं वा करते हैं, इस बात में बड़ा आनन्द है। इस हेतु आनन्द सबसे बड़ा और परात्परपदार्थ है। सबको प्रिय है, किसी को आनन्द से वैर नहीं। बात भी यही सच्ची है, इसको विद्वान् श्रुति-युक्ति-सहित कहते हैं, और इसका अनुभव समझ में आता है। बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि यह बात वेद-शास्त्र में तो लिखी है, परन्तु समझ में नहीं आती, इसवास्ते इसमें निश्चय नहीं होता। अनुष्ठान करने में सबका मन कच्चा रहता है। और बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि यह बात समझ में तो आती है, परन्तु वेद-विरुद्ध है, इसवास्ते यह बात अच्छी नहीं समझी जाती। इस जगह वह बात लिखी जाती है, जो वेदोक्त भी हो और अनुभव से समझ में भी आवे। जिस आनन्द के वास्ते सब यत्न करते हैं, वह आनन्द अपना आत्मा ही है, और सदा प्राप्त है। अज्ञान से कंठ-भूषणवत् उसको अप्राप्त, अपने से जुदा मानकर उसी की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के (लौकिक और वैदिक) यत्न करते हैं। जो वह अज्ञान जाता रहे, तो आनन्द सदा प्राप्त है। विद्वान् इस बात को वेदोक्त कहते हैं, परन्तु यह बात किसी-किसी की समझ में (रजोगुणी वा तमोगुणी होने से) नहीं आती। रजोगुण और तमोगुण दूर होने के लिये, उनका कारण अज्ञान का स्वरूप सुनो। अज्ञान सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से युक्त है। संसार में स्थूल, सूक्ष्म जितने पदार्थ हैं, सब इन तीन गुणों का कार्य हैं। परमानन्द इन तीन गुणों से परे है। देवता, मनुष्य, पशु इत्यादि इन तीन गुणों में मोहित होकर तमोगुणी, रजोगुणी वा सत्त्वगुणी आनन्द को (जिस सुख का लक्षण अठारहवें अध्याय में, ३७। ३८। ३९ श्लोकों में निरूपण हुआ है।

बड़ा समझते हैं। परमानन्द को नहीं जानते और परमानन्द को ज्ञानी, मुक्त, महापुरुष जानते हैं। रजोगुणी आनन्द दो प्रकार का है, अच्छा और बुरा। सावयव भगवन्मूर्ति, वैकुंठ और स्वर्ग आदि में जो आनन्द मानते हैं, वह आनंद अच्छा है। लौकिक पदार्थों में जो आनंद मानते हैं, वह बुरा है। कोई-कोई मतवाले रजोगुणी आनंद को ही परात्पर मानते हैं, और कोई मतवाले सत्त्वगुणी आनंद को परे-से-परे मानते हैं। रजोगुणी आनंद को क्षणिक, तुच्छ और अल्प समझते हैं, और यह कहते हैं कि तमोगुणी आनन्द से परलोकजन्य रजोगुणी आनंद अच्छा है, इसी वास्ते उसको अच्छा कहते हैं। इस बात में लौकिक और वैदिक दोनों पुरुषों का सम्मत है। और रजोगुणी आनन्द की अवधि को जो परे-से-परे मानते हैं, इस बात में केवल वैदिक मार्गवालों का सम्मत है, यौक्तिक लोगों का सम्मत नहीं। कभी विशेषता आनंद के दृष्टान्त से समझो। जैसे तमोगुणी आनन्द, रजोगुणी आनन्द, और सत्त्वगुणी परमानन्द, इन तीनों घड़ों में जल है, एक में मैला, और दूसरे में सामान्य और तीसरे में भले प्रकार दीखता है। ऐसे ही तमोगुण में सुख प्रतीत नहीं होता, रजोगुण में सामान्य से प्रतीत होता है, और सत्त्वगुण में भले प्रकार प्रतीत होता है। तीनों गुणों में दर्पण मुखवत् आनन्द की छाया प्रतीत होती है। जिसकी वह छाया है, वास्तव में परमानन्द वही है, और वह नित्य है। जितना ही निर्मल जल ठहरा हुआ होगा, उतना ही मुख अच्छा दीखेगा। इसी प्रकार अन्तःकरण की वृत्ति जितनी ही निर्मल और स्थिर होगी, उतना ही सुख अधिक और अच्छा प्रतीत होगा। आनन्द की प्राप्ति में अन्तःकरण की निर्मलता और स्थिरता कारण है। कोई सावयव पदार्थ इस लोक वा परलोक का कारण नहीं है। पदार्थ के संबंध से भी वृत्ति स्थिर होती है, और विचार वा ज्ञान से भी होती है, परन्तु पदार्थ के संबंध से जो होती है, वह स्थिरता प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है। इसहेतु पदार्थजन्य आनंद क्षणिक है, वह एकरस नहीं, थोड़ी देर रहता है। विचार वा ज्ञान-योग से जो वृत्ति-स्थिर होती है, उसमें आनन्द ठहरता है। परमानन्द के ज्ञान से जब मूल अज्ञान का नाश हो जावे, तब ये तीनों वृत्तियाँ नष्ट हों। फिर केवल परमानन्द की प्राप्ति सदा के लिये हो जाती है। इसी परमानन्द के वास्ते इस लोक और परलोक के सब झगड़े हैं। समस्त वेदों के विधि-निषेध का विचार

करके देखो, सबका तात्पर्य दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति में है। शरीर, इंद्रिय और मन से जितने बुरे-भले कर्म यत्न और बिना यत्न के होते हैं, सबमें दुःख या सुख है। किसी में दुःख बहुत, सुख थोड़ा; और किसी में सुख बहुत, दुःख थोड़ा। जिस कर्म में ४६ भाग दुःख है और ५१ भाग सुख है, वेद में उसकी भी स्तुति है। जिस कर्म में सुख बहुत है उसके आदि में तनिक दुःख है, और पीछे सुख बहुत है। और जिस कर्म में ५१ भाग दुःख है, और ४६ भाग सुख है, उसकी निन्दा है। जिस कर्म में सुख कम है, उसके आदि में ही सुख प्रतीत होता है, अन्त में दुःख होता है। यह व्यवस्था यहाँ तक है कि १०० में ६६ या ६८ या ६७ भाग किसी किसी कर्म में सुख है, और १ या २ या ३ भाग दुःख है, और किसी-किसी कर्म में १०० में ६६ या ६८ या ६७ भाग दुःख है, और १ या २ या ३ भाग सुख है। इसी प्रकार ६०। ४०॥ ७०। ३०॥ ८०। २०॥ ६०। १० इत्यादि भाग कल्पना कर लेना चाहिए। परमानंद पूर्णसुख एकरस है। कर्म करने से वह नहीं प्राप्त होता, क्रिया के अभाव में प्राप्त होता है। जिस कर्म में ५१ भाग दुःख है, उसकी वेद में किसी जगह स्तुति होगी, और ५२ भाग की अपेक्षा से किसी जगह उसकी निंदा होगी इसी प्रकार परमानंद की अपेक्षा से सब कर्मों की निंदा है। जो परमानंद को प्राप्त है, तो सत्त्वगुणी सुख उसके सामने तुच्छ है, और सत्त्वगुणी सुख के सामने रजोगुणी सुख तुच्छ है, रजोगुणी सुख के सामने तमोगुणी सुख तुच्छ है। मूर्ख वेदों के तात्पर्य को न समझकर, सिद्धांत की श्रुतियों का प्रमाण दे-देकर, मूर्तिमान परमेश्वर श्रीकृष्णचंद्र आदि और पाषाण आदि मूर्तियों की, और तीर्थ-व्रतों की निंदा करने लगते हैं। यह नहीं समझते कि यह उपदेश कैसे पुरुषों के लिये है। आप तो मल-मूत्र के पात्रों में आसक्त होकर नीचों के सामने बंदर की नाईं नाचते हैं, और पुत्र, स्त्री, मित्र आदि के साथ ममता करके उनके लिये दिन-रात तेली के बैल की नाईं घूमते हैं। वहाँ यह नहीं समझते कि इन अनित्य, दुःखदायी, दुर्गन्ध-रूप कुपात्रों के संबंध से मुझको क्या प्राप्त होगा। बहुत लोग तो ज्ञाननिष्ठा की श्रुति-स्मृतियों का अर्थ सीख-सीखकर कर्मों की निंदा करने लगते हैं, और बहुत लोग ज्ञाननिष्ठा के महत्त्व को न जानकर, अपनी मूर्खता से ज्ञाननिष्ठा, और ज्ञानियों से वैर बाँधकर दोनों की निन्दा करने लगते हैं। यह सब निन्दक पापात्मा वृथा पाप और दुःख के भागी होते हैं। उनसे अनजान

अच्छे हैं। सब मतवाले आपस में लड़ते झगड़ते हैं । जैसे हो सके दूसरे की निंदा करना, यही उनकी कर्मनिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा और भक्ति है। परमानंद का जाननेवाला विद्वान (परमानंन्द-देव का उपासक) जाने ही परमानंद को भोगता है। परमानंद-देव के उपासक का किसी से वैर नहीं, क्योंकि आनन्द का उपासक सबको जानता है। वास्तव में सबका इष्टदेव परमानन्द-देव है। कर्म, भक्ति, ज्ञान और ईश्वर आदि ये उसके साधन हैं । आनन्द का उपासक सब कर्मों में अपने इष्टदेव परमानन्द को ही देखता है । कोई कर्म ऐसा नहीं कि जिसमें कुछ आनन्द न हो। और जो कोई कर्म करता है, वह यही समझकर करता है कि इसमें आनन्द मिलेगा । यद्यपि कर्म में यथार्थ परमानन्द की प्राप्ति नहीं, परंतु जैसे मित्र के सदृश अन्य को देखकर, वा उसके एक अंग के सदृश देखकर, वा उसकी छाया देखकर, वा उसकी तसवीर को देखकर, वा उसके वस्त्र आदि को देखकर, या सुनकर उस वास्तव मित्र का स्मरण होता है, वैसे परमानन्द-देव का उपासक ही सब कर्मों में अपने इष्टदेव परमानन्द का ही स्मरण और ध्यान करता है। सब विषयी मतवालों से उसका सम्मत है। जो किसी मतवाला उससे पूछता है कि तुम किसके उपासक हो, तुम्हारा क्या मत है, तो परमानंन्द का उपासक यह उत्तर देता है कि जिसके तुम उपासक हो उसी का मैं हूँ। जो तुम्हारा मत और इष्टदेव है, वही मेरा मत और इष्टदेव है । फिर वे लोग अपना मत और इष्टदेव राम कृष्ण आदि को बताते हैं, तब परमानन्द का उपासक कहता है कि इष्ट फल होता है, साधन इष्ट नहीं है । जिस परमानन्द के लिये तुम भक्ति, कर्म और पूजा-पत्री करते हो, वह परमानन्द तुम्हारा इष्टदेव है। चर्चा करते-करते पीछे फल में सम्मत हो जाता है। ऐसा कौन मूर्ख है कि परमानन्द को फल और पूर्णब्रह्म परात्पर न कहे। इसी प्रकार बालक, विषयी और मूर्खों के साथ भी उसका सम्मत है, क्योंकि परमानन्द को सब चाहते हैं। परमानन्द सबका उपास्य है । इस जगह अपने स्वामी परमानन्द इष्टदेव का निरूपण और माहात्म्य संक्षेप में कहा है : आनंदामृतवर्षिणी में, और इस परमानन्दप्रकाशिका टीका में भी किसी-किसी जगह परमानन्द की प्राप्ति का साधन, और कहीं-कहीं साक्षात् परमानन्द का स्वरूप और माहात्म्य निरूपण किया है। पढ़ने-सुननेवालों को परमानंद की प्राप्ति हो। परमानन्दाय नमो नमः।

इति श्रीस्वामिआनंदगिरिविरचितायां श्रीभगवद्गीताभाषाटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

वेदान्त और योगसम्बन्धी पुस्तकें

अवतार-सिद्धि	=)
अष्टावक्र-गीता (सटीक)	१॥)
छप्पै रामगीता (सटीक)	)॥
प्रमोद-वन-विहार	≡)
भगवती-गीता (सं०टी०स०)	≈)
भक्तांबुनिधि गुन्दा	१॥≈)
माधवराम सुखसागर	॥)
युगल संवाद-बोध-प्रकाश	।)
विवेक-प्रकाश	।-)
ज्ञान-आभूषण	-)
ज्ञान-तरंग	।=)
अष्टावक्र-गीता (सं०टी०स०)	।)
आत्म-बोध (भा०टी०स०)	-)
आनन्दामृतवर्षिणी	॥।)
ईश्वर-दीपिका (सटीक उर्दू)	=)॥
जप-ग्रंथ (साधूसिंह-कृत)	≈)
तरुणा तर्कसंग्रहादर्श	-)॥
दोहावली (गो०तुलसीदास-कृत)	≈)
नृत्यराघव-मिलन	-)॥।
परापूजा (भा० टी० स०)	।)
पारसभाग (नवीन संस्करण)	४)
पंचदशी (भा०टी०स०)	३॥)
,, (सं०टी०स०)	१)
भक्तमाल (प्रतापसिंह)	२॥)
भक्तमाल सटीक (श्रीसीताराम-शरण भगवानप्रसादजी-कृत)	३॥।)
भक्ति-सागर (सजिल्द)	२॥)
भगवद्गीता पंचरत्न मूल	॥)
भगवद्गीता सटीक (मुंशी हरिवंशलाल-कृत)	।=)
भगवद्गीता सटीक गुटका (मुंशी हरिवंशलाल-कृत)	=)
भगवद्गीता सटीक (पं० गिरिजाप्रसादजी द्विवेदी-कृत)	॥।)
भगवद्गीता सटीक (पं० सूर्यदीनजी सुकुल-कृत सजिल्द)	१।)
तथा (अजिल्द)	१)
भगवद्गीता सटीक (बा० जालिमसिंह-कृत सजिल्द)	२॥)
भगवद्गीता भाषा (हरिवल्लभ-कृत)	।)
भागवत गुटका	।-)
भ्रम नाशक	=)
मुक्ति-मार्ग (सजिल्द)	१॥≈)
याज्ञवल्क्य मैत्रेयी-संवाद	।)
योगवाशिष्ठ (भाषा-वार्तिक)	६)
राम-गीता सटीक (पं० सूर्यदीनजी सुकुल-कृत)	-)॥।
राम-गीता सटीक (पं० गिरिजाप्रसादजी द्विवेदी-कृत)	=)
राम-हृदय	-)
विवेक-दिवाकर (भाषा-पद्य)	।)
विहार वृंदावन	१=)
वेदांत-सार-शिरोमणि	-)॥
वैराग्य-प्रदीप	।)
सांख्य-कारिका-तत्त्व-बोधिनी सटीक (बा० जालिमसिंह-कृत)	।=)
सिद्धान्त-प्रकाश	।=)॥
सुंदर-विलास	।)॥
हरिहर-सगुण-निर्गुण-पदावली	६)
ज्ञान-प्रकाश	।=)
ज्ञान-स्वरोदय	-)

पता:—

मैनेजर—बुकडिपो, नवलकिशोर प्रेस,
हज़रतगंज, लखनऊ.